ब्रह्मसूत्र में उद्धृत आचार्य और उनके मन्तव्यों का समालोचनात्मक अध्ययन

" BRAMHASUTRA MAIN UDDHRIT ACHARYA AUR UNKE MANTABYO KA SAMALOCHANATMAK ADHYAYAN "

इलाहाबाद की डी. फिल उपाधि हेतु प्रस्तुत
शोध-प्रबन्ध

पर्यवेक्षक
डा० रञ्जना
रीडर, संस्कृत विभाग,
इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

प्रस्तुतकर्ता
वन्दना देवी
एम० ए० (संस्कृत–दर्शन), यू० जी० सी०
इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

April-2003
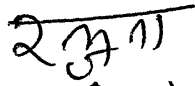
इलाहबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

प्रमाण-पत्र

प्रमाणित किया जाता है कि संस्कृत विषय में डी० फिल० की उपधि हेतु बन्दना देवी ने मेरे निर्देशन में "ब्रह्मसूत्र में उद्‌धृत आचार्य और उनके मन्तव्यों का समालोचनात्मक अध्ययन" विषयक शोध कार्य सम्पन्न किया है। इन्होंने पूरी निष्ठा एवं लगन के साथ यह शोध-प्रबन्ध विधिवत् पूर्ण किया है। इनका यह कार्य व्यक्तिगत अनुशीलन एवं परिश्रम पर आधारित है तथा पूर्णतया मौलिक है, इसे प्रस्तुत करने की संस्तुति करती हूँ।

Date: 25.4.03

रंजना

(डा० रंजना)
(डी० फिल० डी० लिट०)

संस्कृत विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय
इलाहाबाद

प्राक्कथनम्

यं ब्रह्म वेदान्तविदो वदन्ति परं प्रधानं पुरुषं तथान्ये।
विश्वादगतेः कारणमीश्वरं वा तस्मै नमो विघ्नविनाशाय।।

"प्रस्तुत शोध–प्रबन्ध का विषय ब्रह्म–सूत्र शाङ्कर भाष्य में उद्धृत आचार्य एवं उनके मन्तब्यों का समालोचनात्मक अध्ययन" है। भगवान बादरायण ने ब्रह्मसूत्र की रचना की और उस पर आचार्य शङ्कर ने कालजयी भाष्य लिखा। ब्रह्मसूत्र चतुःसूत्री अति संक्षिप्त होने के कारण साधारण जनों के लिए दुर्वोध थे। इस पर आचार्य शङ्कर ने विस्तृत भाष्य लिखकर साधारण जनों के लिए सुलभ बनाया है। यद्यपि शङ्कराचार्य के दर्शन पर प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से इतना लिखा जा चुका है कि उसके पूर्णज्ञान का दावा करना मुझ जैसे अल्पज्ञ के लिए अहं प्रदर्शित करना होगा, तथापि ब्रह्मसूत्र शांङ्कर भाष्य में उदधृत शङ्कर पूर्ववर्ती आचार्यों और उत्तरवर्ती अचार्यों के मन्तब्यों का अध्ययन करने का पूर्ण प्रयास करना हमारा लक्ष्य है। आचार्य शङ्कर का जन्म ऐसी विषम परिस्थितयों के मध्य हुआ था जब कि समाज में पाखण्ड, वाह्याडम्बर ,जादू टोना जैसी अनेक कुरीतियां प्रचलित हो चुकी थी। आचार्य शङ्कर ने सम्पूर्ण देशो में भ्रमण करके इन समस्त विसंगतियो को दूर करने का वीड़ा उठाया तथा आस्था, विश्वास, श्रुतियां एवं तर्को की सुदृढ़ भूमि पर हिन्दू धर्म (वेदान्त) को प्रतिष्ठित किया। शङ्कराचार्य के दर्शन मे सर्वोच्च जीवन आदर्श प्रस्तुत किया गया है। वह निर्विवाद रूप से सर्वोच्च संभव आदर्श है ।

ब्रह्मसूत्र 'शाङ्कर–भाष्य' की सर्वाधिक महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि जिसके कारण अन्य दर्शनो के समर्थकों द्वारा लगाये गये अनेक आक्षेपों के बाचजूद यह

अडिग बना रहा। इसका कारण यह है कि आधार दृढ़ एवं निर्दोष ज्ञान भी मीमांसा पर टिका हुआ है। इसकी ज्ञान मीमांसा का मूल यह है कि आत्म–तत्त्व चेतन–स्वरूप है और इसके प्रमाण की भी कोई आवश्यकता नहीं है, क्योंकि वह स्वयंसिद्ध एवं स्वप्रकाश स्वरूप है। शङ्कराचार्य के इन असंदिग्ध तर्को एवं विचारो के समक्ष समस्त दार्शनिक स्वयमेव नतमस्तक हो जाते है। यही कारण है कि शङ्कर का दर्शन दर्शनो का शिरोमणि कहा जाता है। उनके विषय मे यह कथन सर्व प्रसिद्ध है–

"तावद् गर्जन्ति शास्त्राणि जम्बुकाः विपिने यथा ।
न गर्जन्ति महाशक्तिर्यावद् वेदान्त केसरी" ।।

प्रस्तुत शोध–प्रबन्ध में कुल छः अध्याय है। प्रथम अध्याय में दर्शन का सामान्य परिचय प्रस्तुत किया गया है जिसके अर्न्तगत दर्शन की परिभाषा, उत्पत्ति, जीवन और दर्शन, दर्शन एवं धर्म, विषय, प्रयोजन, कालविभाजन, भारतीय दर्शन की विशेषताए तथा भारतीय दर्शन की मुख्य विधाओं का वर्णन किया गया है। 'दर्शन' का परिचय जाने बिना शाङ्कर वेदान्त को जानना अति दुरूह है। दर्शन आत्म साक्षात्कार का परम साधन है। द्वितीय–अध्याय में "श्रौत्र दर्शन एवं गीता" का वर्णन किया गया है। इसका वर्णन करने के पीछे मुख्य उददेश्य यह है कि वैदिक संहिताओं और आरण्यकों, उपनिषदों तथा गीता के अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है कि उसमें दार्शनिक तत्त्व प्रर्याप्त मात्रा में मौजूद थे। तृतीय अध्याय शंकर पूर्व वेदान्त है। यह विषय समग्रता कि दृष्टि से तीन खण्डों में विभक्त है। **खण्ड–(क)** में योग वाशिष्ठ का वर्णन है जिसमें यह दिखलाने का प्रयास किया है। कि शङ्कर का अद्वैत वेदान्त शंकर से पूर्व योग वाशिष्ठ में भी विद्यमान था। **खण्ड–(ख)** में शंकर पूर्ववर्ती अद्वैत वेदान्त के प्रर्वतक आचार्य और उनका अव्यवस्थित इतिहास

वर्णित है। शङ्कर प्राग षोडश वेदान्ताचार्य तथा उनके सिद्धान्त का वर्णन किया गया है। इनमे सात आर्ष वेदान्ताचार्य आत्रेय आष्मरथ्य, औडुलोमि, कर्णाजिनि, काशकृत्स्न, जैमिनि, वादरायण जिनका अद्वैतवाद का सिद्धान्त यत्र–तत्र अव्यवस्थित रूप से वर्णित मिलता है। **खण्ड–(ग)** में शंकराचार्य के प्राग वेदान्ती आचार्य और अद्वैतवाद का व्यवस्थित इतिहास का वर्णन किया गया है। इसमें किसी का सिद्धान्त युक्ति–युक्त नहीं प्रतीत होता है, <u>और यहां तक भी नही किसी किसी का सिद्धान्त श्रुति सम्मत और तर्क सम्मत भी प्रतीत नही होता है।</u> चतुर्थ–अध्याय मे शङ्कराचार्य का संक्षिप्त जीवन परिचय तथा उनके पूर्व भारत की स्थिति आचार्य शङ्कर का व्यक्तित्व और उनकी कृतिया मंडन मिश्र और शङ्कर शास्त्रार्थ, शङ्कर की भारतीय का शास्त्रार्थ ,आदि का तथा अन्त में शङ्कर सिद्धान्त ब्रह्म–विचार, जीव–विचार, अविद्या, माया, मोक्ष आदि का वर्णन किया गया है। अध्याय–पाँच मे शङ्कराचार्य के उत्तरवर्ती आचार्य और उनको सिद्धान्त यथा– सुरेश्वरचार्य, पद्मपाद, वाचस्पति मिश्र, सर्वज्ञात्ममुनि, प्रकाशात्मायति, चितसुखाचार्य, अमलानन्द, ब्रह्मानन्द सरस्वती, श्रीहर्ष आदि आचार्यो का वर्णन तथा उनके सिद्धान्तो का भी संक्षिप्त परिचय दिया गया है। षष्ठम अध्याय में मुख्य सिद्धान्तों भामती प्रस्थान, विवरण प्रस्थान, कार्तिक प्रस्थान और वाध प्रस्थान के सिद्धान्तों का तुलनात्मक वर्णन किया गया है। <u>और अन्त मे उपसंहार का वर्णन किया गया है</u>। ग्रन्थ के अनुशीलन से ज्ञात होता है कि आचार्य शङ्कर के आविर्भाव से पूर्व अद्वैत वेदान्त का बीज रूप वेदों, उपनिषदों, ब्राह्मण आरण्यकों, आदि में भी प्राप्त था। और शङ्कर से पूर्व योग वाशिष्ठ तथा अन्य प्राग् अद्वैत वेदान्ती आचार्यो का मत अद्वैत वेदान्त से सम्बद्ध था, किन्तु अद्वैतवाद का जो बीज पूर्व रूप से विद्यमान था उसको उचित वातावरण में विकसित करने का प्रयास अचार्य शंकर ने किया। अद्वैत वेदान्त मानव चरित्र को नैतिकता की

जानकारी देते है।– 'सर्व खलु इदं ब्रह्म' 'अहं ब्रह्मास्मि', 'तत्त्वमसि, 'श्वेतकेतो' आदि महावाक्यों से सभी जीवो में समानता प्रदर्शित की गयी है। आधुनिक युग में भी अद्वैत वेदान्त का महत्व अधिक है ।

अनुसंधान करते समय अनुसन्धात्री की मौलिक प्रवृत्ति का प्राधान्य रहे, ऐसा ध्यान दिया गया है। विषय–वस्तु की विलक्षणता तथा विशदता की दृष्टि से 'ब्रह्मसूत्र शांकर भाष्य' का अपना विशिष्ट महत्व है। उनकी इसी विशेषता के कारण संस्कृत दशर्न–वर्ग की छात्रा के रूप में संस्कृत–विभाग इलाहावाद विश्वविद्यालय, परास्नातक परीक्षा उत्तीर्ण करने पर मेरे मन में शांङकर दर्शन से सम्बद्ध शोध कार्य सम्पन करने की प्रबल इच्छा समुदभूत हुई, और संस्कृत विभाग के तदानीन्तन अध्यक्ष **प्रो० हरिशंकर त्रिपाठी** (भूतपूर्व विभागाध्यक्ष) की महती अनुकम्पा से मुझे **'ब्रह्मसूत्र में उद्धृत आचार्यो के मन्तव्यों का समालोचनात्मक अध्ययन'** बिषय पर शोध करने का सुअवसर प्राप्त हुआ। शोध बिषय को दृष्टि में रखकर प्रबन्ध–शोध ग्रन्थ का संक्षिप्तीकरण सरल कार्य नहीं था तथा साथ ही उचित भी नहीं था। अतएव मैने 'ब्रहमसूत्र शाङ्करभाष्य' को आधार मानकर पूर्ववर्ती और उत्तरवर्ती आचार्यों का विवेचन कर रहा हूॅं। इस प्रसंग में मै सुधी परीक्षकों से क्षमा–प्रार्थी हूॅं।

अनुसंधान क्षेत्र में जिन गुरुजनों ने अपना योगदान दिया उनके प्रति आभार प्रकट करना मैं अपना परम कतर्व्य समझती हूॅं। शोध कार्य में प्रवृत्त होने पर मैं अपनी श्रद्धेया पूजनीया निर्देशिका **डा० रंजना** (वरिष्ठ रीडर संस्कृत विभाग, इलाहाबाद विश्व विद्यालय इलाहबाद) के प्रति श्रद्धावनत् हूँ, जिनसे मुझे पग–पग पर निर्देशन, अपेक्षित सहायता एवं प्रेरणा मिली। इसके अतिरिक्त विभाग के सभी गुरुजनों से प्राप्त उत्साहवर्धन एवं आशीष हेतु कृतज्ञ हूॅं। इस लोक में मातृऋण एवं

पितृऋण से कोई भी मुक्त नही हो सका तो मै (अल्पज्ञ) इससे किस प्रकार मुक्त होने के विषय में सोच सकती हूँ। क्योकि जिस स्वर्गादपिगरीयसी, ममतामयी माँ श्रीमती **शं[illegible] शुक्ला** तथा जिस महान पूजनीय पितृचरण **श्री मुसाफिर शुक्ल** (खण्ड़ विकास अधिकारी, अवकाश प्राप्त) के स्नेहासिक्त वात्सल्य में मेंरा पालन पोषण हुआ, तथा जिन्होने मेरे अध्ययन के प्रति सदैव महत्वपूर्ण प्रेरणाएँ दी, उनके प्रति कृतज्ञता तथा आभार प्रदर्शित करना उनके गरिमा मण्डित स्थान की उपेक्षा मात्र प्रतीत होती है। इसी सन्दर्भ में सर्व प्रथम मै अपने परमं प्रिय सम्माननीय मित्र अनुकरणीय **राजेश पान्डेय** (जो दुर्भाग्यवश अब हमारे बीच नहीं हैं) के प्रति आजीवन ऋणी हूँ। जिनके प्रेरणास्पद विचारों से ही मुझे शोध प्रबन्ध, अल्प समय में पूर्ण करने में सहायता मिली। उन्हे मै विशेष रूप से नमन करती हूँ। जिनका कि मेरे बाल्य–काल से अध्ययनावधि पर्यन्त अतुलनीय सहयोग एवं उत्साहवर्धन प्राप्त होता रहा। पाण्डेय के प्रति शब्दो में कृतज्ञता ज्ञापित करना मेरे लिए असम्भव है, मात्र औपचारिकता निभाना प्रतीत होता है ।

शोघ–क्षेत्र में, अपने समस्त सहोदर अग्रजो में परम पूज्य सर्व श्री **इन्द्रदेव शुक्ल** (आई० पी० एस०, पुलिस अधीक्षक गोवा), **श्री प्रमोद कुमार शुक्ल** (पी० सी० एस०, उप जिलाधिकारी नरसिंहपुर, मध्य–प्रदेश), **श्री सियारा[illegible] शुक्ल** (अधिवक्ता, उच्च न्यायालय, इलाहाबाद) के प्रति कृतज्ञता एवं आभार व्यक्त करती हूँ, जिनके परम–त्याग, अमूल्य सहयोग भातृत्व एवं प्रेरणास्पद तथा मार्ग दर्शक विचारों ने मेरे जीवन को सवारने में कोई कसर नही छोड़ी। अपने अन्य भाईयों में **श्री जगदम्बा शुक्ल, डा० आर० पी० शुक्ल** (एम० डी० लखनऊ) **राकेश शुक्ल** के प्रति तथा बड़ी–बहन **शशि तिवारी** एवं जीजा **डा० सी० एल० तिवारी**, (सहायक सांख्यकीय अधिकारी मऊ), भाभी **टी० के० शुक्ला**, **डा० अनुपम मिश्रा** (asst. prof. psy.

अन्य सदस्यो के प्रति भी आभार एवं कृतज्ञता ज्ञापित करती हूँ, जिनके अप्रतिम सहयोग एवं आशीर्वाद से मेरा शोध–प्रबन्ध निर्वाध रूप से पूर्ण हो सका। मेरे अभिन्न मित्रो में **ज्योति स्वरूप शुक्ल, अर्चना द्विवेदी** तथा **किरन चतुर्वेदी** का मुख्य रूप से सहयोग रहा है। **प्रो० श्री सुधांशु शेखर शास्त्री** (विभागाध्यक्ष, दर्शन–प्रखण्ड, विश्व विद्यालय, वाराणसी) के प्रति मै अपना आभार प्रकट करती हूँ। जो अनुसंधात्री को सदा प्रोत्साहन एवं सत्य प्रेरणाएँ देते रहे।

श्री गंगा नाथ झा, केन्द्रीय सस्कृत विद्यालय, इलाहाबाद, के **डा० रामानन्द थपलियाल** के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करती हूँ जिन्होने अपना अमूल्य सहयोग दिया। **विश्व विद्यालय इलाहाबाद** के पुस्तकालय के प्रति **हिन्दू विश्व विद्यालय संस्कृत कालेज, वाराणसी** के प्रति तथा **राम कृष्ण मिशन पुस्तकालय** के प्रति भी अपना आभार प्रकट करती हूँ।

प्रत्यक्ष एवं परोक्ष रूप से शोध–प्रबन्ध प्रस्तुत करने में जिन विद्वानों का सहयोग रहा उनके प्रति भी मैं अपना अभार प्रदर्शित करती हूँ।

टंकण कार्य सम्पन्न करने में **श्री गुलाब मिश्रा** के प्रति धन्यवाद ज्ञापित करती हूँ, जिन्होने अपना अमूल्य सहयोग देकर शोध–प्रबन्ध को पूर्णता प्रदान किया ।

प्रस्तुत शोध–प्रबन्ध के शीर्षक की व्यापकता एवं गम्भीरता को देखते हुये मेरा यह प्रयास अत्यल्प एवं अत्यन्त न्यून प्रतीत होता है, तथापि मेरी इस शाश्वत् समार्चना से दर्शन जगत को कुछ भी परितोष मिलता है तो इसे मै अपने जीवन की सबसे बड़ी सफलता मानूँगी। इसमे जो कुछ भी बन पड़ा वह प्रभु की असीम कृपा का ही प्रसाद है तथा जो कमियाँ हैं उन्हे मेरी बालिकोचित बुद्धि का फल मानकर विद्वत् समुदाय से प्रार्थिनी क्षमा प्रार्थी रहेगीं ।

उन सभी विद्धानो की भी विशेष रूप से आभारी हूँ जिनकी रचनाओ और कृतियो का उन्मुक्त उपयोग किया।

दिनांक :

स्थान :

विनयानवत
वन्दना देवी
वन्दना देवी

संस्कृत विभाग

इलाहाबाद विश्वविद्यालय इलाहाबाद

अध्याय– २

प्रथम—अध्याय

दर्शन

सामान्य परिचय

मनुष्य स्वभावतः एक चिन्तनशील प्राणी है। दार्शनिक विधा से चिन्तन, मनन करना मानव मात्र की मूल प्रवृत्ति है। प्रायः हम देखते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति का अपना कोई जीवन मूल्य या दर्शन अवश्यमेव होता है।

'दर्शन' अपनें विभिन्न प्रकार के अनुभवों के स्पष्टीकरण का एक प्रयास है और जब यह स्पष्टीकरण दिक्कालातीत स्वरूप का हो जाता है; तब वह 'दर्शन' कहलाने योग्य हो जाता है।

दर्शन शास्त्र के ज्ञान से मनुष्य के ज्ञान का परिष्कार होता है, विचारधारा में सुदृढ़ता आती है और व्यवहार में क्रांति का अवसर नहीं आने पाता है। इस तरह से भारतीय दर्शन जीवन का आधार बनने के साथ–साथ ज्ञान विज्ञान के विस्तार में यह एक अद्‌भुत सहायक की भूमिका का निर्वाह करता है। बुद्धिमान् प्राणी होने के कारण मनुष्य जिज्ञासु प्रवृत्ति का होता है अतएव सृष्टि की नानाविध विचित्र वस्तुओं को देखकर बौद्धिक मानव ज्ञात करने के लिए सदैव उत्सुक तथा प्रयत्नशील रहा है।

विश्व के प्राचीनतम वाङ्मय ऋग्वेद के नासदीय सूक्त के प्रणयन काल से ही मनुष्य की प्रवृत्ति के उद्‌भूत होने के प्रमाण मिलते हैं। नासदीय सूक्त का द्रष्टा ऋषि कहता है "को अद्धा वेद क इह प्रवोचत्। कुत अजाता कुत इयं विसृष्टिः[1]" श्वेताश्वतर उपनिषद् के १/१ में भी कुछ इसी प्रकार का वर्णन मिलता है जो जगत्कारण की मीमांसा से संबंधित मौलिक प्रश्नों की व्याख्या करता है–

किं कारणं ब्रह्म कुतः स्म जाता जीवाय केन क्व च संप्रतिष्ठाः।
अधिष्ठिताः केन सुखेतरेषु वर्तामहे ब्रह्मविदो व्यवस्थाम्।।

(श्वेता० ६/६)

---

[1] वेदान्तसार –सदानन्द योगीन्द्र।

दर्शन शब्द की व्युत्पत्ति दृश् 'धातु' 'ल्युट्' प्रत्यय से निष्पन्न है। (दृश्+ल्युट् अन्) जिसका अर्थ है 'देखना' 'दृश्यते इति दर्शनम्'। इस व्युत्पत्ति के अनुसार जो देखा या जाना जाय वह दर्शन है। अब प्रश्न उठता है कि हम कौन हैं, कहाँ से आये हैं। इस सर्वतो दृश्यामान् जगत् का वास्तविक स्वरूप क्या है? इसकी उत्पत्ति किस प्रकार से हुई? इसकी सृष्टि का कौन कारण है? यह सप्रयोजन है या निष्प्रयोजन, यह चेतन है या अचेतन? ईश्वर क्या है? ईश्वर का स्वरूप क्या है? तथा ईश्वर का अस्तित्व स्वीकार करने में प्रमाण क्या है? जीवन का परम उद्देश्य क्या है? सत्ता का स्वरूप क्या है? ज्ञान का साधन क्या है? ज्ञान की प्रामाणिकता और सीमा क्या है शुभ और अशुभ क्या है? इस लौकिक जगत में हमारे लिये कौन से कार्य कर्तव्य है? जीवन को सुचारु रूप से व्यतीत करने के लिये कौन सा सुन्दर साधन मार्ग है? आदि प्रश्नों का समुचित उत्तर देना दर्शन का प्रधान ध्येय है। इस प्रकार संक्षेंप मे कह सकते हैं कि भारतीय दर्शन दो प्रमुख विषयों से सम्बन्धित है–

(१) आध्यात्म विद्या या मोक्ष शास्त्र से तथा

(२) ज्ञानमीमांसा अथवा प्रमाण–शास्त्र से हैं।

इस प्रकार दर्शन उपर्युक्त सभी प्रश्नों का तर्कतः युक्तिपूर्वक उत्तर देने का प्रयास है। जिसमे भावना या विश्वास प्रधान न होकर बुद्धि ही मुख्य होती है।

दर्शन को शास्त्र संज्ञा से भी अभिहित किया जाता है। किन्तु मुख्य प्रश्न उठता है कि, शास्त्र क्या है? 'शास्त्र' शब्द की व्युत्पत्ति आगम ग्रन्थों में इस प्रकार बतलाई गई है।

"शासनात् शंसनात् शास्त्रं शास्त्रमित्याभिधीयते।
शासनं द्विविधं प्रोक्तं शास्त्रलक्षणवेदिभिः।।
शंसनं भूतवस्त्वेकविषयं न क्रियापरम् ।।"

आचार्य बलदेव उपाध्याय के अनुसार–शास्त्र की व्युत्पत्ति दो धातुओं से हुई है–

१–शास् = आज्ञा करना तथा **२–शंस** = प्रकट करना या वर्णन करना शासन करने वाले शास्त्र विधि रूप तथा निषेध रूप होने से दो प्रकार के होते है श्रुति तथा स्मृति प्रतिपादित कार्य अनुष्ठान करने योग्य है (विधि) तथा निन्दित कर्मकलाप सर्वथा हेय हैं (निषेध)। अतः शासन अर्थ में शास्त्र शब्द का प्रयोग धर्मशास्त्र के लिये उपर्युक्त प्रतीत होता है। शंसक शास्त्र अर्थावबोधक शास्त्र वह है जिसके द्वारा वस्तु के सच्चे स्वरूप का वर्णन किया जाय। शासन शास्त्र क्रिया परक होता है। पर शंसक शास्त्र ज्ञान परक होता है शंसक शास्त्र के अर्थ में ही शास्त्र का प्रयोग दर्शन शब्द के साथ होता है। धर्मशास्त्र कर्तव्याकर्तव्य का प्रधानतया विधान करने में 'पुरुष परतंत्र' है। दर्शन–शास्त्र वस्तु के स्वरूप का प्रतिपादक होंने से वस्तुतंत्र है।

इस प्रकार दूसरे शब्दों में दर्शन शब्द का अर्थ ही है "साक्षात् देखना अर्थात् परमतत्त्व का साक्षात्कार या अपरोक्षानुभव"। दर्शन शब्द के अर्न्तगत ही साक्षात्कार के साधनों का जैसे श्रुति और तर्क का भी समावेश हो गया है। "दर्शन साक्षात्करणम् अपि च दृश्यते अनेन इति दर्शनम्" ज्ञान प्राप्त करने के भिन्न–भिन्न साधन हो सकते हैं, किन्तु सबसे निश्चित और विश्वसनीय उपाय है "प्रत्यक्ष", प्रत्यक्ष दो शब्दों से बना है **प्रति+अक्ष** अर्थात् ऑख से देखना। इन्द्रियों के भेद से प्रत्यक्ष के भी पांच भेद है जिनमें चक्षुरूप इन्द्रिय के द्वारा जो ज्ञान प्राप्त होता है वही ज्ञान सबसे ज्यादा बढकर प्रामाणिक माना जाता है। इसलिये जहां ज्ञान की प्रामाणिकता और दृढता के सम्बन्ध पर विशेष बल देना होता है, वहां दर्शन शब्द का ही प्रयोग सर्वथा उचित है, और जिसके द्वारा देखा जाय अर्थात् जो आंख से देखा जाय यही उसका साक्षात् अर्थ करना उचित है। देखना क्रिया चक्षु के द्वारा ही संभव है अन्य इन्द्रियों से नहीं। कुछ विद्वानों के विचार में प्राकृतिक, बौद्धिक या आध्यात्मिक जगत के बहुत से तत्त्व अत्यन्त सूक्ष्म हैं जिनको चक्षु के द्वारा देखा जाना संभव नहीं होता है। इसलिए दर्शन शब्द का ज्ञान प्राप्त किया जाना यही अर्थ करना उचित है। प्रतिपक्षी का यह विचार भी कुछ अंश में

तो सत्य है किन्तु यह भी सत्य है कि स्थूल और सूक्ष्म दोनो प्रकार के पदार्थ दर्शन शास्त्र के विषय हैं और परम तत्त्व की प्राप्ति के लिये दोनो का साक्षात्कार आवश्यक हैं। इसलिये चार्वाक, न्याय वैशेषिक आदि स्थूल दृष्टि वाले दर्शनो में स्थूल पदार्थों के तथा सांख्य, योग, वेदान्त आदि सूक्ष्म दृष्टि वाले दर्शनों में सूक्ष्म पदार्थ को देखने के लिये जो उपाय बताये गये हैं उसे 'प्रज्ञाचक्षु' 'ज्ञानचक्षु' आदि नामों से सम्बोधित किया जाता है। इस प्रकार दर्शन में दोनों प्रकार के चक्षुओं की आवश्यकता होती है। सूक्ष्म पदार्थो को देखने के लिये सूक्ष्म नेत्रों की तथा स्थूल वस्तुओं को देखने के लिये स्थूल नेत्रों की। यही कारण है कि उपनिषदो मे 'दृश्' धातु का ही प्रयोग किया है और यही भाव भारतीय दर्शन के 'दर्शन' शब्द में भी है। चाक्षुष प्रत्यक्ष के अभाव में किसी भी विषय का निश्चय रूप से ज्ञान संभव नहीं है।

इस प्रकार दार्शनिकों ने दर्शन शब्द का असाधारण या विशिष्ट अर्थ ही स्वीकार किया है। दर्शन दृश्यावलोकन नहीं है, अपितु तत्त्वावलोकन है, इसलिये इसे तत्त्वदर्शन भी कहते हैं। परम तत्त्व और चरमसत्य मे अभेद रखने वाला ही दार्शनिक है।

डा० वी० एन० सिंह–डा० आशा सिंह ने भारतीय दर्शन नामक अपनी पुस्तक में लिखा है कि दर्शक केवल दो आँखों (चक्षुओं) से देखता है। दार्शनिक को तृतीय नेत्र (दिव्यदृष्टि) होती है। जिससे वह तत्वबोध या सत्योपलब्धि करता है। तीसरा नेत्र तो दिव्यचक्षु है जिससे अनन्त और अपार का बोध होता है। साधारण आँखों से मनुष्य असीम और शान्त वस्तुओं को देखता है, परन्तु असीम और अनन्त के रहस्योद्घाटन के लिये असाधारण (अलौकिक) आन्तरिक (दिव्य) दृष्टि की आवश्यकता है।

सत्य की प्राप्ति में एक मात्र सहायक की भूमिका आन्तरिक दृष्टि ही होती है। क्योंकि संसार में सत्य असत्य से आवृत्त या ढंका है। इस आवरण को अनावृत करना ही आन्तरिक दृष्टि (दर्शन) का कार्य है। वेद के एक मंत्र में सत्य के अनावृत होने की क्रिया को एक रूपक द्वारा स्पष्ट किया गया है–

"हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।

पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये।।"[1]

अर्थात सूर्यमण्डल में सत्य (तत्त्व ब्रह्म) का मुख प्रकाशमय पात्र से ढका है। हे पूषन्! मुख्य सत्याधर्मी को आत्मा की उपलब्धि के लिये तू उसे उघाड़ दे अर्थात पात्र को सामने से हटा (जिससे मुझे सत्य तत्त्व का साक्षात्कार हो सके)।

ईशोपनिद् के उपर्युक्त मंत्र से स्पष्ट होता है कि सत्य को अनावृत कर तत्त्व का साक्षात्कार करना ही दर्शन है। चर्मचक्षुओं से सत्य का साक्षात्कार न होकर आन्तरिक चक्षुओं से होता है।

गीता में दिव्यचक्षु का वर्णन मिलता है। शोक सागर में निमग्न और मोहान्ध अर्जुन को श्रीकृष्ण स्वजन सखा सहायक और संरक्षक दिखलायी पड़ते थे। ग्यारहवें अध्याय में भगवान कृष्ण ने उन्हे दिव्य दृष्टि प्रदान की—

"दिव्य ददामि ते चक्षुः पश्य में योगमैश्वरम्।"[2]

दिव्य दृष्टि प्राप्त होने के बाद अर्जुन को अब श्रीकृष्ण सगा सम्बन्धी ही नहीं परम पुरुष, पुराण पुरुष, परमात्मा, परमपिता, देव, देवाधिदेव, महादेव, सम्पूर्ण सृष्टि के कर्त्ता, धर्ता और संहर्ता सबकी गति, स्थिति और विनाश के कारण दिखालायी देने लगे। अब अर्जुन सभी भूतो में भगवान् (कृष्ण) और भगवान् (कृष्ण) में सभी भूतों को देखने लगे। यह दिव्यदर्शन का ही फल है।

"पश्यामि देवास्तव देव देहे सर्वास्तया भूत विशेष संधान्।

ब्रह्माणभीशंकमलासनस्थ मृषींश्च सर्वानु रंगाश्च दिव्यान्।।" गीता ११/१

भारतीय दर्शन का आरम्भ या उत्पत्ति

बहुधा दार्शनिकों के मतानुसार भारतीय दर्शन की उत्पत्ति का प्रबल कारण आध्यात्मिक असंतोष है। चार्वाक दर्शन को केवल छोड़कर सभी भारतीय दार्शनिक

---

[1] ईशोपनिषद् मंत्र १५

[2] गीता ११/८

संसार को असार संसारिक सुख को क्षणिक और अनित्य मानते हैं। सारा जीवन दुःख से पूर्ण है ('दुःखमेवसर्वविवेकिनः'– योग सूत्र) इस प्रकार दुःखों से मुक्ति पाना ही मानव का कर्तव्य है। महात्माबुद्ध के चार आर्य सत्य मे प्रथम आर्यसत्य ही दुःख है। भगवान बुद्ध ने उपदेश देते हुये कहा है भिक्षुओं चिरकाल तक माता के मरने का दुःख सहा है, सम्पत्ति के विनाश का दुख सहा है। उन माता के मरने का दुःख सहने वालों ने संसार में बार–बार जन्म लेकर प्रिय के वियोग और अप्रिय के संयोग के कारण रो–पीटकर आँसू बहाए हैं। इस प्रकार भिक्षाओं दीर्घकाल तक दुःख का अनुभव किया है। बड़ी–बड़ी हानियाँ सही है। पूमसान भूमि को पाट दिया है। अब तो सभी संस्कारों से निर्वेद प्राप्त करो, वैराग्य प्राप्त करो, मुक्ति प्राप्त करो।

भारतीय दर्शन के इस शोक, दुःखमय दृष्टि को देखकर ही पाश्चात्य दार्शनिक इस पर निराशावादी होने का आरोप लगाते हैं, किन्तु यह आरोप उचित नहीं है, निराशावाद भारतीय दर्शन का केवल प्रारम्भिक स्वरूप है, अन्तिम स्वरूप नहीं। किन्तु यह भी विचारणीय है कि भारतीय दार्शनिक दुःखों को देखकर (बताकर) मौन नहीं हो जाते हैं बल्कि उसको दूर करने का उपाय भी बताते हैं।

भगवान बुद्ध के चार आर्य सत्यों में जहाँ पहला आर्य सत्य यह कहता है कि "**दुख है**" वहीं दूसरा दुःख का कारण, तीसरा दुःख का निरोध और चतुर्थ दुःख निरोध का मार्ग है

इस प्रकार बुद्ध ने कहा है कि भिक्षुओं चार आर्य सत्यों को भली–भाँति जानने के कारण दीर्घकाल से मेरा और तुम्हारा संसार में चक्कर काटना और दौड़ना जारी रहा है। अविद्या में पड़कर जन्म–मरण के चक्कर में सभी लोग फंसे रहते हैं। दुःखों का अन्त ही निर्वाण है और मोक्ष सभी प्रकार के क्लेशों का अन्त है।

सारांशतः स्पष्ट है कि भारतीय दार्शनिक जीवन को आध्यात्मिक, अधिभौतिक अधिदैविक दुःखों से परिपूर्ण मानकर ही दर्शन में प्रवृत्त होता है और दुःख निवृत्ति का मार्ग भी खोज निकालता है–

"दुःख त्रयाभिघाताज्जिज्ञासा तदघातके द्वेतौ " (सं० का० द्ध)

इस प्रकार भारत–वर्ष में दर्शन का अनुशीलन बड़ी गंभीरता एवं सजगता से किया गया है।

मनुष्य इस सृष्टि का सर्वश्रेष्ठ प्राणी है और उसकी श्रेष्ठता का आधार है उसकी बौद्धिक क्षमता "बुद्धिर्यस्य बलं तस्य" अर्थात् जिसके पास बुद्धि है उसी के पास बल है। इस सत्य तथ्य के अनुसार सभी प्राणियों से अधिक बुद्धिमान होने के कारण वह सबसे बलवान भी होता है और बुद्धिबल के कारण वह सम्पूर्ण जगत का शासक बनने की इच्छा करता है। तथा इसी आंकाक्षा से इसकी सारी गतिविधियाँ परिचालित होती हैं। "जानाति, इच्छाति, यतते" या ज्ञान से इच्छा और इच्छा से प्रयत्न। इस प्रकार मनुष्य के सम्पूर्ण प्रवृत्ति चक्र का मूल है। उसके अपने आपके अस्तित्व की धारणा। क्योंकि सभी मनुष्यों की यह स्वाभाविक धारणा है कि उसका अपना एक अस्तित्व होता है। और शेष सारा संसार उसी के लिये है।

प्रत्येक मनुष्य का यह स्वभाव है कि वह अपने आत्म–तुष्टि के लिये ही कुछ करता है तो सर्वप्रथम आवश्यक है कि हम क्या है? हमारी अथवा मनुष्य मात्र की वास्तविकता क्या है? मनुष्य क्या है? उसे कोई वस्तु क्यों चाहिये? हम क्या हैं? हमारे लिये क्या अपेक्षणीय है? इस प्रकार के उपर्युक्त विचार से ही हमारे देश मे दार्शनिक चिन्तन का आरम्भ हुआ और यह चिन्तन ही हमारे देश की लोकशिक्षा, सामाजिक संचरना और शासनिक व्यवस्था का आधार बना।

डा० राधाकृष्णन ने लिखा है– "प्राचीन भारत में दर्शन का विषय किसी अन्य विषय अथवा कला के साथ जुड़ा हुआ न होकर सदा ही अपने आप में एक प्रमुख और

स्वतंत्र स्थान रखता था। किन्तु पश्चिमी देशों मे अपने विकास के पूर्ण यौवन काल मे भी, जैसे प्लेटो और अरस्तू के समय में इसे राजनीति अथवा नीति शास्त्र जैसे किसी अन्य विषय का सहारा लेना पड़ा। मध्यकाल में इसे 'परमार्थ विद्या' के नाम से जाना जाता था, 'वेकन और न्युटन' के लिये यह प्राकृतिक विज्ञान था और उन्नीसवीं शताब्दी के विचारकों के लिये इसका गठबन्धन इतिहास राजनिति एवं समाज–शास्त्र के साथ रहा ।

भारत में दर्शन–शास्त्र आत्मनिर्भर और स्वतंत्र रहा है तथा अन्य सभी विषय प्रेरणा और समर्थन के लिये इसका आश्रय ढूढते हैं। भारत में यह प्रमुख विज्ञान है जो अन्य विज्ञानो के लिये मार्ग दर्शक है। क्योंकि बिना तर्क–ज्ञान के आश्रय के वे सब खोखले और मूर्खतापूर्ण समझे जाते है। मुण्डकोपनिषद् में 'ब्रह्मविद्या' (नित्यविषयक ज्ञान) को अन्य सब विज्ञानों का आधार, सर्वविद्या प्रतिष्ठा कहा गया है। **कौटिल्य** का कथन है "दर्शनशास्त्र (आन्वीक्षिकी दर्शन) अन्य सब विषयों के लिये प्रदीप का कार्य करता है। यह समस्त कार्यो का साधन और समस्त कर्त्तव्यकर्मो का मार्गदर्शक है।"[1]

ऐतिहासिक परम्परा में यदि हम जैन–बौद्ध काल की प्रणालियों का अवलोकन करें तो पाते हैं कि उस समय दार्शनिक चिन्तन के क्षेत्र में प्रगति हो रही थी। और यह किसी प्रबल आक्रमण के कारण ही संभव होती है। बौद्ध तथा जैन धर्मो के विप्लव ने भारतीय विचारधारा के क्षेत्र में एक विशेष ऐतिहासिक युग का निर्माण किया है क्योंकि उस समय ब्राह्मण धर्म आदि की कट्टरता से जो अव्यस्था उत्पन्न हो गयी थी इस कुव्यवस्था को दूर कर एक समालोचनात्मक दृष्टिकोंण विकसित किया। महान बौद्धविचारको के लिये तर्क ही एक ऐसा साधन था जो समाज मे व्याप्त कुरीतियों को दूर कर सकता था। इस तरह से बौद्ध धर्म ने मस्तिष्क को प्राचीन व्यवधानो के पीड़ादायी प्रभावों से मुक्त करने मे विरेचन का काम किया।

[1] डा० राधाकृष्णन–भारतीय दर्शन

वास्तविक तथा जिज्ञासा भाव निःसृत संशयवाद, विश्वास को उसकी स्वाभाविक नीवों पर स्थापित करने में सहायक होता है। नींव को अधिक गहराई में डालने की आवश्यकता का ही परिणाम महान दार्शनिक हलचल के रूप में प्रकट हुआ और जिससे छः दर्शनो का प्रादुर्भाव हुआ। जिसमें काव्य तथा धर्म का स्थान विश्लेषण और शुष्क समीक्षा ने ले लिया।

रूढ़िवादी सम्प्रदाय अपने विचारों को संहिताबद्ध करने तथा उनकी रक्षा के लिये तार्किक प्रमाणों का आश्रय लेने को बाध्य हो गये। इस दर्शन का समीक्षात्मक पक्ष उतना ही महत्वपूर्ण हो गया जितना कि अभी तक प्रकल्पनात्मक पक्ष था। क्योंकि दर्शन काल से पूर्व सम्पूर्ण जगत के स्वरूप के संबन्ध में कुछ सामान्य विचार तो अवश्य प्राप्त हुये थे, किन्तु यह अनुभव नहीं हो पाया था कि किसी सफल कल्पना का आधार ज्ञान का एक समीक्षात्मक सिद्धान्त ही होना चाहिये ।

डा० राधाकृष्णन ने भारतीय दर्शन में यह स्पष्ट किया है कि समालोचको में विरोधियों को इस बात के लिये विवश कर दिया कि वे अपनी परिकल्पनाओं की प्रमाणिकता किसी दिव्य ज्ञान के सहारे करे जो जीवन और अनुभव पर आधारित हो। इस प्रकार आत्मविद्या अर्थात् दर्शन को अब आन्वीक्षिकी अर्थात् अनुसंघान रूपी विज्ञान का सहारा मिल गया। दार्शनिक विचारों का तर्क की कसौटी पर इस प्रकार कसा जाना कट्टर वादियों को रूचिकर प्रतीत नही हुआ[1]। इस प्रकार जो तर्क की कसौटी पर खरा उतर सके उसे 'दर्शन' का नाम दिया गया।

ईसा पूर्व छठी शताब्दी जबकि इसके विशेष अध्ययन की आवश्यकता अनुभव की गई भारत में एक क्रमबद्ध दर्शन के प्रारम्भ के लिये प्रसिद्ध है और ईसा पूर्व पहली

[1] न्याय भाष्य, १।१, मनु ७·४३। कौटिल्य (३०० ई० पू० लगभग) का कहना है कि आन्वीक्षिकी विद्याध्ययन की एक अलग की शाखा है और अन्य तीन शाखा–त्रयी अर्थात वेदो, बाता, अर्थात वाणिज्य और दण्डनीति, राजनिति या कूठनीति के अतिरिक्त है। (१:२)

शताब्दी तक 'आन्वीक्षिकी' के नाम के स्थान पर दर्शन शब्द प्रयुक्त होने लगा। महाभारत में भी कहा गया है कि[1]–

> "सोऽप्ययोगः पञ्चरात्रं वेदाः पाशुपतं तथा।
> ज्ञानान्येतानि राजर्षेः विद्धि नाना मतानि वै।।"

रामायण में "आन्वीक्षिकी" को आदर का स्थान न देकर निन्दित ही माना गया है क्योंकि यह मनुष्यों को धर्मशास्त्रों की आज्ञाओं से विमुख करती है (२/१००/३६)। व्यास का दावा है कि उन्होंने आन्वीक्षिकी द्वारा वेद की व्यवस्था की।

जीवन और दर्शन का सम्बन्ध

यह कहना अतिशयोक्ति न होगा कि भारतीय दर्शन और (हमारे) जीवन में घनिष्ट सम्बध परिलक्षित होता हैं। ये दोनो एक ही लक्ष्य को सामने रखकर एक ही मार्ग पर साथ–साथ चलने वाले दो पथिक है। इन दोनो की सत्ता का मूल एक ही कारण सैद्धान्तिक रूप हमे दर्शन शास्त्रों में मिलता है। किन्तु व्यवहारिक रूप तो हमे अपने जीवन में ही मिलता है और इन दोनों तत्वों के माध्यम से ही परमतत्त्व के पूर्णरूप का अनुभव होता है। दुःख का आत्यान्तिक नाश या जन्म–मरण से सदा के लिये मुक्त होना ही तो सभी का चरम लक्ष्य है। अतएव कोई भी कार्य छोटा या बड़ा इसी लक्ष्य की प्राप्ति के लिये ही लोग करते है। इस प्रकार हमारे दर्शन में जो भी बातें कही गयी हैं। वे सब एक मात्र इसी चरमलक्ष्य की प्राप्ति के साधन हैं। इनके द्वारा ही हमे उस परमपद का साक्षात्कार होता है। इसलिये इसको हम 'दर्शन' या 'दर्शनशास्त्र' कहते हैं। उदाहरणार्थ– जब से जीव अपने पूर्व जन्म के कर्मो के अनुसार सुख–दुःख का भोग इस संसार में आरम्भ करता है। अर्थात माता के गर्भ में प्रवेश करता है तभी से ही उसे जीव का एक मात्र उद्देश्य होता है कि सुख प्राप्ति हो और दुःख की निवृत्ति हो।

---

[1] महाभारत, शान्तिपर्व, १०/४५।

जीवन में धर्म और सामाजिक परम्परा की महत्ता दार्शनिक ज्ञान के मुक्त अनुसरण में विघ्न उपस्थित नहीं करती है। यह एक विरोधाभास उपस्थित करता है। किन्तु यह अकाट्य सत्य है, क्योंकि जहां एक ओर किसी व्यक्ति का समाजिक जीवन जन्मगत जाति की कठिन रूढि से जकड़ा हुआ है। वहां ऐसे अपना मत स्थिर करने में पूरी स्वतंत्रता प्राप्त है। कोई भी व्यक्ति चाहे वह किसी जाति, धर्म, सम्प्रदाय में जन्म हो, तर्क द्वारा वह अपने धर्म सम्प्रदाय की समीक्षा कर सकता है। यही कारण है कि भारत में विधर्मी या धर्मभ्रष्ट, संशयवादी, नास्तिक, हेतवादी एवं स्वतंत्र विचारक, भौतिकवादी एवं आन्नद वादी सभी फलते–फूलते रहे हैं।

महाभारत में एक स्थान पर यह उद्धरण मिलता है कि ऐसी कोई भूमि नहीं जो अपनी भिन्न सम्मति न रखता हो। इस प्रकार भारत में दर्शन का विकास केवल बौद्धिक जिज्ञासाओं की शान्ति के लिये नहीं हुआ बल्कि इसका विकास एक विशिष्ट उद्देश्य की प्राप्ति के लिये हुआ। यह उद्देश्य था जीवन में दार्शनिक चिन्तन से प्राप्त ज्ञान को उपयोगी बनाना, दार्शनिक ज्ञान को जीवन की समस्याओं को सुलझाने में प्रयुक्त करना। इस कारण 'भारतीय दर्शन' 'पाश्चात्य दर्शन' की फिलॉसफी से भिन्न है। जहाँ फिलॉसफी की उत्पत्ति बौद्धिक पिपासा की तृप्ति के लिये हुई है, वहाँ दर्शन जीवन की समस्याओं को हल करने के लिये उत्पन्न हुआ है। यह निर्विवाद सत्य है कि भारतीय दार्शनिक मनीषियों ने तत्त्व–ज्ञान प्राप्त करने के बाद उसे गोपनीय एवं रहस्य बनाकर नहीं रखा, बल्कि उसे जीवन यापन का माध्यम बनाते थे और दूसरों के कल्याण का साधन बनाना चाहते थे। इस सन्दर्भ मे बौद्ध दर्शन मे बोधिसत्व और भारतीय दर्शन मे जीवन मुक्ति की अवधारणा का विकास हुआ। भारतीय दार्शनिको ने तत्वज्ञान को केवल अपने तक ही सीमित नही रखा बल्कि उसे परोपकार के लिये प्रयुक्त किया।

मैक्समूलर का कथन है कि भारत में तत्वचिन्तन ज्ञान की उपलब्धि के लिये नहीं अपितु उस परम उद्देश्य की सिद्धि के लिये किया जाता था, जिसके लिये मनुष्य का इस लोक में प्रयत्न करना संभव है।

दर्शन एवं धर्म

सभ्यता के आदिम काल से ही विश्व के सभी देशों में धर्म की चर्चा होती रही है। कई स्थलों पर धर्म के साथ दर्शन भी जुड़ गया है। और विश्व की सभी जातियों में किसी न किसी रूप में धर्म का अस्तित्व सदा से मान्य रहा है।

धर्म का लोकपक्षीय रूप सदा ही आचार एवं व्यवहार का सम्बल लेकर चलता रहा है। बड़े विचारको बुद्धिजीवियों और वैज्ञानिकों ने अपने जीवन के उत्तर–काल में किसी अतिप्राकृतिक सत्य या अन्य सार्वभौम सत्ता के प्रति जो आस्था प्रगट की है उससे लगता है कि मानव बिना किसी अतिप्राकृतिक सत्ता के प्रति आस्था रखे जीवन में चल ही नहीं सकता है। भारतीय–दर्शन में चार प्रकार के पुरूषार्थो का वर्णन मिलता है– धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। धर्म के विषय में कहा जाता है कि यह मूलरूप से एक रचनात्मक उदात्त वृत्ति है। धर्म एक है, और वास्तव में धर्म की पहचान इसी से होती है कि वह सार्वलौकिक होता है, व्यक्ति के दृष्टिकोंण को विराट बनाता है तथा प्रेम एवं सौहार्द के द्वारा ही संसार के समस्त प्राणियों में एकता के भाव भरने का भावनात्मक प्रयास करता है[1]।

विवेकानन्द साहित्य (द्वितीय खण्ड) में कहा गया है कि धर्म कहीं बाहर से नहीं आता हैं वरन् व्यक्ति के आभ्यन्तर में ही उदित होता है। "धर्म" शब्द का प्रयोग किसी एक अर्थ में न करके भिन्न–भिन्न अर्थों में किया जाता है "यथा इस शब्द का प्रयोग स्वभाव, कर्तव्य, गुण, सत्कर्म, सत्य, ईमान, सम्प्रदाय, कानून, पुण्य, आदि अर्थों में होता है। "धर्म" शब्द के अनेक अर्थो में प्रयुक्त होने के कारण आज आम आदमी धर्म के

[1] व्यास, रामनारायण : धर्म दर्शन, म० प्र० हिन्दी ग्रन्थ अका०, भोपाल १६७१, पृ० ५३.

सम्बन्ध में न तो विचारशील मनोवृत्ति बना पाता है। और नहीं उसे इसकी आवश्यकता अनुभव होती है।

''**धर्म**'' शब्द का अर्थ वस्तुतः कर्तव्य, सत्यकर्म या गुण होता है। व्युत्पत्ति की दृष्टि से ''धर्म'' शब्द 'ध्' शब्द से निष्पन्न है जिसका अर्थ है ''धारण करना'' अर्थात वह जो धारण करता है, या किसी वस्तु का अस्तित्व बनाये रखता है वही धर्म है।

महाभारत के कर्ण–पर्व में धर्म के विषय में उल्लिखित है –''धारणादधर्ममित्याहुः धर्मो धारयते प्रजा'' अर्थात मानव की एक सार्वभौम प्रवृत्ति है और मानव ही एक मात्र धार्मिक प्राणी है।

भारत में धर्म का आविर्भाव ही व्यक्ति की लौकिक एवं परलौकिक उन्नति के लिये हुआ। वैशेषिक सूत्र में इस प्रकार परिभाषित किया गया है।

''यतो अभ्युदय निःश्रेयस सिद्धिः स धर्मः'' अर्थात धर्म जीवन की वह विधा है जिससे अभ्युदय (इहलोक मे उन्नति) और निःश्रेयस (मोक्ष) दोनो ही मिले।

इस तरह से धर्म मानवीय अर्थ या अन्वेषण के उस रूप को कह सकते है जो जीवन का लक्ष्य लोकोत्तर और परमचैतन्य की स्थिति की प्राप्ति को या परमचैतन्य के बोध की योग्यता प्रगति को स्वीकार करता है। किन्तु यह ध्यातव्य है कि भारत में कभी भी दर्शन धर्म का दास नही रहा है। यहां दर्शन और धर्म में पृथक्करण रहा है किन्तु नितान्त सम्बन्ध विच्छेद कभी भी नहीं रहा ।

भारत में जीवन की प्रगति में सहायक होना ही दर्शन और धर्म को सम्बद्ध करता है। इसलिये भारतीय दर्शन सम्पूर्ण मानवता को दुःखो से मुक्ति दिलाने के लिये सदा प्रयत्नशील रहा है। इसलिये भारत में व्यक्ति के परमलक्ष्य के रूप में मोक्ष की जो प्रतिष्ठा प्राप्त हुई थी वह कहीं–कहीं दुःख निवृत्ति मात्र है तो कही दुःख निवृत्ति के साथ–साथ आनन्द प्राप्ति की भी अवस्था है। इसलिये भारतीय विचारको ने अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रह को मानव का आचरण घोषित किया। जैन दर्शन

का तो यहाँ तक कहना है कि "जीवन ज्ञान के लिये नहीं है बल्कि ज्ञान जीवन के लिये है। "अतः यह स्पष्ट है कि भारतीय विचारधारा प्राणिमात्र के सुख एवं कल्याण के लिये विकसित हुई। इसकी अभिव्यक्ति "सर्वे भवन्तु सुखिनः" "वसुधैव कुटुम्बकम" जैसे उद्घोषो में होती है।

इस प्रकार भारतीय दर्शन का जीवन से घनिष्ठ सम्बन्ध है। भारतीय विचारकों ने अपने विचारों को इस मंत्र से उद्घोषित किया कि "दर्शन वही है जो जीवन की अभिव्यक्ति का साधक है और जो जीवन का साधक नहीं है वह दर्शन नहीं है। इसको एक उदाहरण के द्वारा सुगमता से अभिव्यक्त किया जा सकता है। जिस प्रकार भिन्न भिन्न नदियों के भिन्न–भिन्न मार्ग होते है, किन्तु गंतव्य (मंजिल) लक्ष्य सागर होता है, उसी प्रकार विचारधाराओं का केवल एक लक्ष्य है प्रणिमात्र का कल्याण।

विभिन्न क्षेत्रों में धर्म–दर्शन परस्पर पूरक भी है। दर्शन सिद्धान्त का प्रतिपादन करता है। जबकि धर्म व्यवहारिक है इस प्रकार सिद्धान्त के अभाव में व्यवहार का कोई महत्त्व नहीं होता है। जहाँ तक व्यक्ति तथा समाज के जीवन का प्रश्न है। इसे धर्म तथा दर्शन दोनो ही ऊँचा उठाने का प्रयास करते हैं। किन्तु यह भी सत्य है कि कहीं–कहीं धर्म व्यक्ति तथा समाज को छति पहुँचायी है। परन्तु अच्छा धर्म तथा दर्शन सदैव मनुष्य एवं समाज के लिये हितकर ही होता है। यदि कहा जाय परम सत्य की खोज के लिए धर्म तथा दर्शन को परस्पर सहयोग करना होगा तो अनुचित नही होगा। निर्विवाद रूप से तथा अक्षरशः यह भी सत्य है कि जहाँ दर्शन का अन्त होता है वहॉ धर्म का प्रारम्भ होता है। **बेकन** ने लिखा है कि, "यह सच है कि दर्शन का अल्पज्ञान मनुष्य को नास्तिकता की ओर ले जाता है, लेकिन दर्शन की गहराई में उतरने पर व्यक्ति धर्म की ओर लौट आता है।" इस प्रकार धर्म को और अधिक प्रभावी बनाने के लिए धर्म की नींव मजबूत तथा बुद्धि का सुदृढ़ आधार आवश्यक हैं।

दर्शन का विषय

इस प्रकार भारतीय दर्शन के अध्ययन से यह निःसन्देह स्पष्ट होता है कि दर्शन का विषय बाह्य दृश्यों का अवलोकन ही नहीं वरन् आन्तरिक दृष्टि से तत्त्व–बोध भी करना है। इस प्रकार इसका विषय भी बाह्य ही नहीं वरन् आन्तरिक आत्मा है। इसलिए दर्शन को "आत्मदर्शन" भी कहा जाता है क्योंकि यह आत्मसाक्षात्कार का एक मुख्य कारण है।

आत्म–तत्त्व को ही भारतीय दर्शन में परम–तत्त्व तथा परम–सत्य के पर्याय से भी उद्बोधित किया जाता है। इस परम–तत्त्व को सभी आस्तिक दर्शनों नें अनेक नामों से इङ्गित किया है– यथा यह अजर, अमर, अमृत और सर्वथा असंसारिक सर्वव्यापी, ज्योतिस्वरूप, नित्य, निरवयव और निर्विकारी और शुद्ध रूप चैतन्य है।

आत्मा से सम्बद्ध इसी बात को बृहदारण्यक में बड़े सुन्दर ढंग से व्यक्त किया गया है। जिसमें यह कहा गया है कि यह स्थूल (भौतिक) और सूक्ष्म (मानसिक) इन्द्रियों से भिन्न है। जिसका वर्णन करने में वाणी भी असमर्थ है यह वाणी को अभिव्यक्ति की शक्ति प्रदान करता है जिसे मन ग्रहण नहीं कर सकता और जो मन में ग्रहण करने वाली शक्ति प्रदान करता है। इस प्रकार यह आत्म–तत्त्व शरीर का स्वामी और इन्द्रियों का अधिष्ठाता है। इस आत्म–तत्त्व का ज्ञान आध्यात्मिक ज्ञान है और आत्म–तत्त्व का ज्ञाता ही सच्चा दार्शनिक और सम्यक् द्रष्टा है। यह परमसत् आत्म–तत्त्व भौतिक जड़–जगत की अनात्म, अतत्व और असत्य संसारिक ज्ञान से सर्वथा भिन्न है। अमरत्व से अतिरिक्त सभी सांसारिक वस्तुएँ अनात्म, अतत्त्व और असत्य हैं। मैं शरीर नहीं शरीरी हूँ, देह नहीं देव हूँ, जीव नहीं शिव हूँ। इस प्रकार आन्तरिक और आध्यात्मिक आत्मतत्व का ज्ञान ही दर्शन का मुख्य विषय है। बृहदारण्यक उपनिषद् में कहा गया है कि– 'आत्मावरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यः मन्तव्यः निदिध्यासितव्यः'।

अर्थात् आत्मतत्त्व का दर्शन, श्रवण, मनन, निदिध्यासन करना चाहिए अर्थात् अनात्म वस्तु तो अविषय हैं।

प्रयोजन

'दर्शन का स्वरूप आध्यात्मिक है, विषय भी अध्यात्मिक है तो इसका उद्देश्य भी आध्यात्मिक ही होना चाहिए। नाना रूपात्मक प्रतिक्षण विलक्षण रूप धारण करने वाले पदार्थों के अन्तस्तल में विद्यमान रहने वाली एकरूपता, अनेकता के भीतर एकता को खोज निकालना प्रचीन कुशाग्र बुद्धि वाले वैदिक ऋषियो की दर्शन शास्त्र को बहुमूल्य एवं महत्त्वपूर्ण देन है। जिस प्रकार परिर्वतनशील जड़ जगत के भीतर एक अपरिर्वतन शील तत्त्व विद्यमान है। उसी प्रकार इस पिण्ड के भीतर एक अपरिर्वतनशील तत्त्व की सत्ता विद्यमान है। और इस जगत की अपरिर्वतनशील सत्ता ब्रह्म है तथा पिण्ड की नियामक सत्ता की संज्ञा आत्मा है।

प्राचीन दार्शनिको ने ब्रह्म तथा आत्मा की एकता स्वीकार की है। ब्रह्म कोई अप्राप्य पदार्थ नहीं है, बल्कि प्रत्येक प्राणी अपने भीतर नियामक शक्ति के रूप मे आत्मा की सत्ता का अनुभव प्रत्येक क्षण करता है। इसलिये ब्रह्म को जानने से पूर्व आत्मा का ज्ञान होना अति आवश्यक होता है क्योंकि आत्मा को जान लेने पर ब्रह्म का ज्ञान स्वयमेव हो जायेगा। ''आत्मानं विद् ब्रह्म''।

श्रुति भी मुक्त कंठ से यह उपदेश देती है कि ''आत्मतत्त्व का साक्षात्कार करो ''आत्मावाऽरेद्रष्टव्यः''

मुक्ति या मोक्ष की कल्पना में पर्याप्त भेद होने पर भी विभिन्न दार्शनिक इस विषय में नितान्त एकमत हैं– ''आत्मनः स्वरूपेणवस्थितिमोक्षः''

इस प्रकार आत्मा का ज्ञान कराना चाहे वह ब्रह्म से भिन्न हो या अभिन्न हो प्रत्येक दर्शन का लक्ष्य है। संसार की सभी वस्तु अपने लिये प्यारी नही होती बल्कि आत्मा के लिये। अतेव सबसे प्रिय वस्तु आत्मा ही है ''इस लिये इस आत्मा का, प्रत्येक

व्यक्ति कोवण करना चाहिये, श्रुतिवाक्यों से मनन करना चहिये, तार्किक युक्तियो से निदिध्यासन करना चाहिये और योग प्रतिपादित उपायों के द्वारा निरन्तर ध्यान करना चाहिये"[1] क्योंकि आत्मा के दर्शन, श्रवण, मनन तथा ध्यान से ही सब कुछ जाना जा सकता है।

"आत्मनोवाऽरे दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेनेदं सर्व विज्ञातं भवति।"[1]

(बृहदा० २१/८)

आत्मा साधन के इन त्रिविध उपायों में मुख्य उपाय मनन का निरूपण भारतीय दर्शनों की सहायता से ही किया जा सकता है। इसलिये दर्शन के साथ भारतीय धर्म का नितान्त घनिष्ठ सम्बन्ध है ये एक दूसरे के परस्पर पूरक भी हैं।

इस प्रकार दर्शन का मुख्य प्रयोजन मरणधर्मा मनुष्य को अमर बना देना है। अमरतत्व किसी प्रकार का साधारण लाभ न होकर असाधारण लाभ है। इसको प्राप्त कर लेने के बाद कुछ भी प्राप्तव्य नहीं रह जाता है। अतः यह प्राप्तव्य की प्राप्ति है। क्योंकि ऐसा नया कुछ नहीं होता है। बल्कि आज्ञानता के कारण ज्ञात नहीं हो पाता है। सभी प्रकार के बन्धनो से सर्वथा, सर्वदा विनाश है, अतः मोक्ष कहलाता है। यह मृत्यु नहीं वरन् मृत्यु पर विजय प्राप्त करना है।

मृत्यु तो शरीर का अन्त है और मोक्ष जन्म–मरण का अन्त है। जन्म और मृत्यु के पाश मे पड़ा हुआ मनुष्य, पशु–पक्षी, मनुष्य देवयोनियों में भटकता फिरता है। और विभिन्न शरीर को धारण करता हुआ भ्रमण करता है। किन्तु जब अमरत्व का ज्ञान हो

जाता है तब तक शोक सागर को पार कर जाता है– "तरति शोक आत्मवित्" (छान्दो० ४/१/३)

[1] श्रोतव्यः श्रुतिवाक्येभ्यो मन्तव्यश्चोपपत्तिभिः। मत्वा तु सततं ध्येय एते दर्शनहेतव ।।

मुण्डकोपनिषद् में बतलाया गया है कि उस पारावर परमात्मा का साक्षात्कार कर लेने पर हृदय की ग्रन्थि टूट जाती है। सारे संशय नष्ट हो जाते हैं तथा समस्त कर्म क्षींण हो जाते हैं।[1]

ईशोपनिषद् में कहा गया है कि उस अवस्था में एकत्व देखने वाले पुरूष को शोक और मोह नहीं हो सकता है– "तत्र कः मोहः क शोक एकत्वमनुपश्यतः" (ईशोप०७)। मोक्ष परमानन्द की प्राप्ति है और इस परमानन्द का साधक और सहायक ज्ञान ही दर्शन कहलाता है। दर्शन ही सम्यक ज्ञान है। और सम्यक ज्ञान ही मोक्ष का साधक है।

श्रुति के अनुसार सच्ची विद्या मोक्ष प्राप्ति में सहायक है। अर्थात् यथार्थ विद्या से अमृतत्त्व की प्राप्ति होती है। –"विद्यया अमृतमश्नुते" (ईशोप० ११)

श्रुति, स्मृति आदि मे दर्शन का मुख्य प्रयोजन सांसारिक आवागमन से मुक्ति है। महात्मा मनु ने दर्शन को सम्यक दर्शन मानते है और इसका प्रयोजन आवागमन अवरोध स्वीकार करते हैं ।[2]

भारतीय दर्शनों का काल विभाजन

भारतीय दर्शन में गौतम बुद्ध (४८८ ई० पूर्व–५६८ ई० पूर्व) और शङ्कराचार्य (७८८ ई०) युगान्तकारी महापुरुष हुये हैं। इन दोनों को सीमा माननें से भारतीय दर्शन के इतिहास को निम्नलिखित युगों बाटा जा सकता है।

प्रथम युग बुद्धपूर्व युग है– इसमे वेद, उपनिषद्, सांख्य, चार्वाक और जैन तीर्थंकरो के दर्शन आते है। इस काल का सांख्य साहित्य उपलब्ध नहीं है। जैन धर्म के इस काल में दार्शनिक सूत्रों और भाष्यों की रचना नहीं हुई। इस काल में महाभारत और रामायण जैसे महाकाव्यों की भी रचना हो रही थी किन्तु समाप्त नहीं हुआ था।

---

[1] भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशया.। क्षीयन्ते चास्य कर्मणि तस्मिन्दृष्टे पराऽवरे ।। (मु० उप० २/२/८)
[2] सम्यक दर्शनं सम्पन्नः कर्मभिर्निबध्यते। दर्शन विहीनस्तु संसारं प्रतिपद्यते ।। (मनुसंहिता ६/७४)

दार्शनिक दृष्टि से सांख्य, चार्वाक और भगवद्गीता के दर्शन इस काल में बन चुके थे। भगवद्गीता महाभारत का अंश हैं अपने मूलरूप मे वह बुद्ध पूर्व की रचना है। **(२) दुसरा युग बुद्धोत्तर युग** है– यह ईसा पूर्व छठीं शताब्दी के अविर्भाव तक चलता है। सांख्य के अतिरिक्त अन्य सभी दर्शनो का इस युग में उद्भव और विकास हुआ। पहले बैाद्ध दर्शन के चार निकायों का वैभाषिक, सौत्रान्तिक, माध्यमिक अैार योगाचार के क्रम से विकास हुआ। इसका समय ई० पूर्व पहली शदी से चौथी शदी ईस्वी है। इसी समय पहले जैमिनि के मीमांसा सूत्र और कणाद के वैशेषिक सूत्र की रचना हुई। फिर गौतम के न्याय सूत्र और बादरायण के ब्रह्म–सूत्र की रचना हुई। इसी समय शबर (मीमांसा) ईश्वरकृष्ण (सांख्य) वात्सायन और उद्योतकर (न्याय), प्रशस्तपाद (वैशेषिक) गौणपाद (बेदान्ती) तथा समन्तवाद और पूज्यपाद (जैन) उच्च्व कोटि के दार्शनिक हुये। बौद्धो मे इस युग मे नागार्जुन, असंग, वसुबन्धु, दिङ्गनाग और धर्मकीर्ति ये उच्चकोटि के दार्शनिक हुये।

बुद्धोत्तर युग विविध दर्शन–शास्त्रों का युग है पहली शती ई० पूर्व से लेकर सातवीं सदी ईसवीं तक भारत में दार्शनिक चिन्तन का बहुत अधिक विकास हुआ। इसी काल में सभी दर्शनों में एक दूसरे का घात–प्रतिघात सहा और अपने रूप को निखारा वे सब एक दूसरे से शास्त्रार्थ करते रहे।

३. तीसरा युग शंकर युग है– यह आठवीं सदी का काल है इस युग में कुमारिल और प्रभाकर (मीमांसा) शंकर (अद्वैत बेदान्त) पद्मपाद (अद्वैत वेदान्त)जैसे उच्च्व कोटि के दार्शनिक हुये। इस काल के दार्शनिकों नें बौद्ध दर्शन का भारत से उन्मूलन कर दिया।

चौथा युग शंकरोत्तर युग है– इस युग में रामानुज, निम्बार्क, महत्व, कल्याण चैतन्य आदि वेदान्ती हुये जिन्होंने शंकर के मत का खण्डन किया। फिर शंकर के अनुयायियों नें बाचस्पति मिश्र, स्वामी विद्यारण्य, श्रीहर्ष, चित्सुख, मधुसूदन सरस्वती

आदि महान दार्शनिक हुये। न्याय में उद्योतकर सांख्य में वाचस्पति मिश्र और विज्ञान भिक्षु नव्य के गंगेश तथा अन्य नैय्यायिक इस युग के महान दार्शनिक हैं ।

भारतीय दर्शनों के काल विभाजन का यह सामान्य रूप–रेखा है परन्तु पूर्वोत्तर काल–विभाग उतना नियमित तथा सुव्यवस्थित नहीं है।

शङ्करोत्तर युग में विशेषतः वेदान्त का विकास हुआ और बौद्ध दर्शन का पतन हुआ। इस समय वेदान्त में स्पष्टतया दो मत हो गये– शंकर वेदान्त या निर्गुण वेदान्त और सगुण वेदान्त।

शंकरोत्तर युग या वेदान्त युग अभी तक चल रहा है। प्रस्थानत्रयी जिसका शंकराचार्य नें भाष्य लिखकर उद्धार किया था आज भी दार्शनिकों के अध्ययन और चिन्तन का मुख्य विषय हैं। भारतीय–दर्शन के इन चार युगों को सूक्ष्मता से देखने पर पता चलता है कि प्रथम युग में प्रधानता वैदिक दर्शन की थी और अवैदिक दर्शन दबा पड़ा था। द्वितीय–युग में बौद्ध दर्शन का उदय एवं विकास हुआ। उसने बैदिक–दर्शन को दबा दिया। परिणाम स्वरूप वैदिक दार्शनिको नें अपने दर्शनों को खूब सुसंगठित किया अैार बौद्ध दर्शनों से प्रतिस्पर्धा की। इस युग के अन्तिम चरण तक दोनो परस्पर आपस मे घात–प्रतिघात करते रहे अैार बराबरी पर थे किन्तु तृतीय–युग में बैदिक–दर्शन और दृढ़तर हुआ और उसने बौद्ध–दर्शन का उनमूलन कर दिया अन्त के चतुर्थ युग में बैाद्धिक दर्शन का फिर जोरों से चहुमुखी–विकास हुआ जब कोई अवैदिक दर्शन उनका आलोच्य न रहा तब वे स्वयं एक दूसरे की आलोचना करने लगे। इस तरह पारस्परिक आलोचना करते हुये विकसित होते रहे।

[illegible] वांङ्गमय का विकास

यह निश्चित रूप से कहना कठिन है कि पारम्परिक समय में दर्शन की शाखाएँ किस विधि से उत्पन्न हुई तथा इनका विकास किन प्रभावों के अन्तर्गत हुआ? परन्तु वैदिक युग का अध्ययन करने के पश्चात स्पष्ट हो जाता है कि उपनिषद् काल

में ही दार्शनिक जिज्ञासा की भावना का आरम्भ हो गया था। जिसमें जिज्ञासा का आधार यह था कि आत्मा ही वह सत्य है जिसकी खोज करना आवश्यक है। इसमें आत्मा को 'नेति–नेति' रूप में समझाया गया है। उपनिषद् काल के पश्चात जैन, बौद्ध जैसे धर्मों का उदय पाखण्डों के विरूद्ध हुआ किन्तु इसका प्रसंग उपनिषदों में प्राप्त नहीं होता है। इस प्रकार उपनिषदों के प्रणेता ऋषियों के अतिरिक्त अन्य क्षेत्रों में भी दार्शनिक भावना का उदय हो चुका था किन्तु इसका भी कोई ठोस प्रमाण प्राप्त नही होता है। ऐसा स्पष्ट होता है कि हिन्दू दर्शन जिन ऋषियों द्वारा प्रतिपादित किया गया, वे यद्यपि उपनिषदीय विचारधारा को मानते थे तो भी विरोधी विचारधाराओं से एवं अन्य नास्तिक सिद्धान्तों का भी उन्हें अनुमान था। इन ऋषियों एवं उनके शिष्यों की संगोष्ठियों में विरोधी एवं नास्तिक विचारधारा के ऊपर तर्कतः वाद विवाद होता था। और युक्तियों से विरोधी मतों का खण्डन करना अपना कर्त्तव्य समझते थे। इसी कालक्रम में गौतम तथा कणाद जैसे ऋषियों मनीषियों नें इन सारे वाद विवादों को क्रमशः व्यवस्थित कर दार्शनिक शाखाओं को मूर्त रूप दे दिया और इस पर अनेक सूत्रों की रचना की जिससे दर्शन शास्त्र की विभिन्न शाखाओ का ज्ञान होता है। इस प्रकार विरोधी पक्षों के मतों का भी स्थान–स्थान पर वर्णन उपलब्ध होता है। विपक्षी मतों के निरन्तर संघर्ष के कारण भारतीय दर्शन शास्त्रियों को ऐसा अभ्यास हो गया था कि वे अपने सभी ग्रन्थों को शास्त्रार्थ खण्डन–मण्डन या पूर्वपक्ष उत्तरपक्ष के रूप में ही लिखा करते थे और लेखक यह कल्पना कर लेता था कि जो कुछ वह कहेगा उसके सम्बन्ध में विपक्षी मतावलम्बी अवश्य कोई प्रश्न उठायेंगे। इस प्रकार शंकाओं, तर्कों, वाद–विवादों आदि से दर्शन शास्त्र का क्रमशः विकास हुआ। संक्षेपतः कोई दार्शनिक मत दूसरे मतो के प्रसंगो के बिना दिये हुये स्थापित नहीं किया जा सकता है।

<u>एस० एन० दास गुप्ता</u> ने अपनी पुस्तक '<u>भारतीय दर्शन का इतिहास</u>' में लिखतें हैं कि– अपने युग में प्रत्येक दर्शन के विरोधी विचारधाराओं के बीच ऐसा महत्वपूर्ण

स्थान प्राप्त किया कि किसी भी शाखा की न तो उपेक्षा की जा सकती है और न दूसरी शाखा एवं विरोधी मतों का गहन अध्ययन किये बिना उनको समझा जा सकता है। यह आवश्यक है कि इन सभी दर्शनों का एक साथ उनके पारस्परिक पक्ष विपक्षो को ध्यान में रखते हुए एकरूपता के दृष्टिकोंण से अध्ययन किया जाये।

यदि ध्यान से देखा जाय तो यह निर्विवाद रूप से पता चलता है कि भारत में सभी दर्शनों का विकास यद्यपि एक साथ नहीं हुआ किन्तु उनमें परस्पर अद्‌भुत सहयोग है। सभी दर्शन साथ–साथ जीवित रहे हैं इसका कारण यह है कि भारत में दर्शन को जीवन का एक अभिन्न अंग माना गया है। ज्यों ही एक सम्प्रदाय का विकास होता है त्यों ही उसकी विचारधाराओं को मानने वाले अन्य सम्प्रदाय का भी प्रादुर्भाव हो जाता है। उस दर्शन के समाप्त होने के बाद भी उसके अनुयायियों के द्वारा दर्शन एक पीढी से दूसरी पीढी तक जीवित होता चला जाता है। यही कारण है कि भारत में दर्शन आज शताब्दियों के बाद भी जीवित है। भारतीय दर्शन के आस्तिक सम्प्रदायों का विकास सूत्र साहित्य के द्वारा हुआ है। सूत्र साहित्यों से होने के कारण दर्शनो की प्रामाणिकता अधिक बढ़ गई है।

प्राचीन काल में लेखन–शैली विकसित नही थी। अतः जो भी विचारधाराएं थी वे मौखिक रूप में ही थी। किन्तु कालक्रमानुसार बाद में ये सूत्रों के रूप मे आबद्ध होने लगी और प्रत्येक दर्शन के प्रणेता ऋषियों ने सूत्र साहित्य की रचना की। न्याय दर्शन का ज्ञान गौतम के न्याय सूत्र, वैशेषिक का ज्ञान कणाद के वैशेषिक सूत्र से सांख्य का कपिल के सांख्य सूत्र जो अप्राप्य है तथा योग का ज्ञान पंतजलि के योग सूत्र, मीमांसा का ज्ञान जैमिनि के मीमांसा सूत्र तथा वेदान्त का ज्ञान वादरायण के 'ब्रह्म–सूत्र' द्वारा प्राप्त होता है।

सूत्र सभी को सरलता से समझ में नहीं आ सकते थे क्योंकि ये अत्यन्त संक्षिप्त सारगर्भित और अगम्य होते थे। इसलिए इन सूत्रों पर टीकाकारों ने टीकाओ–भाष्यों की

रचना की। यथा न्यायसूत्र पर वात्सायन के वैशेषिक सूत्र पर प्रशस्तपाद के सांख्यसूत्र पर विज्ञानभिक्षु के योगसूत्र पर व्यास के, मीमांसा सूत्र पर शबर के तथा वेदान्त सूत्र पर शंकराचार्य के भाष्य अधिक प्राचीन एवं प्रसिद्ध है।

इस प्रकार आस्तिक दर्शनों का विशाल साहित्य निर्मित हुआ। नास्तिक दर्शनों का विकास सूत्र साहित्य से नहीं हुआ है। इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि दर्शन का विकास स्थूल से आरम्भ होकर सूक्ष्म की ओर हुआ है।

भारतीय दर्शन और पश्चिमी दर्शन में समानताएं और विभिन्नताएँ

प्रायः भारतीय दर्शन के बारे में यह कहा जाता है कि जहॉ एक ओर भारतीय दर्शन अध्यात्मवादी है वहीं दूसरी ओर पाश्चात्य दर्शन भौतिकवादी है। किन्तु यह अक्षरशः सत्य नहीं है क्योंकि पश्चिमी दर्शन बिल्कुल भौतिकवादी नहीं है। उसकी भी प्रमुख धारा भारतीय दर्शन की प्रमुख धारा के समान अध्यात्मवादी है।

भारतीय और पाश्चात्य दोनो दर्शनों में प्रायः एक जैसे विषयों का विवेचन है। हाँ पश्चिमी–दर्शन में भारतीय दर्शन के समान पुनर्जन्म और मोक्ष के सिद्धान्त का व्यापक वर्णन नहीं है। इसका कारण पश्चिमी दर्शन के बारे में भ्रान्त धारणांए प्रसिद्ध हैं कि <u>जहॉ से पश्चिमी दर्शन का अन्त होता है वहॉ से भारतीय दर्शन का प्रारम्भ होता है।</u> यह तथ्य भी निर्मूल है। दोनों दर्शनों में प्रायः एक जैसे विषयों का विवेचन है। किन्तु यह भी सत्य है कि पुनर्जन्म और मोक्ष वास्तव में विशुद्ध दर्शन के विषय में प्रतिपाद्य रूप में नहीं है। अतः इनको लेकर केवल उपर्युक्त धारणा को स्वीकार नहीं किया जा सकता है। किन्तु दोनें दर्शनों में पर्याप्त समानताएं होते हुए भी पर्याप्त विषमताएं भी हैं।

भारतीय दर्शन और पाश्चात्य दर्शन में मुख्य अन्तर यह है कि जहाँ भारतीय दर्शन व्यवहारिक है वहाँ दूसरी ओर पाश्चात्य दर्शन सैद्धान्तिक है। जहॉ पश्चिम में दर्शन को मानसिक व्यायाम के रूप में समझा जाता है तथा स्वयं ज्ञान प्राप्ति के लिए

प्रयोग किया जाता है इसका विपरीत भारतीय दर्शन का उद्देश्य केवल तात्विक ज्ञान की प्राप्ति न होकर नानाविधि कष्टों दुःखों एवं बुराइयों से मुक्ति दिलाना है। इस प्रकार स्पष्ट होता है कि भारतीय–दर्शन का दृष्टिकोंण व्यापक रूप में व्यावहारिक है सैद्धान्तिक कम है, और पश्चिमी दर्शन सैद्धान्तिक ज्यादा है व्यावहारिक अपेक्षाकृत कम है।[1]

पश्चिमी दर्शन का आरम्भ उत्सुकता एवं आश्चर्य से हुआ है जबकि भारतीय दर्शन का आरम्भ आध्यात्मिक असंतोष से हुआ है। भारत के दार्शनिकों ने विभिन्न प्रकार के दुःखों को पाकर उन दुःखों के समूल नाश के लिए दर्शन की शरण ली। इसलिए **प्रो० मैक्समूलर** ने कहा– भारत में दर्शन का अध्ययन मात्र ज्ञान प्राप्त करने के लिए नहीं, वरन जीवन के चरम उद्देश्य की प्राप्ति के लिए किया जाता था।

पाश्चात्य दर्शन में अनुभव को खण्डित रूप से लिया गया है जबकि भारतीय दर्शन में अखण्ड रूप में। पाश्चात्य दर्शन को देखनें से स्पष्ट होता है कि यहॉ प्रत्यक्षवाद, अनुमानवाद या युक्तिवाद और प्रतिभावाद या रहस्यवाद की तीन धाराएं पृथक चली। यहॉ प्रत्येक दर्शन में प्रत्यक्ष युक्ति और प्रतिभाज्ञान का प्रयोग होता रहा। जिसके परिणामस्वरूप इस त्रिवेणी संगम से विशुद्ध प्रत्यक्षवाद, युक्तिवाद या प्रातिभज्ञान का विकास न हुआ। मध्ययुग में हिन्दी, मराठी, तेलगु, कन्नड़ आदि प्रान्तीय भाषाओं में रहस्यवाद का विकास अवश्य हुआ किन्तु संस्कृत भाषा में ऐसा नही हुआ और शुद्ध प्रत्यक्षवाद तथा युक्तिवाद का विकास तो किसी भी भाषा के द्वारा यहाँ नहीं हुआ। इसका कारण यह है कि यहॉ अनुभव की सर्वांगीणता का उपयोग होता रहा है और किसी खण्डित अनुभव को लेकर दार्शनिक सम्प्रदाय की स्थापना को आवश्यक और समीचीन नहीं समझा गया।

पश्चिमी दर्शन में प्रातिभवाद और रहस्यवाद को महत्वपूर्ण स्थान नहीं मिला बल्कि उसको धर्मों के अन्तर्गत ही रखा गया है पाश्चात्य दर्शन की एक विशेषता यह

---

1 six systems of Indian Philosophy (page 370)

है कि यह युक्तिवाद को प्रमुखता देता है। किन्तु भारतीय दर्शन नें अनुभव की जिस सर्वांगीणता को अपना रखा है उसमे प्रतिभाज्ञान को मुख्य रूप से प्रधानता दी गयी है। किन्तु प्रत्यक्ष तथा युक्ति को अपेक्षाकृत कम महत्व दिया गया है।

भारत में दर्शन का चरम उद्देश्य मोक्ष प्राप्ति में सहयता प्रदान करना है। इस प्रकार भारतीय दर्शन ''साधन'' के रूप मे प्रयुक्त होता है क्योंकि इसके द्वारा ही मोक्षानुभूति होती है। इसके विपरीत पश्चिम में दर्शन को साध्य रूप में मानते हैं। जबकि भारत मे इसे साधन मात्र माना गया है।

पश्चिमी दर्शन का दृष्टिकोंण वैज्ञानिक है क्योंकि वहां के दार्शनिकों नें वैज्ञानिक पद्धति का प्रयोग किया पश्चिमी दर्शन में विज्ञान की प्रधानता होनें के कारण दर्शन और धर्म में विरोधी सम्बन्ध रहे हैं। क्योंकि पाश्चात्य दर्शन में धर्म की उपेक्षा की गयी है। परन्तु भारतीय दृष्टिकोंण धार्मिक है। और भारत में दर्शन और धर्म दोनों का उद्देश्य व्यवहारिक है। मोक्षानुभूति दर्शन और धर्म दोनों का ही लक्ष्य है।

१७ वीं शदी के पूर्व पाश्चात्य दर्शन धर्म से प्रभावित था उस समय दार्शनिको नें दर्शन को धर्म से स्वतंत्र किया किन्तु तत्काल ही वह भौतिक विज्ञान, गणित, रसायन विज्ञान और जीव विज्ञान से प्रभावित हो गया।

भारतीय दर्शन विज्ञान से कम प्रभावित रहा है। इसका कारण है कि इस पर जितना प्रभाव पाणिनि के व्याकरण शास्त्र और भाषा शास्त्र का पडा है उतना चरक सुश्रुत् के चिकित्सा शास्त्र या आर्यभट्ट, भास्कर और बराहमिहिर के गणित और ज्योतिष का नही। पश्चिमी दर्शन पर युकलिड की ज्यामिति का न्युटन की भौतिकी और डार्विन के जीव विज्ञान का पड़ा है उतना वहां के वैय्याकरणों के व्याकरण और भाषा शास्त्र का प्रभाव नही पडा है। पाश्चात्य दर्शन तथा भारतीय दर्शन में पद्धति सम्बन्धी अन्तर भी परिलक्षित होता है। पाश्चात्य–दर्शन मे विश्लेषणात्मक पद्धति को प्रयुक्त किया गया है। इसलिये पाश्चात्य दर्शन में तत्व विज्ञान, नीतिविज्ञान, प्रमाण

विज्ञान, सौन्दर्य विज्ञान, आदि का विश्लेषण अलग–अलग किया गया है। पाश्चात्य दर्शन से विपरीत भारतीय–दर्शन मे संश्लेषणात्मक पद्धति को आपनाया गया है। संश्लेषणात्मक दृष्टिकोंण को अपनाने के परिणाम स्वरूप भारतीय दर्शन में प्रमाण विज्ञान, तर्क विज्ञान, नीतिशास्त्र, ईश्वर विज्ञान आदि का विवेचन एक साथ ही किया गया है।

पश्चिमी दर्शन इहलोक की सत्ता में विश्वास करता है जबकि भारतीय–दर्शन इसके विरूद्ध परलोक की सत्ता मे विश्वास करता है। चार्वाक के अतिरिक्त भारतीय दर्शन में स्वर्ग और नरक की मीमांसा हुई है। जबकि पाश्चात्य दर्शन मे ऐसी कोई मान्यता नही है।

पाश्चात्य एवं भरतीय दर्शन का दृष्टिकोंण जीवन और जगत को लेकर भी विभिन्नता रखता है। क्योकि भारतीय दृष्टिकोंण जीवन और जगत के प्रति दुःखात्मक दृष्टिकोंण रखता है। जबकि पश्चिमी दर्शन में उपेक्षा न करके भावात्मक दृष्टिकोंण को प्रधानता दी गयी है।

पश्चिमी–दर्शन में समाजशास्त्र और राजनीतिशास्त्र का वर्णन होता है। किन्तु भारतीय दर्शन सर्वांगीण होते हुये भी समाजशास्त्र और राजनीतिशास्त्र से दूर रहा पश्चिमी दर्शन का दृष्टिकोंण मूलतः एकांङ्गी है।

पश्चिमी दर्शन नें लोकायतीकृत होने का प्रयास किया है। और भारतीय–दर्शन नें इससे बचनें का क्योंकि दर्शन का मुख्य उद्देश्य ही है सूक्ष्म चिन्तन और विवेचन अपने विवेचन मे वह सबजगह लोकायत, लोकरीति या लोकमत से दूर जाता रहा है। भारतीय दर्शन को लोकायत से बचाने के लिये ही जानबूझकर दूरी पैदा की गई है। उदाहरणार्थ– **कुमारिल** नें लिखा है कि, उसके समय में मीमांसा लोकायतीकृत हो गयी थी और उन्होनें उसको यत्नपूर्वक आस्तिक पथ पर आरूढ़ किया।[1]

---

[1] लोकवार्तिक १।१
प्रायेणैव हि मीमांसा लोके लोकायतीकृता। तामास्तिक पथे कुर्त्तमयं यत्नः कृतो मया।।

उपरोक्त विवरण द्वारा स्पष्ट होता है कि भारतीय दर्शन तथा पाश्चात्य–दर्शन में मुख्य प्रवृत्तियों को लेकर अन्तर है और इस कारण ये दोनो अलग अलग रूप मे संस्थापित हैं।

भारतीय दर्शन की समान्य विशेषताएँ

भारतीय दर्शन में दो प्रकार की विचारधाराएं हैं –

(१) ब्राह्मण परम्परा की विचार धारा।

(२) श्रमण परम्परा की विचाधारा।

इसमे ब्राह्मण परम्परा की विचारधारा वेद परक है अतः इसे आस्तिक वर्ग की विचारधारा के नाम से जाना जाता है। और इसके विपरीत श्रमण परम्परा की विचारधारा वेद विरोधी है और इसे नांस्तिक विचारधारा कहा जाता है। ये दोनों विचारधाराएँ एक दूसरे से भिन्न हैं तथा प्रत्येक सम्प्रदाय की अपनी–अपनी अलग–अलग मान्यताएँ हैं परन्तु इस भिन्नता में अभिन्नता, अनेकता में एकता, विषमता मे समता भारतीय दर्शन की विशेषता है। इन दोनों विधाओं का स्वरूप भले ही अलग हो किन्तु इनमें परस्पर विभिन्नता में एकता है। इस एकता को भारतीय दर्शन की मौलिक विशेषता भी कहते हैं। इस प्रकार भारत के विभिन्न दर्शनों में जो साम्य दिखाई पडता है उन्हें भारतीय दर्शन की समान्य विशेषताएँ कहा जाता है। ये विशेषताएँ भारतीय विचारधारा के स्वरूप को स्पष्ट करने में समर्थ है भारतीय दर्शन की इन सामान्य विशेषताओं का संक्षिप्त वर्णन निम्नवत् है।

भारतीय दर्शन की एक मुख्य विशेषता यह है कि यह आध्यात्मिक है और आध्यात्मिक प्रयोजन को सर्वोपरि महत्व दिया गया है। इस विशेषता के कारण ही प्रायः सभी भारतीय दर्शन विचारधाराओं में आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार किया गया है। तथा साथ ही इसके स्वरूप को भी निर्धारित करने का प्रयास किया गया है। 'आत्मदीपोभव आत्मानं विद्धि' ये मंत्र अनादि काल से भारतीय विचारकों को

आत्मचिन्तन की तरफ प्रेरित करते हैं। 'आत्मावाऽरे द्रष्टव्यः' यह उपनिषदीय मंत्र भारतीय दर्शन का निर्धारक रहा है। परिणामतः भारतीय चिन्तन का झुकाव आध्यात्म की ओर अग्रसर हुआ है आध्यात्मवाद से तात्पर्य है 'आत्मा के विषय में चिन्तन–मनन या आत्मविषयक सिद्धान्त'। किन्तु इससे यह तात्पर्य कदापि नहीं लगाना चाहिए कि भारतीय दर्शन केवल आध्यात्मवादी है, बल्कि यह आध्यात्मवादी मूल्यों के साथ भौतिकवादी मूल्यों को भी महत्व देता है।

डा० राधाकृष्णन नें भारतीय दर्शन नामक अपनें पुस्तक मे लिखा है कि "भारत में धर्म संबन्धी हठधर्मिता नहीं है धर्म एक युक्ति–युक्त संश्लेषण है जो विचारों का संग्रह करता रहता है। अपने आप में इसकी प्रकृति परीक्षणात्मक और अनन्तिम है। और यह वैचारिक प्रगति के साथ कदम मिलाकर चलने का प्रयास करता है। यह सामान्य आलोचना कि भारतीय विचार बुद्धि पर बल देने के कारण दर्शन शास्त्र को धर्म का स्थान देता है। भारत में धर्म के युक्ति यूक्ति स्वरूप का समर्थन करती है। इस देश मे कोई भी धार्मिक आन्दोलन ऐसा नही हुआ जिसने अपने समर्थन मे दार्शनिक विषय का विकास भी साथ–साथ न किया हो।"[१]

भारतीय दर्शन की एक समान्य विशेषता यह भी है कि यह जीवन केन्द्रित दर्शन है भारतीय दर्शनिक विचारधाराओं में जीवन की चरम समस्याओं के समाधान को सर्वाधिक महत्व दिया गया है तथा मानसिक जिज्ञासा की शान्ति को दर्शन का अन्तिम लक्ष्य नहीं माना गया है। इस प्रकार भारतीय दार्शनिक विचारधाराओं की उत्पत्ति एवं विकास जीवन मे ही हुआ।

आध्यात्मिकता को अधिक महत्व देनें के कारण ही भारतीय दर्शनिक विचार धाराओं की उत्पत्ति का एक प्रमुख कारण आध्यात्मिक असंतोष ही रहा है इस आध्यात्मिक असंतोष नें भारतीय दार्शनिक विचारधाराओं की उत्पत्ति में विशेष योगदान

---

[१] डा० राधाकृश्णन– पुस्तक भारतीय दर्शन भाग (१) पृ० २०–२१

दिया है। रोग, मृत्यु, बुढ़ापा, ऋण आदि दुःखो के फलस्वरूप मानव मन में सर्वदा अशान्ति का निवास रहता है। बुद्ध का प्रथम आर्यसत्य विश्व को दुःखात्मक बतलाता है। उन्होंने रोग, मृत्यु, मिलन, वियोग, आदि को दुःख कहा जीवन के हर पहलू में मानव दुःखों का ही दर्शन कराता है उनका यह कहना कि दुखियों नें जितना आँसू बहाया है उसका पानी समुद्र जल से भी अधिक है जगत के प्रति उनका दृष्टिकोंण प्रस्तावित करता है बुद्ध के प्रथम आर्यसत्य से सांख्य, योग, न्याय वैशेषिक शंकर, रामानुज, जैन आदि सभी दर्शन सहमत है भारतीय दर्शनों नें विश्व की सुखात्मक अनुभूति को भी दुःखात्मक कहा है। सांख्य नें तो यहां तक कहा है कि सुख भी दुःख ही है। क्योंकि सुख सत्वगुण का कार्य है। यह सत्य है कि भारतीय दार्शनिक विचारधाराओं की उत्पत्ति आध्यात्मिक असंतोष के परिणामस्वरूप हुई है परन्तु भारतीय दार्शनिक विचारधाराएँ न तो निराशावादी हैं और न तो पलायनवादी। भारतीय दर्शन का अन्तिम लक्ष्य आध्यात्मिक आनन्द की शाश्वत प्राप्ति है। पाश्चात्य विद्वानों नें भारतीय दर्शन को निराशावादी होनें का आरोप लगाया है किन्तु यह आक्षेप उचित नहीं है क्योंकि भारतीय दर्शन को निराशावादी इसलिये नहीं कहा जा सकता है कि यह आध्यात्मवाद से ओत–प्रोत है आध्यात्मवादी दर्शन को निराशावादी कहना गलत है।

भारतीय दर्शन के निराशावाद का विरोध भारत का सहित्य करता है। भारत के समस्त सम–सामयिक नाटक सुखान्त है। जब भारत के साहित्य में आशावाद का संकेत है। तो फिर भारतीय दर्शन को निराशावादी कैसे कहा जा सकता है? भारत का दार्शनिक विश्व की वस्तुस्थिति को देखकर विकल हो जाता है। इस अर्थ में वह निराशावादी है। परन्तु वास्तव में निराश नही हो पाता है। इससे प्रमाणित होता है कि निराशावाद भारतीय दर्शन का आरम्भ है परन्तु उसका अन्त आशावाद में होता है।

डा० राधाकृष्णन नें लिखा है कि "भारतीय दार्शनिक वहाँ तक निराशावादी है। जहां तक इन विषयों से छुटकारा पाने का सम्बन्ध है। वे आशावादी[1] है। इस प्रकार निराशावाद भारत दर्शन का आधार वाक्य है किन्तु निष्कर्ष नही है।

भारतीय दार्शनिक सम्प्रदायों की एक सामान्य विशेषता मोक्ष की धारणा को विशेष महत्व प्रदान करना भी है। चार्वाक को छोड़कर सभी दर्शनों में मोक्ष को जीवन का चरम लक्ष्य माना गया है। मोक्ष से तात्पर्य है कि सांसारिक दुःखों से छुटकारा तथा जन्म–पुनर्जन्म के चक्र से मुक्त होना है। इस प्रकार सांसारिक आवगमन से मुक्त आध्यात्मिक अवस्था ही मोक्ष की अवस्था है।

मैक्समूलर नें कहा है कि भारत में दर्शन ज्ञान के लिये नहीं वरन् उस सर्वोच्च लक्ष्य के लिये था जिसके लिये मनुष्य इस जीवन मे चेष्टा कर सकता है।

मोक्ष को ही मुक्ति, निर्वाण, कैवल्य आदि शब्दों से भी अभिहित किया गया है। मोक्ष बन्धन का पूर्ण विनाश है और यह सभी दुःखो के विनाश की स्थिति है तथा आत्मा के परमानन्द की अवस्था है अतः मोक्ष को अभावात्मक–आत्यन्तिक दुःख–विनाश और भावात्मक–आनन्द की प्राप्ति भी है कहा गया है। <u>आत्मा का शरीरधारी होना ही बन्धन है इस बन्धन का विनाश ही मोक्ष है</u> है तथा मोक्ष के लिए आत्मज्ञान की आवश्यकता होती है। इसी दृष्टि से कठोपनिषद् में नचिकेता नामक बालक ब्रह्मज्ञानी यमराज के पास जाकर आत्मविद्या या वेदान्त विद्या के लिये प्रार्थना करता है। <u>सभी दर्शन (भारतीय) यह मानते है कि मोक्ष शोकातीत अवस्था से निवृत्ति है किन्तु सभी दर्शनों में इसकी प्राप्ति के मार्ग भिन्न–भिन्न बताये गये हैं परन्तु सबका उद्देश्य एक ही है। इस प्रकार मार्गों की अनेकता में भी लक्ष्य की एकता का प्रतिपादन, भारतीय दर्शन की विशेषता है। इस प्रकार भारतीय दर्शन का अध्ययन करने से इतना तो</u>

---

[1] Ind. Phil, Vol, I (page 50)

निश्चित रूप से स्पष्ट होता है कि आत्मा का शरीरधारी होना ही बन्धन है तथा इस बन्धन का विनाश ही मोक्ष है।

भारतीय दर्शन की एक विशेषता यह है कि यह व्यक्ति को नहीं वरन् समाज को सुखी बनाना चाहता है। यहां एक तरह से समाजवादी दृष्टिकोंण की झलक परिलक्षित होती है। भारतीय दार्शनिक कभी अपने आपको ही सुखी बनाने की शिक्षा नहीं देते है। वरन् सम्पूर्ण समाज को सुखी जीवन व्यतीत करने की शिक्षा देते हैं। वेद में कहा गया है।

> ''सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
> सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चित् दुःख भाग्भवेत्।।''

अर्थात सभी लोग सुखी हों, सभी रोग रहित हों, सभी प्रिय का दर्शन करे, और कोई दुःख दैन्य को न प्राप्त हो। वेद के समान ही बौद्ध के सारनाथ धर्मचक्र मे ''बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय'' का उपदेश दिया गया है।

भारतीय दार्शनिक विचारधाराओं की मुख्य विशेषताओं का उल्लेख करते हुये ''कर्म एवं पुनर्जन्म के सिद्धान्त'' का वर्णन करना भी आवश्यक है। चार्वाक को छोड़कर सभी भारतीय दर्शन को मान्यता प्रदान करते है। इस प्रकार कर्म सिद्धान्त को छः आस्तिक दर्शनों नें एवं दो नास्तिक दर्शनों नें भी स्वीकार किया है। कुछ लोग यह मानते है कि कर्म सिद्धान्त मे विश्वास करना भारतीय विचारधारा मे अध्यात्मवाद का प्रमाण है।

कर्मवाद के सिद्धान्त की मूल पृष्टभूमि में भारतीय दर्शन की यह मान्यता निहित है कि विश्व में एक शाश्वत नैतिक व्यवस्था है। इस व्यवस्था में किसी भी प्रकार का व्यवधान नहीं है। कर्मो द्वारा ही जीवन का संचालन होता है तथा कर्मबन्धन से जन्म–पुनर्जन्म का चक्र चलता रहता है। कर्मों के कारण ही आत्मा को बारम्बार शरीर धारण करना पड़ता है। इससे अलग कर्म बन्धन से मुक्त होना ही मोक्ष की स्थिति है।

प्रो० हरेन्द्र प्रताप सिंह ने अपनी पुस्तक 'भारतीय दर्शन की रूपरेखा' में लिखा है कि "कर्म सिद्धान्त का अर्थ है जैसा हम बोते है वैसा ही हम काटते हैं। इस नियम के अनुकूल शुभ कर्मों का फल शुभ तथा अशुभ कर्मों का फल अशुभ होता है। इसके अनुसार 'कृतप्रणाश' अर्थात किये हुए कर्मों का फल नष्ट नहीं होता है तथा 'अकृताभ्युगम्' अर्थात बिना किये हुए कर्मों के फल भी नहीं प्राप्त होते हैं। हमें सदा कर्मों के फल प्राप्त होतें हैं। सुख और दुःख क्रमशः शुभ और अशुभ कर्मों के अनिवार्य फल माने गये हैं। इस प्रकार कर्म सिद्धान्त 'कारण नियम' हैं। जो नैतिकता के क्षेत्र में काम करता है।"[1] कर्म तीन प्रकार के माने गये हैं–

१. **संचित कर्म–** उस कर्म को कहते हैं जो अतीत कर्मो सें उत्पन्न होता है परन्तु जिसका फल मिलना अभी बाकी है अतः इसका संबंध अतीत जीवन से है।

२. **प्रारब्ध कर्म–** वह कर्म है जिसका फल मिलना शुरू हो गया है, इसका संबंध अतीत जीवन से है।

३. **संचीयमान कर्म–** इन्हें क्रियमाण कर्म भी कहते है। ये वे कर्म है जिन्हे व्यक्ति वर्तमान समय में करता है संचीयमान कर्म ही भविष्य में प्रारब्ध एवं संचित कर्म बनते हैं।

समान्यतः यह मान्यता है कि तत्त्व ज्ञान से संचित कर्म का क्षय होता है और क्रियमाण कर्म का निवास होता है। परन्तु तत्त्व ज्ञान से प्रारब्ध कर्म का निवारण नहीं किया जा सकता है। प्रारब्ध कर्मों का विनाश उसके भोग संपादन क्रिया से ही होता है। यह क्रिया 'कुलालचक्रवत' ही होती है।

भारतीय दर्शन की एक विशेषता 'ऋत के नियम में विश्वास भी है।' भारतीय दर्शन के अनुसार जिस प्रकार मानवीय जगत में नैतिक व्यवस्था है उसी प्रकार भौतिक जगत में भी एक प्रकार की कल्पना की गयी है। भौतिक जगत में इस प्रकार की

---

[1] हरेन्द्र प्रताप सिन्हा– भारतीय दर्शन की रूपरेखा। पृ०–१५–१६

कल्पित व्यवस्था को 'ऋत का नियम' कहा गया है। इस प्रकार के नियम का सर्वप्रथम परिचय हमें वैदिक साहित्य से प्राप्त होता है। मीमांसा में इसको ही 'अपूर्व' तथा न्याय वैशेषिक में इसे 'अदृष्ट' कहा गया है।

भारतीय–दर्शन में विचारों में समन्वयवाद को विशेष स्थान दिया गया है। यह सत्य है कि दार्शनिक सिद्धान्तों का अनुसंधान एवं प्रतिपादन बौद्धिक रूप में हुआ है। फिर भी जीवन के अन्य सभी पहलुओं की अवहेलना नहीं की जा सकती है।

भारतीय दार्शनिक परंपरा की यह विशेषता 'प्रगतिशीलता' भी है। भारतीय दार्शनिक परंपरा में समय समय पर तत्कालीन प्रचलित सिद्धान्त के प्रतिवादी सिद्धान्त को प्रस्तुत कर प्रगतिशीलता को प्रमाणित किया है। इसी प्रगतिशीलता का परिणाम है कि भारतीय दार्शनिक परंपरा में जड़वाद, अध्यात्मवाद, द्वैतवाद, अद्वैतवाद, द्रैताद्वैतवाद विशिष्टाद्वैतवाद आदि सिद्धान्त प्रस्तुत किये गयें है।

यह निर्विवाद रूप से सत्य है कि भारतीय दर्शन धर्म के साथ समन्वित हैं। तो भी भारतीय दार्शनिक विचारों की अवहेलना बिलकुल नहीं हुई है। दार्शनिक सत्य के अनुसंधान के लिए बुद्धि को प्रबल साधन के रूप अपनाते आये हैं।

दार्शनिक चिन्तन का व्यावहारिक उद्देश्य होता है। मानव जिज्ञासा को शान्त करना ही दर्शन का प्रधान लक्ष्य है। दार्शनिक जब तक जीवन और जगत को ठीक ढंग से नहीं जान लेते हैं। तब तक उसका चिन्तन मनन निरन्तर जारी रहता है। जीवन और जगत को नश्वर समझने पर व्यक्ति अपनें जीवन को सुखी बना सकता हैं। इस प्रकार जीवन के मूल समस्याओं का हल प्राप्त करना ही दर्शन अपना कर्तव्य समझता है।

भारतीय दर्शन की एक विशेषता यह भी है कि दर्शन चिन्तन निष्पक्ष होता है। विश्व का अध्ययन करते समय दार्शनिक अपने स्वार्थभाव रागद्वेष एवं पक्षपातपूर्ण

भावनाओं से पूर्णतया मुक्त हो जाता है। सम्पूर्ण विश्व को उसकी सम्पूर्णता में जानना ही उसका लक्ष्य रहता है।

इस प्रकार दर्शन विश्व को उसकी समग्रता में समझने का प्रयास करता है। भारतीय–दर्शन की दृष्टि व्यापक है। यद्यपि भारतीय–दर्शन की अनेक शाखाएँ हैं। तथा उनमें मतभेद है फिर भी वे एक दूसरे की उपेक्षा नहीं करती हैं। सभी शाखाएं एक दूसरे के विचारों को समझने का प्रयास करती हैं। तथा विचारों की युक्तिपूर्वक समीक्षा कर किसी सिद्धान्त तथा निष्कर्ष पर पहुँचती है। इस उदार मनोवृत्ति का यह परिणाम है कि भारतीय दर्शन में विचार विमर्श के लिए एक विशेष प्रणाली की उत्पत्ति हुई। इसमें पहले पूर्व पक्ष होता है फिर उत्तर पक्ष होता है इसमें पूर्वपक्ष विरोधी मतों का प्रकाशन करता है जबकि उत्तर पक्ष सिद्धान्तों का प्रतिपादन करता है। इस प्रकार उपरोक्त भारतीय दर्शन की सामान्य विशेषताओं से स्पष्ट होता है कि सभी भारतीय दर्शन का एक ही मुख्य उददेश्य है दुःख की चरम निवृत्ति या परमानन्द की प्राप्ति। इन्ही उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए सभी भारतीय दार्शनिक प्रवृत्त होते हैं।

भारतीय दर्शन का वर्गीकरण –विधाएँ

समय के साथ–साथ भारत में विभिन्न दार्शनिक सम्प्रदायों का प्रादुर्भाव हुआ। और यह प्रत्येक मुनि की अपनी अलग–अलग विचारधाराएँ थी। इतना तो निश्चित रूप से स्पष्ट होता है कि उपनिषदों के पश्चात अवान्तर काल में इच्छा संबंध विषय प्रयोजन इत्यादि के भेद से परम मूल तत्व के विषय में शनैः–शनैः यथामत वैविध्यता होती गयी वैसे –वैसे दर्शन के भी वर्गीकृत भेद होते गये जो अन्त न होकर आदि था। और काल क्रमेण इन भेदों के भी आवान्तर भेद होते गये और परिणामतः वैदिक और अवैदिक दर्शन संप्रदाय के रूप में देश में उत्पन्न हो गये ऐसा दर्शन मध्यकालिक व्याख्याकारों ने अपने सांप्रदायिक अखाड़े का प्रभुत्व स्थापित करने के लिए परस्पर विरोधपूर्ण विचारधाराएं उत्पन्न कर दार्शनिक संघर्ष को जन्म दिया।

उपनिषद् काल में हम देखते हैं कि ऋषि मुनि लोग बिना कठिनाईं के सम्पूर्ण स्वरूप को सरलता से समझ लेते थे। इसलिए उस समय सभी विचारधाराओं के होने पर भी विचारों के वर्गीकरण की आवश्यकता नहीं पड़ी। क्योंकि उन्हें तत्व से संबंधित आक्षेपों के समाधान करने का तथा विरोधी पक्षों के साथ तर्क वितर्क करने का कोई विशेष अवसर नही प्राप्त हुआ। इसलिए उपनिषद् में वर्णित इस तत्व के स्वरूप का विश्लेषण कर भिन्न–भिन्न क्रम से पृथक–पृथक उनके वर्गीकरण का प्रयोजन पहले नहीं हुआ।

यह इतना तो तय है कि किसी भी विषय का वर्गीकरण तभी किया जाता है जब उसको समझने में कोई कठिनाई उपस्थित हो रही हो या कोई अन्य प्रयोजन या उद्देश्य हो।

सम्भवतः यही कारण रहा होगा कि विभिन्न दृष्टिकोण से साक्षात देखे हुए सम्पूर्ण तत्व उस समय तक उपनिषदों में छिन्न–भिन्न रूप में पड़ रहे जब तक कि पूर्व पक्षी और उत्तर पक्षी मत समक्ष नही आया। किन्तु इस प्रकार की परिस्थिति अधिक समय तक न रह सकी, क्योंकि इसके बाद तर्क प्रवीण जिज्ञासुओं का आविर्भाव होने लगा। इस समय वेदों के ऊपर आरोप लगने शुरू हो गये तथा वेदों के विरूद्ध मतों का प्रचार वैदिक जगत में होने लगा। इससे समाज में विचलन की स्थिति उत्पन्न हो गयी थी। इस स्थिति से निपटने के लिए तथा एक बार फिर वेद तथा वैदिक धर्मों की रक्षा के लिए उपनिषदों का सहारा लेना आवश्यक हो गया था। इन उपनिषदो में से तत्वों को खोजकर आक्षेपों के निवारण के लिए सामग्री एकत्र की गयी। तत्वों को श्रृंखला बद्ध करने का प्रयत्न भिन्न भिन्न दृष्टिकोणों से होने लगा। इन तत्व विचारों को समन्वय की दृष्टि से सोपान परम्परा के रूप में श्रृंखलाबद्ध बनाकर प्रतिपक्षियों के साथ तर्क वितर्क करने के लिए सब तरह से एकत्रित किया गया। किन्तु इस प्रकार की बातें उपनिषदों के बाद देखने को मिलती हैं। इस तर्क–वितर्क वाद–संवाद से

दार्शनिक सूत्रों का निर्माण होने लगा था, इसी संघर्ष के समय दर्शनों का पुनः वर्गीकरण हुआ होगा ऐसा अनुमान किया जाता है।

छान्दोग्य उपनिषद् के सातवें अध्याय में नारद और सनद कुमार संवाद यह स्पष्ट होता है कि अन्धकाल में अर्थात उपनिषदों के पूर्व भी शास्त्रों का वर्गीकृत रूप अवश्य विद्यमान थे। क्योंकि यदि पृथक वर्गीकृत न होता तो नारद किस प्रकार शास्त्रों को पृथक गिना सकते थे। किन्तु शास्त्रों के स्वरूप के संबंध में स्पष्ट ज्ञान प्राप्त नही होता है किन्तु व्यवस्थित वर्गीकरण उपनिषदों के बाद का हैं।

अक्षपाद गौतम के 'न्याय सूत्र' नामक ग्रन्थ लिखने के पीछे मुख्य रूप से दो उद्‌देश्य निहित था। १– एक तो बौद्धों के साथ साथ तर्क वितर्क करने के लिए और दूसरा वैदिक मंत्रों के अभिप्राय को सुरक्षित रखनें के लिए। इसी अभिप्राय से जैमिनी ने भी "मीमांसा सूत्र" की रचना की। इस प्रकार अन्य दार्शनिक सूत्र ग्रन्थों की रचना हुई होगी। भारतीय दर्शन का मुख्य रूप से विभाजन दो विधाओं में किया गया है–

१– आस्तिक विधा।   २– नास्तिक़ विधा।

अब प्रश्न यह है कि इस वर्गीकरण में कितने और कौन कौन से दर्शन बनें? इस संबंध में "<u>षड्‌दर्शन</u>" का नाम लिया जाता है। परन्तु षडदर्शन के अन्तर्गत कौन –कौन से दर्शन गिने जा सकते हैं इस पर विद्वानों में मतभेंद हैं।

<u>पुष्पदन्त ने शिवमहिम्नस्त्रोत् में सांख्य, योग, पशुपतिमत, तथा वैष्णव, कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में सांख्य योग तथा लोकायत का उल्लेख किया है</u>।

<u>सर्वसिद्धान्तसंग्रह </u> में शङ्‌कराचार्य ने लोकायत, आर्हत बौद्ध (वैभाषिक, सौत्रान्तिक, योगाचार तथा माध्यमिक) वैशेषिक न्याय भट्‌ट और प्रभाकर मीमांसा, सांख्य पतंजलि, वेद व्यास तथा वेदांत, ग्यारहवीं सदी की पूर्ववर्ती जयन्त भट्‌ट ने मीमांसा, न्याय, वैशेषिक, सांख्य, अर्हत, बौद्ध तथा चार्वाक। बारहवीं सदी के हरिभद्र सूरि ने अपने 'षडदर्शन समुच्चय' में बौद्ध न्यायिक, कपिल, जैन, वैशेषिक तथा जैमिनि का

उल्लेख किया है। तेरहवीं सदी के जिनदत्त सूरि ने अपने षडदर्शन समुच्चय में जैन मीमांसा बौद्ध, सांख्य, शैव तथा नास्तिक का वर्णन किया है। चौदहवीं सदी के राज शेखर सूरि ने जैन सांख्य, जैमिनियोग (न्याय) वैशेषिक तथा सौगत का उल्लेख किया है। प्रसिद्ध काव्यों के टीकाकार मल्लिनाथ के पुत्र ने पाणिनि, जैमिनि, व्यास, कपिल, अक्षपाद तथा गौतम को वर्णित किया है। 'सर्वमत संग्रह' के रचयिता ने भी मीमांसा, सांख्य, तर्कबौद्ध अर्हत तथा लोकायत का उल्लेख किया है।

माधवाचार्य ने अपने ग्रंथ 'सर्वदर्शन संग्रह' में चार्वाक दर्शन बौद्ध, जैन, रामानुज दर्शन, पूर्णप्रज्ञ (माध्व) दर्शन, पाशुपत दर्शन, शैव दर्शन, प्रत्याभिज्ञा दर्शन (त्रिक दर्शन काश्मीर शैव मत) औलूक्य दर्शन (वैशेषिक) अक्षपाद दर्शन (न्याय) रसेश्वर दर्शन, आयुर्वेद दर्शन, जैमिनि, पाणिनि सांख्य, पतंजलि और शांकर दर्शन में इन षोडश दर्शनों का उल्लेख है। मधुसूदन सरस्वती ने 'सिद्धान्त विन्दु' तथा 'शिवमहिम्नस्त्रोत' की टीका में न्याय, वैशेषिक, कर्म मीमांसा, शारीरिक मीमांसा, पातञ्जल, पंचरात्र, पाशुपत, बौद्ध, दिगम्बर, चार्वाक, सांख्य और औपनिषद आदि का वर्णन मिलता है।आस्तिक और नास्तिक पदों को परिभाषित करने का एक प्रमुख आधार "वेद प्रामाण्य की स्वीकृति और अस्वीकृति से है।"

वेदों में आस्था रखने वाले या श्रुति को प्रमाण मानने वाले दर्शन आस्तिक दर्शन हैं तथा वेदों की निन्दा करने वाला और श्रुतियों का विरोध करने वाला दर्शन नास्तिक दर्शन कहलाता है।[1]

वेदानुयायी और वेदविरोधी परम्परा के क्रमशः ब्राह्मण परम्परा और श्रमणपरम्परा भी कहा जाता है। आस्तिक दर्शनों के अन्तर्गत 'षड्दर्शन' आता है इसमें न्याय, सांख्य, मीमांसा, योग, वैशेषिक, वेदान्त की गणना की जाती है। नास्तिक दर्शन भी एक अन्य

---

[1] योऽवमन्यते ते मूलहेतुशास्त्रनयाद द्विज। स साधुभिर्वहिः कार्यो नास्तिको वेद निन्दकः।। (मनु० २/११)

वर्गीकरण से "षडदर्शन" कहा जाता है। यथा इसमें चार्वाक, जैन, (बौद्ध) वैभाषिक, सौत्रान्तिक, योगाचार, माध्यमिक दर्शनों को रखा जाता है।

प्राचीन भारतीय दार्शनिक साहित्य में आस्तिक और नास्तिक का एक अन्य अर्थ भी लोक और परलोक को लेकर प्राप्त होता है। इसके अनुसार इहलोक के साथ परलोक में विश्वास करने वाले दर्शन को आस्तिक दर्शन कहते हैं। तथा जो परलोक में न विश्वास करके केवल इहलोक में विश्वास करता है, नास्तिक दर्शन है। इस प्रकार इहलोक या सादृश्य जगत को स्वीकार करने वाला "लोकायत् दर्शन" है जिसे "चार्वाक दर्शन" भी कहते हैं। चार्वाक दर्शन अपनी भौतिकवादिता के कारण शेष सभी दर्शनों से अलग पड़ जाता है। इसके अतिरिक्त इस अर्थ में अन्य सभी आठ दर्शन आस्तिक हैं।

एक अन्य मत से पुनर्जन्म में विश्वास रखने वाला ही आस्तिक कहा गया है और इसके विपरीत नास्तिक कहा गया है। किन्तु इसको स्वीकार करने में एक कठिनाई यह सामने आती है कि जैन और बौद्ध पुनर्जन्म में विश्वास रखते हैं फिर भी उन्हें नास्तिक के अन्तर्गत रखा गया है। अतः पुनर्जन्म में विश्वास ही आस्तिक—नास्तिक का निर्णायक है, नहीं कहा जा सकता है।

एक अन्य अर्थ में ईश्वरवादी दृष्टिकोंण से भी आस्तिक—नास्तिक का भेद किया गया है। इस दृष्टिकोंण को स्वीकार करने वालों के अनुसार ईश्वर की सत्ता में विश्वास करने वाला आस्तिक है और ईश्वर की सत्ता में विश्वास न करने वाला नास्तिक है। इस दृष्टि से चार्वाक, जैन, बौद्ध के साथ सांख्य एवं मीमांसा भी नास्तिक दर्शन की श्रेणी में आ जाते हैं क्योंकि ये भी अपने को मुक्त कंठ से निरीश्वरवादी स्वीकार करते हैं और इसके अतिरिक्त योग, न्याय, वैशेषिक, वेदान्त ईश्वरवादी होने के कारण आस्तिक दर्शन के अन्तर्गत आते हैं। किन्तु इस तथ्य को उल्लेखित करना अतिमहत्वपूंर्ण है कि इन आस्तिक—नास्तिक पद के विभिन्न अर्थों में प्रथम अर्थ— (वेद प्रामाण्य में विश्वास) सर्वाधिक प्रचलित एवं महत्वपूर्ण है और इस दृष्टि से चार्वाक, जैन,

बौद्ध दर्शनों को वेद विरोधी होने के कारण नास्तिक दर्शन कहा गया है। और इसके विपरीत श्रुति परम्परा में श्रद्धा रखने वाले सांख्य–योग, न्याय–वैशेषिक, मीमांसा–वेदान्त ये षड् आस्तिक दर्शन हैं। "तत्र षट् श्रुति सापेक्षाणि षट् च श्रुति निरपेक्षाणि" आज केवल बारह दर्शनों का स्वरूप उपलब्ध होता है आस्तिक और नास्तिक शब्द की जो परिभाषा महात्मा मनु ने दिया है वह प्रायः मान्य है। महात्मा मनु के अनुसार– "वेद को प्रामाण्य मानने वाले आस्तिक और न मानने वाले नास्तिक हैं" ।

इस प्रकार भारतीय दर्शन में वेद का विशेष महत्व है। अधिकांश भारतीय दार्शनिक सिद्धान्तों का उद्गम श्रोत बेद ही हैं। इनमें मीमांसा एवं वेदान्त का प्रादुर्भाव सीधे वेदों से ही हुआ है। इनमें चार्वाक दर्शन का कोई भी प्रामाणिक ग्रन्थ प्राप्त नहीं होता है–

'एष्वापि चार्वाक दर्शनस्य न कोऽपि ग्रन्थः प्राप्यते केवलं तत्तच्छास्त्रेषु।
तत्तच्छास्त्र, टीकासु च खण्डनाय तन्मतानुवादः एवोपलभ्यते ।।'

भारतीय दर्शन के विस्तृत वर्गीकरण को निम्नलिखित तालिका द्वारा भी दिखाया जा सकता है।
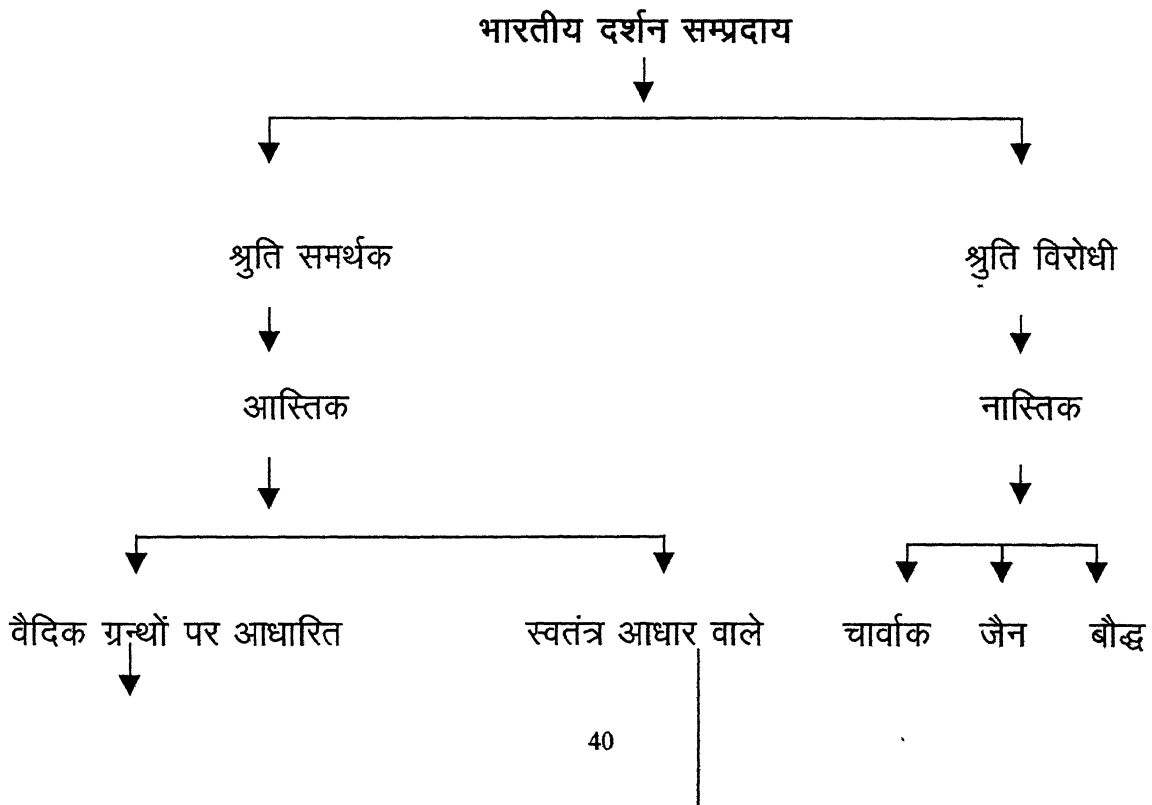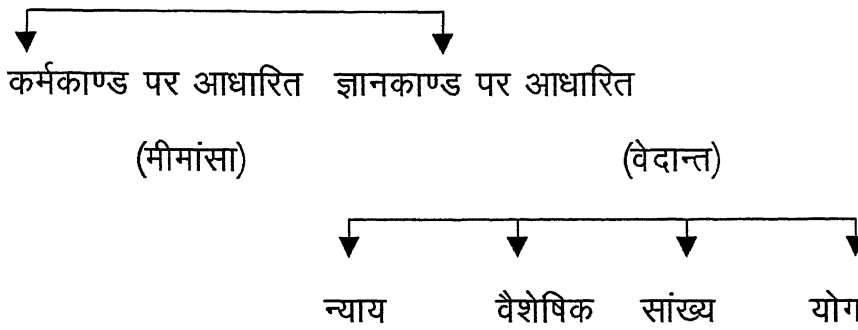
कौटिल्य नें अपने ग्रन्थ अर्थशास्त्र में सांख्य योग और लोकायत को 'आन्वीक्षिकी विद्या' के अर्न्तगत उल्लिखित किया है।

'सांख्य योगो लोकायतं चेत्यान्तीक्षिकी' (१/२/१०)

यहां सांख्य पद कपिल दर्शन, पातञ्जलयोग दर्शन तथा बादरायण का वेदान्त दर्शन इन तीनों का ग्रहण करता है। 'योग' पद न्यायवैशेषिक का तथा 'लोकायत' पद 'चार्वाक' आदि अन्य अवैदिक दर्शनों का बोधक है।

वात्स्यायन मुनि नें 'योग' पद का प्रयोग न्यायसूत्र के (१/१/२६)के भाष्य में उक्त अर्थ को प्रकट करने के लिये किया है।

इस प्रकार हिन्दू मतानुसार भारतीय दर्शन आस्तिक और नास्तिक वर्गों में विभाजित है। आस्तिक सम्प्रदाय वेद को स्वतः प्रमाण मानते हैं और नास्तिक वेद को एक साधारण ग्रन्थ से ज्यादा कुछ नहीं मानते हैं। ये नास्तिक दर्शन मुख्यतया तीन हैं बौद्ध, जैन, चार्वाक। आस्तिक दर्शन जो सनातन धारा को स्वीकार करता है और षडाङ्ग के रुप में जाना जाता है। ये निम्न छः शाखाओं में प्रचलित हैं। सांख्य, योग, न्याय–वैशेषिक, मीमांसा, वेदान्त। ये साधारणतया षड्दर्शन के नाम से (आख्यायित) विख्यात हैं।

नास्तिक दर्शन

चार्वाक दर्शन

नास्तिक दर्शन के अन्तर्गत चार्वाक दर्शन का स्थान प्रमुख है। लोक में अत्यन्त

प्रिय लोकायत दर्शन ही चार्वाक दर्शन कहलाता है। अवैदिक दर्शनों के अन्तर्गत चार्वाक दर्शन का जड़वाद या भौतिकवाद सर्वाधिक प्राचीन है। यह मत कब से चला है यह निश्चित रूप से किसी ठोस प्रमाण के अभाव में नहीं कहा जा सकता है। किन्तु इतना तो निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि यह हमारे ज्ञान के विकास का सबसे प्रथम रूप है। ऐसी स्थिति में यह सबसे प्राचीन मत है ऐसा कहने में किसी को कोई आपत्ति नहीं है।

चार्वाक दर्शन के उदय के (प्रमाण) साक्ष्य उपनिषद दर्शन के पश्चात् और नास्तिक जैन तथा बौद्ध दर्शन के उदय के पूर्व के काल में मिलते हैं। 'उपनिषद् दर्शन' का उच्च विज्ञान वाद, वैदिक कर्मकाण्ड को ब्राहमणों द्वारा अपनी जीविका का साधन बनाकर उसका दुरुपयोग तथा यज्ञों में पशुबलि की प्रथा, उस समय की सामाजिक तथा राजनीतिक अव्यवस्था एवं अस्थिरता आदि के कारण चार्वाक मत का प्रचार हुआ।[1] यद्यपि इन्द्रिय सुखों के उपभोग की परम्परा उतनी ही प्राचीन है जितना मानव का उद्भव। इन्द्रिय सुखों के उपभोग की परम्परा अनादि काल से चली आ रही है और यह सदैव स्थिर बनी रहेगी क्योंकि यह मानव की नैसर्गिक प्रवृत्ति है। ईसा पूर्व आठवीं और छठी शताब्दी के मध्य भारत में अनेक भौतिकवादी दार्शनिक और विविध भौतिकवादी विचारधाराएं थीं इन विचारधाराओं से ही लोकायत अथवा चार्वाक दर्शन का उदय हुआ।

देवताओं के गुरु बृहस्पतिदेव द्वारा प्रणीत होने के कारण इसका अन्य नाम 'बार्हस्पत्यदर्शन' भी है। संभवतः ये बृहस्पति सुरगुरु बृहस्पति से भिन्न रहे होंगे। किन्तु कुछ विद्वान मानते हैं कि ये सुरगुरु ही थे जिन्होंने छद्म रूप से असुरों के नाश के लिये इस मत का प्रतिपादन किया। छान्दोग्य उपनिषद के इन्द्र विरोचन और प्रजापति

[1]सी०डी० शर्मा– भा०दर्शन पृ० २२

संवाद में उल्लेख है। एक मत के अनुसार शुक्राचार्य की अनुपस्थिति में दानवों को बृहस्पति ने इस मत का उपदेश दिया था। यह मत पहले सूत्रों में रचित था अत एव इन सूत्रों को "बार्हस्पत्यसूत्र" भी कहते हैं।

ईश्वर और वेद के प्रामाण्य का सर्वथा खण्डन करने के कारण यह नास्तिक दर्शन की श्रेणी में गिना जाता है। यद्यपि बौद्ध और जैन को भी भारतीय–दर्शन में नास्तिक–दर्शन की उपाधि से विभूषित किया जाता है किन्तु नास्तिकों में अग्रणी होने के कारण 'चार्वाक–दर्शन' को "नास्तिक शिरोमणि" दर्शन समझा जाता है।

कुछ लोगों का मत है कि चार्वाक नामक ऋषि ने जिनकी चर्चा महाभारत में है, इस मत को चलाया। कुछ विद्वानों का मत है कि चार्वाक किसी व्यक्ति का नाम नहीं है यह शब्द 'चर्व' धातु से बना है, जिसका अर्थ है "चबाना" अर्थात् जो व्यक्ति ईश्वर, आत्मा, परलोक तथा सारे आध्यात्मिक तथा नैतिक मूल्यों को चबा जाय, उसे चार्वाक कहते हैं। अथवा यह शब्द 'चारूवाक' से बना है क्योंकि चार्वाक से तात्पर्य मधुर वचन से है।[1]

कुछ विद्वानों का मत है कि ऋग्वेद में भी इस दर्शन का उल्लेख मिलता है। बृहदारण्यक उपनिषद् में भी इस मत का उल्लेख मिलता है इस उपनिषद् में याज्ञवल्क्य अपनी पत्नी मैत्रेयी को इस मत का उपदेश दिया है कि इन्हीं पांच भूतों के मिलने से ज्ञान उत्पन्न होता है और फिर नष्ट हो जाता है और मृत्यु के उपरान्त ज्ञान नहीं रह जाता है। "एतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानुविनश्यति न प्रत्येसंज्ञास्तीति। (बृहदा० २/४/१२)

बाल्मीकि रामायण में भी लोकायत ब्राहमणों का उल्लेख किया गया है–

"क्वचिन्न लोकायतिकान् ब्रह्मणांस्तात सेवसे"। (२/१००/३८)

[1] पिब् जाद च जात शोभने। (प्र०च० २/५०)

अयोध्या–काण्ड में यहाँ तक कहा गया है कि ये लोग असत्य बातों का ही घूम–घूम कर प्रचार करते थे और अपने को ज्ञानी समझते थे।[२]

'लोकायत्' की परिभाषा के विषय में श्री शङ्कराचार्य नें कहा है कि लोकायत् वह है जो देह से भिन्न आत्मा की सत्ता को न स्वीकार करे।–

"लोकायतिकानामाणि चेतन एव देह इति–शंकराचार्य।"

हरिभद्रसूरि ने अपने ग्रन्थ "षडदर्शन समुच्चय" में चार्वाक के लिये लोकायत शब्द को ही प्रयुक्त किया है।

'लोकायतावदन्त्येयम्....। (ष०द०समु०–१,८)

मनुसंहिता तथा अन्य पौराणिक ग्रन्थ में भी इस मत का उल्लेख मिलता है। वात्स्यायन नें अपने 'वात्स्यायन सूत्र' नामक ग्रन्थ में चार्वाक् के लिये लोकायत् शब्द का ही प्रयोग किया है–

'बरं साशयिकान्निष्काद सांशयिकः कार्षापण इति लोकायतिकाः। (वा०सू०)

श्री वाचस्पति मिश्र नें अपने ग्रन्थ "तत्त्वकौमुदी" में प्रमाण के सन्दर्भ में लोकायत् का उल्लेख किया है श्री मिश्र ने अनुमान को अप्रमाण मानने वालों को "लोकायतिक" कहा है –"अनुमानमप्रमाणमितिलोकायतिका" (त०कौ०)

संभवतः प्रत्यक्ष को ही एक मात्र प्रमाण मानने के कारण इस दर्शन का नाम लोकायत् (लोक+आयत्) पड़ा। चार्वाक दर्शन सर्वाधिक प्राचीन दर्शन है इसकी प्राचीनता का प्रमाण इससे भी स्पष्ट हो जाता है कि वेद, उपनिषद्, रामायण, महाभारत, स्मृति, पुराण आदि सभी शास्त्रों में यह मत अत्यन्त प्रचलित था। सर्वाधिक लोकप्रियता होने के कारण इस दर्शन की "लोकायत्" संज्ञा सार्थक है।

चार्वाक व्यक्ति विशेष और सम्प्रदाय विशेष दोनों का ही नाम हो सकता है। 'लोकायत्' कहलाने वाले दर्शन के सर्वप्रथम आचार्य चार्वाक हुये जो सुरगुरु बृहस्पति

---

[२] अयोद्धयाकाण्ड–१००–३८–३६

के शिष्य थे अतएव चार्वाक नामक व्यक्ति विशेष के द्वारा प्रचारित होने के कारण यह दर्शन चार्वाक दर्शन के नाम से प्रसिद्ध हुआ। बृहस्पति के सूत्र जो भिन्न–भिन्न ग्रन्थों में मिलते हैं इसे डा० उमेश मिश्र ने अपने ग्रन्थ 'भारतीय दर्शन' में उल्लिखित किया है–

१. 'अथातः तत्वं व्याख्यास्यामः'– अब हम इस मत के तत्वों का निरुपण करेंगे।

२. 'पृथिव्यापस्तेजोवायुरिति तत्वानि'– पृथिवी, जल, तेज वायु ये चार तत्व हैं।

३. 'तत्समुदाये शरीरेन्द्रिय विषय संज्ञा'– इन्हीं भूतों के संघटन को शरीर इन्द्रिय तथा विषय नाम दिया गया है।

४. 'तेभ्यैश्चैतन्यम्'– इन्हीं भूतों के संघटन से चैतन्य उत्पन्न होता है।

५. 'किण्वादिभ्यो मदशक्तिवत् विज्ञानम्'[1]– जिस प्रकार किण्व आदि अन्न के संघटन से 'मादक' शक्ति उत्पन्न होती है उसी प्रकार इन भूतों के संघटन से विज्ञान (चैतन्य) उत्पन्न होता है।

६. 'भूतान्येव चेतयन्ते'– 'भूत ही चैतन्य' उत्पन्न करने का कार्य करते हैं।

७. "चैतन्य विशिष्टः कायः पुरुषः"– चैतन्य युक्त स्थूल शरीर ही आत्मा है।

८. "जलबुदबद्रज्जीवा"– जल के उपर जैसे बबूले दिखाई पड़ते हैं और शीघ्र ही आप से आप वे नष्ट हो जाते हैं उसी प्रकार जीव है।

९. "परलोकिनोऽभावात् परलोकाभावः"– परलोक में रहने वाला कोई नहीं होता अतएव परलोक ही नहीं होता।

१०. 'मरणमेवापवर्गः'– मरण ही मोक्ष है।

११. 'धूर्तप्रलायस्त्रयी स्वर्गोत्पादकत्वेन विशेषाभावात्'– स्वर्ग का सुख धूर्तों के प्रलापजन्य सुख से भिन्न नहीं है इसलिये स्वर्ग (सुख) को देने वाले तीन वेद वस्तुतः धूर्तों का प्रलाप ही है।

---

[1] विज्ञानम् के स्थान पर 'चैतन्यम्' भी प्राप्त होता है।

१२. 'अर्थकामौ पुरुषार्थौ' – अर्थ और काम ये दोनों ही पुरुषार्थ हैं।

१३. 'दण्डनीतिरेव विद्या' – (अत्र वार्ता अन्तर्भवति) राजनीति ही एक मात्र विद्या है इसी में कृषि शास्त्र भी सम्मिलित है।

१४. 'प्रत्यक्षमेवप्रमाणम्' – प्रत्यक्ष ही एक मात्र प्रमाण है।

१५. लौकिकोमार्गोऽनुसर्तव्यः'– साधारण लोगों के मार्ग का अनुसरण करना चाहिये।

इन्हीं बातों का उल्लेख हमें पूर्वपक्ष के रुप में शास्त्रों में मिलता है।

महान आदर्शवादी माधवाचार्य नें, अपने ग्रन्थ 'सर्वदर्शन संग्रह' में चार्वाक प्रणाली का संक्षिप्त सार इस प्रकार प्रस्तुत किया है।

लोकायतिकं केवलं, इस जीवित जगत में ही विश्वास करते थे, किसी अन्य जगत में नहीं। वे सन्यास, मोक्ष या आत्मा में विश्वास नहीं करते थे। ईश्वर में विश्वास नहीं करते थे, जो समस्त सृष्टि का स्रष्टा है। आत्मा शरीर ही है जो इन गुणों की अभिव्यक्ति से प्रकट होता है– 'मैं मोटा हूँ', 'मैं नौजवान हूँ', 'मैं बड़ा हो गया हूँ', मैं बूढ़ा हो गया हूँ आदि। इस शरीर से भिन्न कुछ और नहीं है। मोरों को कौन रंगों से सजाता है अथवा कौन कोयल से गाना गवाता है ? प्रकृति के अतिरिक्त दूसरा कोई कारण नहीं है।

शुचिता तथा ऐसे ही अन्य नियमों को चतुर किन्तु कमजोर लोगों नें बनाया है। सोने और भूमि की दान दक्षिणा की व्यवस्था तथा भोजनों में निमंत्रण की परिपाटी अशुद्ध लोगों नें बनायी है, जिनके पेट भूख से चिपके हुये हैं। चार्वाक का मत है कि बुद्धिमान लोगों को इस संसार के सुख उचित साधनों जैसे कृषि पशुपालन, व्यापार, राजनीतिक प्रशासन इत्यादि के जरिये प्राप्त करना चाहिये।

चार्वाक साहित्य

चार्वाक दर्शन का कोई भी स्वतंत्र प्रामाणिक ग्रन्थ प्राप्त नहीं होता है। भारतीय दर्शन

की प्रत्येक शाखाएँ अपने–अपने दृष्टिकोंण से चार्वाक दर्शन का खण्डन की हैं। इससे[1] यह प्रमाणित होता है कि भारतीय समाज इस दर्शन का प्रचुर प्रचार था तथा चार्वाक दर्शन का साहित्य भी बहुत विशाल रहा होगा, परन्तु कालक्रम से वह लुप्तप्राय है। वर्तमान युग में चार्वाक दर्शन से सम्बन्धित सामग्री अन्य भारतीय दर्शनों में चार्वाक के खण्डन से ही प्राप्त होती है। तथा कुछ इससे सम्बद्ध सामग्री इतस्ततः विकीर्ण रूप में उपलब्ध होती है जैसे आर्षमहाकाव्य, रामायण, महाभारत इत्यादि में। आचार्य वृहस्पति रचित वृहस्पति सूत्र ग्रन्थ में चार्वाक दर्शन से सम्बद्ध सभी सिद्धान्त बीजरूप में उपलब्ध होते हैं।

ब्रह्म सूत्र में कहा गया है कि अर्थसाधन के लिये लोकापतिक शास्त्र ही वस्तुतः शास्त्र है– "सर्वथा लोकायतिकमेंव शास्त्रमर्थ ज्ञान काले।"।

वृहस्पति सूत्र में लिखा गया है कि लोकायतिक अग्निहोत्र संध्या, जप आदि भी अर्थ के लिये ही करता है– "एवमथार्थ करोत्यग्निहोत्र–सन्ध्याजपादीन।"

कृष्णमिश्र द्वारा प्रणीत 'प्रबन्धचन्द्रोदय' के द्वितीय अध्याय में चार्वाक दर्शन का सिद्धान्त वर्णित मिलता है– चार्वाक शास्त्र ही एक मात्र शास्त्र है। पृथिवी, जल, तेज, वायु ये ही चार तत्व हैं। अर्थ और काम ये दो पुरूषार्थ हैं। होता, हवन और हव्य इसके नष्ट होने पर भी यदि स्वर्ग प्राप्त हो तो वनाग्निदग्ध वृक्षों में भी मीठे फल लटक आये।[2]

'हरिभद्र सूरि' रचित 'षड्दर्शन समुच्चय' में षड्दर्शनों की गणना में चार्वाक दर्शन को भी परिगणित किया गया है। इसके आठ श्लोकों में चार्वाक दर्शन के मूल विषयों का वर्णन किया गया है।

श्री 'माधव' रचित 'सर्वदर्शन संग्रह' में चार्वाक दर्शन के लगभग सभी सिद्धान्त वर्णित मिलते हैं। वर्तमान समय में चार्वाक दर्शन का अध्ययन–अध्यापन इसी ग्रन्थ से होता है।

---

[1] अनु० प्रम सुन्दर बोस, एसोर्स बुक ऑफ इण्डियन फिलॉसफी मे। प्र० २३४–२३५।

[2] स्वर्गः कर्त्तुक्रिया द्रव्यानाशेऽपि यदि यज्वनाम्। ततोदावाग्नि दग्धाना फल, दग्धाना फल स्याद् भूरि भूरूहाम्।। (प्र० च०)

यद्यपि चार्वाक–दर्शन के स्वतंत्र और मौलिक ग्रन्थ तो संख्या में बहुत कम है किन्तु चार्वाक सिद्धान्त का वर्णन सम्पूर्ण वेद और वेदांगों में प्राप्त होता है।

वैदिक साहित्य में भी इतस्ततः स्वेच्छाचार और कामाचरण का सिद्धान्त प्राप्त होता है। दासी के साथ ऋषि–मुनियों का अवैध यौन सम्बन्ध, जीर्ण और वृद्धवयस में विवाह आदि विविध कामाचरणों का स्थल–स्थल पर दिग्दर्शन मिलता है।[1]

वेद के समान पुराणों में भी कामाचरण के अनेक उदाहरण मिलते हैं– जीर्ण–शीर्ण च्यवन ऋषि ने राजाशर्याति की कन्या सुकन्या को पत्नी रूप में प्राप्त करने के लिये राजा से प्रार्थना की तथा राजा ने शाप भय से उन्हें अपनी कन्या दे दी–"प्रतिगृह्यत वा कन्यां भगवान प्रसाद ह।"

महाभारत में चार्वाक का स्पष्ट उल्लेख हुआ है– महाभारत का युद्ध समाप्त होने पर राजा युधिष्ठिर नें अपने वल के साथ हस्तिनापुर में प्रवेश किया। नगर की जनता ने विजयी राजा का सत्कार किया। पाण्डवों के जयघोष से आकाश व्याप्त हो उठा उसी समय चार्वाक नामक एक राक्षस बनावटी ब्राह्मण वेश धारण करके आया जो दुर्योधन का मित्र था। वह जपमाला, शिखा और त्रिदण्ड धारण किये था।[2]

लोकायत् प्रणाली का सबसे महत्वपूर्ण पक्ष उसका ज्ञान सिद्धान्त है। प्रायः सभी भारतीय दर्शन प्रमा के साधन के रूप में प्रमाण को स्वीकार करता है– 'प्रमाकरणं प्रमाणं'। प्रमा यथार्थ ज्ञान होता है– 'यथार्थज्ञानं प्रमा'। प्रमाण को सभी भारतीय दर्शन स्वीकार करते हैं किन्तु इसकी संख्या को लेकर आपस में मतभेद है। इन प्रमाणों की संख्या एक से लेकर आठ तक बतायी जाती है। ऐसा मानसोल्लास में वर्णन मिलता है।[3]

---

[1] चार्वाक दर्शन की शास्त्रीय समीक्षा – सर्वानन्दपाठक प्र० १५

[2] राजानं ब्रह्मणस्छद्मा चार्वाको राक्षसोऽब्रबीत्। तत्र दुर्योधन राजा भिक्षुरूपेण संवृत.।।
साक्षः शिखी त्रिदण्डीच धृष्टो विगत साध्व सः।। महाभारत, राजधर्मनुशासन पर्व– (अ० ३८)

[3] प्रत्यक्षमेकं चार्वाकः कणाद सुगतौपुनः। अनुमानं च तच्चापि साख्याः शब्द च ते उभे।।
न्यायैकदेशिनोऽयेवमुपमान चं केचन्। अर्थापत्या सहैतानि चत्बार्याहुः प्रभाकरा......सभवैतिंहयुक्तानि तानि पौराणिका जगु।।
(मानसोल्लास प्रकाशन– २/१७/२०)

१– चार्वाक –१– प्रत्यक्ष ।

२– बौद्ध –२– प्रत्यक्ष + अनुमान ।

३– सांख्य –३– प्रत्यक्ष + अनुमान + शब्द ।

४– न्याय –४– प्रत्यक्ष + अनुमान + शब्द + उपमान ।

५– प्रभाकर मीमांसक –५– प्रत्यक्ष + अनुमान + शब्द + उपमान + अर्थापत्ति।

६– भाट्ट मीमांक –६– प्रत्यक्ष + अनुमान + शब्द + उपमान + अर्थापत्ति + अनुपलब्धि ।

७– पौराणिक –८– (अर्था० + अनुप०) + संभव + ऐतिहासिक।

चार्वाक केवल प्रत्यक्ष का ही प्रमाण मानता है 'प्रत्यक्षमेवैकं प्रमाणम'– (वार्हस्पत्यसूत्र–२०)

चार्वाक मानता है कि इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से उत्पन्न ज्ञान प्रत्यक्ष है। अर्थात् प्रत्यक्षेतर अनुमान प्रमाण सर्वथा अमान्य है। पंचेन्द्रियों के बाहर कोई वस्तु नहीं है। इस पञ्चविधिन्द्रिय प्रत्यक्ष द्वारा अनुभूत वस्तु प्रमाण सिद्ध है और अन्य वस्तुएं कल्पना प्रसूत है। प्रत्यक्ष के द्वारा जो भी ज्ञान प्राप्त होता है वह अधिक विश्वसनीय होता है इसमें शंका या तर्क के लिए कोई स्थान नहीं होता है। अतेव प्रत्यक्ष निर्विवाद रूप से यथार्थ ज्ञान है। प्रत्यक्ष से दृष्टिगोचर होने वाले पदार्थ का ही अस्तित्व है।[1]

यद्यपि सभी शास्त्रकारों नें एकमात्र प्रत्यक्ष प्रमाण मानने के कारण, चार्वाकों की बहुत निन्दा की है। और अनेक प्रकार से इनका खण्डन किया है परन्तु उन लोगों ने अपने–अपने दृष्टिकोण से चार्वाक के स्थान को देखकर उसका तिरस्कार किया है। वस्तुतः एक दर्शन का दृष्टिकोण दूसरे दर्शन के दृष्टिकोण से सर्वथा भिन्न है अतेव इन दर्शन के सिद्धान्तों में भेद होना ही स्वाभाविक उचित और सत्य है।

---

[1] त्यक्षगम्यमेवास्ति नात्स्यद्रष्टमद्रष्टतः। दृष्टवादिभिश्चापि नादृष्टं सुदृष्टमुच्यते।। (सर्व० सि० संग्रह)

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि यथार्थ में सर्वथा एवं सबसे अधिक विश्वसनीय एकमात्र प्रमाण तो 'प्रत्यक्ष' ही है। जब तक किसी वस्तु का प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा ज्ञान नहीं होता है तब तक उस वस्तु के विषय में जो भी ज्ञान प्राप्त होता है वह सन्देह से मुक्त नहीं होता है, केवल संभावित मात्र होता है। 'देखने' का अर्थ है 'प्रत्यक्षप्रमाण का गोचर करना'। यही कारण है कि श्री शंकराचार्य को भी, ब्रह्म को जानने के लिये 'अपरोक्षानुभूति' ही माननी पड़ी।

चार्वाक को छोड़कर प्रायः सभी भारतीय दर्शन अनुमिति को प्रमाण मानते हैं किन्तु चार्वाक मानता है कि अनुमान से निश्चयात्मक ज्ञान नहीं प्राप्त होता है अनुमान अज्ञात का ज्ञान है। अनुमान का आधार व्याप्तिज्ञान है अतः व्याप्तिज्ञान के निःसन्देह होने पर ही अनुमान निश्चयात्मक हो सकता है। धूम और अग्नि में यदि व्याप्ति ज्ञान का निश्चय हो जाय तभी धूम देखकर अग्नि का अनुमान किया जा सकता है। परन्तु सभी धूम के साथ सभी अग्नि का व्याप्ति सम्बन्ध संभव नहीं। अतेव किसी भी प्रमाण से धूम और अग्नि के व्याप्ति सम्बन्ध का निश्चय ज्ञान संभव नहीं हो सकता है। चार्वाकों के अनुसार अनुमिति वहीं तक सही हो सकती है जहां तक प्रकृति के क्रियाकलापों की बात है। अन्यत्र जरूरी नहीं है कि वह सही ही हो।सभी अनुमान अप्रमाण नहीं है लोकसिद्ध अनुमान प्रमाण है परन्तु अतीन्द्रिय परलोक आदि का साधक अनुमान प्रमाण नहीं।[1] चार्वाक शब्द प्रमाण को भी ज्ञान का स्रोत नहीं मानते थे क्योंकि कि वे वेदों की प्रामाणिकता को चुनौती देते थे। चार्वाक भौतिकवादी मानते हैं कि शब्द अनुमान में ही सन्निविष्ट है[2]। शब्द प्रमाण अतिदेशवाक्य पर निर्भर होते हैं और अतिदेशवाक्य की प्रामाणिकता दूसरे पर निर्भर होगी इस प्रकार इसमें अनवस्था दोष स्पष्ट है–

'तस्मादप्रमाणंशब्दः अनृतव्याघात पुनरूक्त दोषेभ्यः' (न्याय भाष्य २/१/५७)।

---

[1] लोकप्रसिद्धमनुमान चार्वाकैरपीष्यत एवं यत्तु। कैश्चिल्लौकिक भगिमतिकृम्यानुमानमुच्यते तन्निषिध्यते।।३५।। बृ० सूत्र।

[2] शब्दोऽनुमानर्थस्यानुपलब्धेरनुमेयत्वात्– न्याय द० (२/१/४६)

इस प्रकार चार्वाकों का तर्क था कि ज्ञान का एकमात्र विश्वसनीय श्रोत प्रत्यक्ष है। दूसरे शब्दों में चार्वाक कहते थे कि ऐसी कोई चीज जो हमारे संज्ञान से परे है सत्य अथवा यथार्थ नहीं है। के० दामोदरन नें अपने ग्रन्थ 'भारतीय चिन्तन परम्परा' में लिखा है कि– 'लोकायत् सिद्धान्त का उद्भव ऐसे काल में हुआ था जब ब्राह्मण पुरोहित अनुमिति और शब्द जैसेअपने प्रमाणों को बलि, यज्ञ, कर्मकाण्डों आदि को न्यायसंगत सिद्ध करने के लिये इस्तेमाल कर रहे थे। उनसे लोहा लेना लोकायत् दर्शन के अनुयायियों के लिये जरूरी हो गया था। और उनका कारगर ढंग से मुकाबला करने के लिये ज्ञान के श्रोतों के बारे में उनकी अवधारणा के विरूद्ध संघर्ष करना भी जरूरी था। फलतः उन्होंने ज्ञान के भौतिकवादी सिद्धान्त का विकास किया।[1]

तत्त्वविचार

चार्वाक् दर्शन में पृथ्वी, जल, तेज, वायु, इन्हीं चार तत्त्वों की सत्ता स्वीकार की गयी है। आकाश को तत्त्व के रूप में नहीं माना गया है क्योंकि आकाश का प्रत्यक्ष नहीं होता है यह केवल अनुमान पर आश्रित होता है अतः आकाश तत्त्व नहीं है। ये चारों तत्व जड़ या भौतिक हैं और इन्हीं के संयोग से ही शरीर, इन्द्रिय, विषय आदि सबकी सृष्टि होती है–

'पृथिव्यातेजोवायुरिति तत्वानि।

तत्समुदायेशरीरेन्द्रिय विषयसंज्ञा'।।२ (वार्हस्पत्य सूत्र)

और इन्हीं भौतिक तत्वों के संयोग से चैतन्य उत्पन्न होता है। ''तैभ्यैश्चैतन्यम्''– (१/३ बार्ह० सूत्र)। इन चार भूत पदार्थों के संयोग से चैतन्य स्वयं उत्पन्न हो जाता है जैसे मादकता के उत्पादक अन्न या वनस्पति आदि के रस से निर्मित मदिरा में मादकता स्वयं आ जाती है– 'किण्वादिभ्यो मद्शक्तिवत् चैतन्यमुपजायते'।४।। (वार्ह० सूत्र)।

[1] के० दामोदरन– भारतीय चिन्तन परम्परा। पृ० ११६

सभी आस्तिक दर्शनों में आत्मा को शरीर से भिन्न नित्य, अपरिगाामी, कूटस्थ आदि माना गया है और शरीर के धर्म आत्मा के धर्म नहीं है। चार्वाक आत्मा को शरीर से पृथक नहीं मानता है जिस प्रकार शरीर अनित्य, परिणामी, विकारी है वैसे आत्मा भी है। आत्मोत्पत्ति के सम्बन्ध में चार्वाक दर्शन का स्पष्ट सिद्धान्त है जड़ पदार्थों के विकार से चैतन्य उसी प्रकार उत्पन्न होता है जैसे पान–सुपारी और चूने के योग से पान की लाली निकलती है, जैसा कि सर्वदर्शन संग्रह में कहा गया है–

'जड़भूत विकारेषु चैतन्यं यत्तुदृश्यते।
ताम्बूल पूगचूर्णानां योगादिद्राग इवात्यितम्' ।।

आत्मा को भूत चतुष्टय का सम्मिलित संघात कहा है। आत्मा के सम्बन्ध में चार्वाक दर्शन में चार सिद्धान्त प्रचलित है–

१– शरीरात्मवाद।   २– इन्द्रियात्मवाद।
३– मनात्मवाद।   ४– प्राणात्मवाद।

शरीरात्मवाद की मान्यता के अनुसार शरीर को ही आत्मा स्वीकार किया गया है, 'मैं मोटा हूँ', 'मैं तरूण हूँ', मैं वृद्ध हूँ', इन विशेषणों के प्रयोग से सिद्ध है कि शरीर ही आत्मा है '<u>चैतन्य विशिष्ट देह एवं आत्मा</u>' और आत्मा ही देह है अतः चार्वाक के इस अभेदात्मक आत्मविचार को देहात्मवाद भी सर्वदर्शन संग्रह में कहते हैं–

'स्थूलोऽहं तरूणोवृद्धों युवेत्यादि विशेषणेः।
विशिष्टो देह एवात्मा न ततोऽन्यो विलक्षणः।।'

चार्वाक देह आत्मा के सम्बन्ध में कहता है कि यदि शरीर से पृथक आत्मा है तो शरीर के मर जाने पर जीवात्मा का प्रत्यक्ष होना चाहिये और यदि यह कहा जाय कि आत्मा अदृश्य या गुप्त रूप से शरीर में व्याप्त रहता है तो यह भी निरर्थक है क्योंकि कालान्तर में शरीरांगों के नष्ट हो जाने पर आत्मा के गुप्तरूप का अस्तित्व संभव नहीं है। चार्वाक दर्शन का कोई सम्प्रदाय स्थूल शरीर को आत्मा न मानकर इन्द्रियों को ही आत्मा

मानता है उनका तर्क है कि 'मैं देखता हूँ', 'मैं सुनता हूँ' इत्यादि क्रिया व्यापारों में इन्द्रिय ही सहाय्य मात्र है अतः इन्द्रिय ही आत्मा है। बार्हस्पत्य सूत्र में कहा गया है–

'पश्यामि श्रृणोमीत्यादि प्रतीत्या मरणपर्यन्तं।

यावन्तीन्द्रियांणि तिष्ठन्ति तान्येवात्मा'।।३६।।

चार्वाक् पन्थी यदि इन्द्रिय को ही आत्मा मानें तो यह भी ठीक नहीं है क्योंकि 'इन्द्रियाणामुपघाते कथं स्मृतिः'। ऐसा खण्डन न्याय सि० मु० ने किया है। अर्थात् "पूर्वचक्षुषा साक्षात्कृतानां चक्षुषोऽभावे स्मरण न स्यात् अनुभवितुरभावात। अन्यदृष्टस्यान्येन स्मरणासम्भवात्"। अतः स्मरणानुपत्ति होने से इन्द्रियात्मवाद भी खण्डित हो जाता है।

मनसात्मवादी चार्वाक के अनुसार नित्यमनस् इन्द्रिय ही आत्मा है क्योंकि कभी इन्द्रियादि के अभाव में भी मन का अस्तित्व बना रहता है। जैसे चक्षुरिन्द्रिय के नष्ट हो जाने पर भी उसके द्वारा देखे गये पदार्थों का भान होता है।[1]

चार्वाक का एक अन्य सम्प्रदाय प्राण को ही आत्मा स्वीकार करताहै– "प्राण एव आत्मा"। वार्हस्पति सूत्र ३८। शरीर में प्राण की ही प्रधानता है क्योंकि इस प्राणवायु के निकल जाने पर शरीर, इन्द्रियां तथा मन निष्क्रिय हो जाते हैं। श्रुति भी कहती है–

"अन्योतर आत्मा प्राणमयः" (तै० ३०२/२/१)।

चार्वाक् "चैतन्य विशिष्ट देह ही आत्मा है" इस तथ्य के प्रति दृढ़ तर्क देते हैं कि यदि शरीर से भिन्न कोई आत्मा है जो शरीर से निकलकर परलोक चला जाता है तो वह अपने बन्धु–बान्धवों के करूण क्रन्दन को सुनकर वापस क्यों नहीं आता है जब कि आ जाना चाहिये।

विद्वानों का मत है कि सभी चार्वाक्, आत्मा और शरीर की अभिन्नता में विश्वास नहीं करते हैं ये लोग चार्वाक् को दो रूपों में वर्गीकृत करते हैं–

१– धूर्त चार्वाक्, २– सुशिक्षित चार्वाक्।

---

[1] इतरेन्द्रिया हा भावेऽसत्वात् मन एवात्मा।।३७।।

धूर्त चार्वाक् आत्मा और शरीर की अभिन्नता को मानते हैं जबकि सुशिक्षित नहीं। चार्वाक् मानता है कि आत्मा अमर नहीं है शरीर नाश से आत्मा का नाश है वर्तमान जीवन के अतिरिक्त और कोई दूसरा जीवन नहीं है। पुनर्जन्म को मानना निरर्थक है।

नैतिक विचार

भारतीय दर्शन में अर्थ, काम, धर्म और मोक्ष ये चार पुरूषार्थ माने गये हैं, ये चारों जीवन के चरमलक्ष्य हैं। अतएव इसे निःश्रेयस् भी कहते हैं। इन चारों में आस्तिक धर्म और मोक्ष को पुरूषार्थ मानते हैं और नास्तिक लोग अर्थ और काम को **"अर्थकामौ पुरूषार्थे"**। (वार्ह०सू० २७)

चार्वाक् दर्शन केवल 'काम' को ही पुरूषार्थ मानता है "काम एवैकः पुरूषार्थः।" क्योंकि अर्थ काम का सहायक है इसलिये ये लोग अर्थ की सत्ता भी स्वीकार करते हैं। चार्वाक् दर्शन का सिद्धान्त 'सुखवादी' सिद्धान्त कहलाता है, स्वेच्छारपूर्वक सुखमय जीवन व्यतीत करना ही पुरूषार्थ हैं अपने पास द्रव्य न रहने पर भी कर्ज लेकर घी पीना चाहिये, कर्ज को लौटाने की चिन्ता व्यर्थ है क्योंकि शरीर के भस्म होने पर जीव लौटकर आने वाला नहीं।

"यावत् जीवेत सुखं जीवेत ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्।
भस्मीभूतस्य देहस्य किं पुनरागमनं कुतः।।

(बार्हस्प० सूत्र)

कुछ लोगों का तथा श्रुतियों का मत है कि सुख भोग क्षणिक होता है अतः मिथ्या है किन्तु इसके उत्तर में चार्वाक् कहते हैं कि ऐसा मानना ठीक नहीं है क्योंकि मालती कुसुम की आयु, किंशुक के समान दीर्घनहीं होती तब भी उसे कोई मिथ्या मानकर त्याग नहीं देता है। कुछ लोगों का कहना है कि सुख दुःख से मिश्रित है अतः

त्याज्य है इसपर चार्वाक का कहना है कि कोई भी चतुर व्यक्ति अन्न खाना इसलिये नहीं छोड़ देता है कि उसमें भूसा लगा है।[1]

चर्वाक परलोक का भी निराकरण करता है। चार्वाक के मत में स्वर्ग और नरक का विचार कल्पना मात्र है क्योंकि चार्वाक के मत में जब शरीर से भिन्न आत्मा ही नहीं है तब स्वर्ग–नरक की प्राप्ति किसे होगी। चार्वाकों का आरोप है कि ब्राह्मणों ने अपने हित और जीवन निर्वाह के लिये स्वर्ग और नरक का भय पैदा किया है जिससे वह अपनी प्रभुता को स्थापित करने में सफल रहें। चार्वाक मानते हैं कि स्वर्ग और नरक का प्रत्यक्षीकरण नहीं होता है अतः इसका अस्तित्व नहीं है। चार्वाकों का विचार है कि यदि थोड़ी देर के लिये स्वर्ग और नरक का अस्तित्व मान भी लें तो वह स्वर्ग और नरक इसी संसार में निहित है। इस संसार में जो व्यक्ति सुःखी है वह स्वर्ग में है और जो दुःखी है वह नरक में है। इसलिये चार्वाक मानते हें "सुखमेव स्वर्गम्" "दुःखमेव नरकम्"। अतः इस लोक के अतिरिक्त किसी पारलौकिक जगत की कल्पना करना व्यर्थ है।

चार्वाक दर्शन ईश्वर की सत्ता का भी निषेध करता है। और आध्यात्मिक धार्मिक तथा नैतिक मूल्यों को मानसिक भ्रान्ति कहता है। अतः चार्वाक उनके रक्षक के रूप में ईश्वर की आवश्यकता अनुभव नहीं करता है। चार्वाक का मानना है कि सृष्टि का कारण कोई नहीं हो सकता है यह सृष्टि स्वभावतः ही होती है चारों मूल भौतिक पदार्थ आपस में मिलकर समस्त जगत के पदार्थ को उत्पन्न करते हैं।

चार्वाक् ज्ञान मीमांसीय तर्क से खण्डन करते हुये कहता है कि, ईश्वर का ज्ञान प्रत्यक्ष के द्वारा नहीं होता है अतः ईश्वर का अस्तित्व नहीं है। चार्वाक ईश्वर को वेद प्रमाणित भी स्वीकार नहीं करता है क्योंकि उसके मत में वेद प्रामाणिक नहीं है अतः वेद में वर्णित ईश्वर का विचार भी प्रामाणिक नहीं है। आधुनिक वैज्ञानिक भौतिकवाद

---

[1] त्याज्यं सुखं विषय . ...ब्रीहिन जिहासहति सितोत्ततमण्डुलाद्यान्

की दृष्टि से देखने पर दर्शन की हमारी यह प्राचीन लोकायत् प्रणाली, स्पष्ट ही अनेक त्रुटियों से भरी थी। वह एक किस्म के स्वयंस्फूर्त और सीधे–सादे भौतिकवाद का स्वरूप थी। किन्तु प्राचीन भारत के इस भौतिकवाद नें प्रकृति और संसार के बारे में हमारे ज्ञान के प्रथम तत्व को मोटे तौर से प्रकट किया था। यद्यपि इसका कोई ठोस वैज्ञानिक आधार नहीं था तो भी इसने सामाजिक प्रगति का मार्ग प्रशस्त किया। इस दर्शन नें अन्धविश्वास और मानवीय क्रियाकलापो में दैवी हस्तक्षेप के विचारों को ठुकराया।

इस प्रकार लोकायत दर्शन एक प्रगतिशील और आशावादी दर्शन था। यह दर्शन न केवल परिकल्पना के महान सृजनात्मक प्रयासों के लिये बल्कि जनता की भौतिक खुशहाली और सांस्कृतिक प्रगति के लिये भी रास्ता तैयार किया।

जैन दर्शन

जैन दर्शन भारतीय दर्शन के विशाल परिवार का एक विशिष्ट सदस्य है, जिसे विद्वान जैनाचार्यों ने चिन्तन, मनन, आलोचन प्रत्यालोचन आदि अनुशीलन के विविध प्रकारों का आहार दे ऐसा पुष्ट और बलवान ऐसा समृद्ध और सम्पन्न बनाया है जिससे वह अनन्त काल तक जिज्ञासु जनों का मनस्तोष करता रहेगा।

नास्तिक दर्शन की परम्परा में चार्वाक दर्शन के उपरान्त जैन दर्शन का महत्वपूर्ण स्थान है। जिस समय भारतवर्ष में बौद्ध दर्शन का विकास हो रहा था। दोनों ही दर्शन छठीं शताब्दी में विकसित होने के कारण समकालीन दर्शन कहे जाते हैं। किन्तु दोनों दर्शनों में अनेक मौलिक अन्तर विद्यमान होने पर भी ये दोनों धर्म अपने बाह्य रूप में समान लगते हैं। कारण इसका यह है कि ये दोनों धर्म ब्राह्मण धर्म से पृथक हैं और दोनों भिक्षुओं के धर्म के रूप में प्रसिद्ध हैं।

जिस प्रकार विष्णु को देवता मानने वाले अपने को 'वैष्णव' कहते हैं और शिव को शक्ति मानने वाले अपने को 'शाक्त' कहते हैं उसी प्रकार 'जिन' को देवता मानने

वाले को 'जैन' कहते हैं। तथा उनके द्वारा अपनाये गये धर्म को जैन धर्म कहते हैं।'जिन' शब्द का अर्थ है 'जीतने वाला' अर्थात जो व्यक्ति अपने इन्द्रियों पर तथा सभी प्रकार के विकारों पर विजय प्राप्त कर लिया हो उसे 'जिन्' कहते हैं। 'जिन' लोग स्वभाव सिद्ध, जन्म सिद्ध, शुद्ध, बुद्ध, भगवान नहीं होते हैं। वरन् साधारण प्रांणिमात्र की तरह जन्म ग्रहण करते हैं तथा सभी विकारों पर विजय प्राप्त कर परमात्मा बन जाते हैं, अर्थात् ईश्वरत्व को प्राप्त होते हैं। ऐसे वीतराग व्यक्ति ही 'जिन' हैं तथा इसके द्वारा उपदिष्ट धर्म 'जैन धर्म' कहलाता है।

जैन अनुश्रुति के अनुसार जैन धर्म के आदि प्रवर्तक 'ऋषभदेव' थे और इन्हीं से जैन धर्म तथा परम्परा का प्रारम्भ है भगवान ऋषभदेव को जैन ग्रन्थों के अनुसार 'जिन' या तीर्थंकर मानते हैं। सम्पूर्ण जैनधर्म तथा दर्शन ऐसे ही चौबीस तीर्थंकरों की वाणी या उपदेश का संकलन मात्र है इन तीर्थंकरों की परम्परा में भगवान ऋषभदेव को आद्य तथा पार्श्वनाथ को २३वां और भगवान महावीर को अन्तिम तीर्थंकर माना जाता है जैन आचार्य परम्परा में जो चौबीस तीर्थंकर हुये हैं उनका नाम इस प्रकार है—आदिनाथ (ऋषभदेव), अजितनाथ, संभवनाथ, अभिनन्दन, सुमतिनाथ, पद्मप्रभु, सुपार्श्वनाथ, चन्द्रप्रभ, सुविधिनाथ, शीतलनाथ, श्रेयांसनाथ, वासुपूज्य, विमलनाथ, अनन्तनाथ, धर्मनाथ, शान्तिनाथ, कुन्थुनाथ, अरनाथ, मल्लिनाथ, या मल्ली देवी, मुनि सुवृत्, रमिनाथ, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ तथा महावीर। इसी आचार्य परम्परा के द्वारा जैन सिद्धान्त अनादि काल से सुरक्षित है।

चौबीसवें तथा अन्तिम जैन तीर्थंकर वर्धमान महावीर का जन्म आज से लगभग २५३३ वर्ष पूर्व ईसा पूर्व ५४० में तत्कालीन वैशाली जनपद के कुण्ड ग्राम में हुआ था। उनके पिता सिद्धार्थ एक लिच्छवी राजा थे तथा माता त्रिशला विदेह के राजा की बहन थी । जन्म के पूर्व माता ने १४ अति शुभ स्वप्न देखे थे[१] । बुद्ध की महावीर के बचपन

[१] भबावन महाबीर की वाणी— प्रकाशन

का नाम वर्द्धमान था। ये राजवंश के थे। तीस वर्ष की अवस्था में परिव्राजक हुये और केवल ज्ञान की प्राप्ति के लिये वृत्तों का पालन करते हुये इन्होंने कठोर तपस्या की और इनका मनोरथ सफल हुआ और यह सर्वज्ञ हो गये। तभी से ये महावीर के नाम से प्रसिद्ध हुये तीस वर्ष तक धर्म प्रचार कर ७२ वर्ष की अवस्था में इन्होंने पावा नगरी में निर्वाण लाभ किया। इनकी मृत्यु के बाद जैनियों में दो सम्प्रदाय हो गये–एक **श्वेताम्बर** दूसरा **दिगम्बर**। श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार महावीर का विवाह हुआ था तथा उनकी एक कन्या थी। लेकिन दिगम्बर मान्यता के अनुसार महावीर का विवाह नहीं हुआ था। वे अन्तर्मुखी प्रकृति के थे तथा सदा आत्मचिन्तन में निमग्न रहा करते थे।

भगवान महावीर के उपदेशों से जैन धर्म के द्वादशांग रूप शास्त्रों की रचना हुई है। भगवान महावीर नें अपनें उपदेश तत्कालीन लोकभाषा अर्धमागधी में दिये थे। उनकी उपदेश सभा समवसरण कहलाती थी तथा उसमें पशु–पक्षी से लेकर देवताओं तक सभी के लिये स्थान रहता था। महावीर नें साधु–साध्वी, पुरूष गृहस्थ भक्त तथा महिला गृहस्थ भक्त (श्राविका) के एक चतुर्विध धर्मसंघ की स्थापना की जो आज भी विद्यमान है।

महावीर के पूर्व पार्श्वनाथ थे जिन्होंने बहुत से कठोर नियमों का पालन कर अन्तःकरण की शुद्धि के लिये अपने शिष्यों को उपदेश दिया था। पार्श्वनाथ के उपदेशों के आधार पर महावीर ने अपना कर्त्तव्य निश्चय किया। महावीर नें कहा कि साधुओं को भी इन्द्रिय निग्रह कर कठोर रूप से ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिये तथा संसार से निर्लिप्त रहना चाहिये। और अन्ततः सभी साधुओं को भी दिगम्बर रहने का आदेश दिया। ऐसा आदेश देने के पीछे कारण यह था कि उनके अनुसार जब तक साधु लोग वस्त्र का भी परित्याग नहीं कर देंगे तब तक उनके मन से अच्छे तथा बुरे का विचार दूर नहीं हो सकेगा एवं वे लोग निर्लिप्त न हो सकेंगे। इस तरह के उपदेश से ही जैन

धर्म में दो विभाग हुये श्वेताम्बर–दिगम्बर। किन्तु इन दोनों सम्प्रदायों में (विभागों से) इनके बाह्य रूप में ही भेद हुआ किन्तु तात्विक विचार में कोई परिवर्तन न हुआ।

साहित्य

आचार्य स्थूलभद्र के प्रयास से पाटलिपुत्र की सभा में धार्मिक ग्रन्थों का जो संग्रह हुआ था, वह मान्य नहीं हुआ। अतएव ४५४ ई० में भावनगर में (गुजरात के समीप) वल्लभी में देवार्धिगण की अध्यक्षता में दूसरी सभा हुई और उसमें इन ग्रन्थों के संग्रह के लिये विचार किया गया। भगवान महावीर ने जो भी उपदेश दिया था उसको उनके गणधरों ने ग्रन्थ रूप में रचा। महावीर के प्रधान गणधर गौतम इन्द्रभूति थे उन्होंने महावीर के उपदेशों को वारह अंग और चौदह पर्व के रूप में निबद्ध किया। यह श्रुत अंग प्रविष्ट और अंग बाह्य रूप से दो भागों में बंटा है। अंग प्रविष्ट श्रुत 'द्वादशांग श्रुत' कहलाता है। आगम् ग्रन्थों से जानकारी प्राप्त होती है। देवराजसूरि नें जो दिगम्बर सम्प्रदाय के एक बड़े तार्किक माने जाते हैं इन्होंने 'एकीभावस्त्रोत' लिखा। मल्लिषेणसूरि ने स्याद्मञ्जरी की रचना की। यशोविजय, हेमचन्द्र, देवसूरि, वादिराजसूरि गुणरत्न आदि अनेक जैन साहित्य के आचार्य कवि थे।

जैन दर्शन के सिद्धान्त

जैन दर्शन के महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त संक्षेप में इस प्रकार हैं–

अनकान्तवा ·

जैन दर्शन की मुख्य विशेषता इस बात में है कि वह नितान्त निष्पक्ष दृष्टि से वस्तु को देखने का प्रयत्न करता है। वह वस्तु के कतिपय अंश को ही देखकर संतुष्ट नहीं हो जाता है बल्कि उसको समग्र रूप से देखना चाहता है। हरिभद्रसूरि के वचनों में जैन दर्शन की यह धारणा है कि–

"आग्रहीवत् निनीषति युक्तिंतत्र, यत्र मतिरस्य निविष्टा।।
पक्षपातरहितस्यातु युक्तिर्यत्र तत्र मतिरेनि निवेशम्।।

किसी आग्रही मनुष्य की बुद्धि एक बार जब किसी बात को पकड़ लेती है तब उसी की पुष्टि में वह युक्तियों के प्रयोग का सहारा लेता है किन्तु जो निष्पक्ष और अनाग्रही होता है उसकी बुद्धि युक्ति का अनुगमन करती है। इस प्रकार युक्तियों के माध्यम से जो वस्तु का स्वरूप प्रकट होता है, निष्पक्ष विचारक उसी को स्वीकार करता है।

जैन दर्शन यह मानता है कि प्रत्येक वस्तु अनन्त धर्मात्मक होती है–"अनन्त धर्मात्मकमेव तत्वम्"। इसलिये किसी मनुष्य के स्वरूप ज्ञान के लिये उसके देशकाल–जाति, जन्म, धर्म–वर्ग आदि सत्तात्मक धर्मों का ज्ञान आवश्यक है। पुनः उस मनुष्य के निषेधात्मक गुणों की भी जानकारी अत्यन्त अपेक्षित है। प्रत्येक पदार्थ के तीन लक्षण सामान्य रूप से होते हैं– उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य। इस प्रकार द्रव्य नित्यानित्य है सत् और असत् दोनों हैं। जो धर्म जिस पदार्थ में विद्यमान होता है उन्हें उस पदार्थ का स्वपर्याय कह जाता है और जो धर्म नहीं रहता है उसे पर्याय कहा जाता है। इस प्रकार वस्तुतः अनन्त धर्मों का आस्पद होती है।

स्याद्वाद

पदार्थ का अनेकान्त रूप जिस पद्धति से ज्ञात होता है उसे स्याद्वाद कहा जाता है जिसे सप्तभंगीनय के रूप में प्रस्तुत किया जाता है–सप्तभंगीनय के सात अंग होते हैं–जैसे–

१– (घटः) स्यादस्ति– घट् कथंचित–किसी अपेक्षा से–किसी रूप से है।

२– (घटः) स्यान्नास्ति– घट् कथंचित् नहीं है।

३– (घटः) स्यात् अस्ति च, नास्ति च–घट् कथंचित् है भी–कथंचित् नहीं भी है।

४– (घटः) स्याद् वक्तव्य–घट् कथंचित अवक्तव्य–अनिर्वाच्य है।

५– (घटः) स्यात् अस्ति च, अवक्तव्यश्च–घट् कथंचित् अस्तित्ववान् और अवक्तव्य है।

६– (घटः) स्यान्नास्ति च अवक्तव्यश्च–घट् कथंचित–अस्तित्वशून्य और अवक्तव्य है।

७– (घटः) स्यात् अस्ति च, नास्ति च, अवक्तव्यश्च– घट् कथंचित् अस्तित्वयुक्त, अस्तित्वशून्य और अवक्तव्य है।

इन विरोधी धर्मों की विवक्षा 'स्यात्' से ही संभव है। इस दर्शन में यह माना गया है कि एक वस्तु को जो व्यक्ति पूरी तरह जानता है वह सारे वस्तुओं का ज्ञाता है और जो सारे वस्तुओं का ज्ञाता है वही एक वस्तु का पूर्ण ज्ञाता होता है।[1]

द्रव्य विचार

'गुण पर्यायवद् द्रव्यम्'। जिसमें 'गुण' व 'पर्याय' हो वह द्रव्य है। जैन दर्शन में सात पदार्थ माने गये हैं– जीव, अजीव, आसव, बन्ध, सम्वर, निर्जरा, मोक्ष।

जैनों के मतानुसार द्रव्य का विभाजन दो वर्गों में हुआ है १– अस्तिकाय, २– अनस्तिकाय। काल ही ऐसा द्रव्य है जिसमें विस्तार नहीं है। और काल को छोड़कर सभी द्रव्यों को अस्तिकाय द्रव्य कहा जाता है। अस्तिकाय का विभाजन जीव और अजीव में होता है।
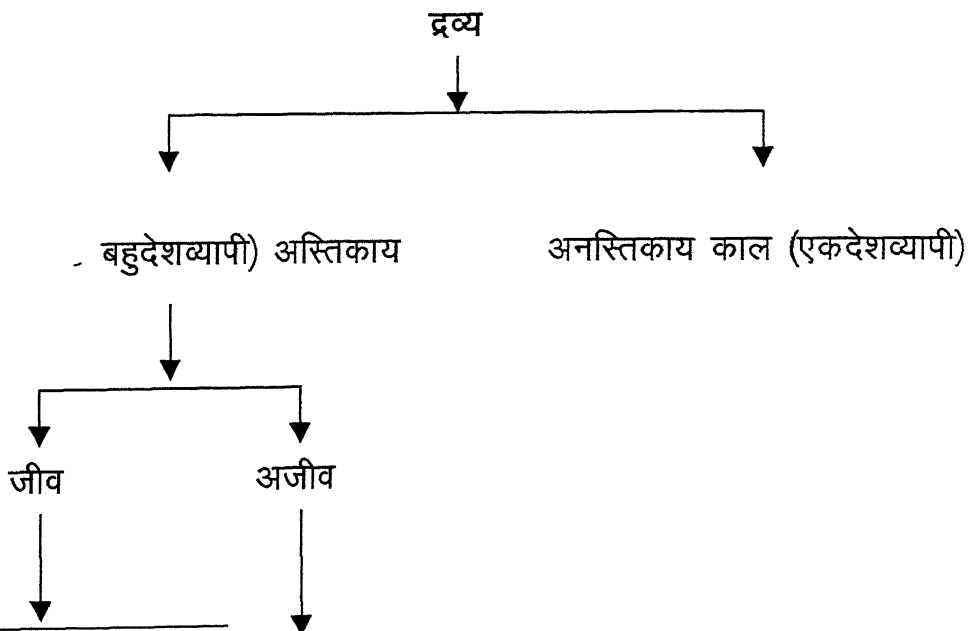
[1] एको भावः सर्वथा येन द्रष्टः सर्वे भावा सर्वथा तेन द्रष्टा। सर्वेभावा. सर्वथा येन द्रष्टा एकोभाव सर्वथा तेन द्रष्टाः।। (षडदर्शन समु० टीका पृ० २३२)
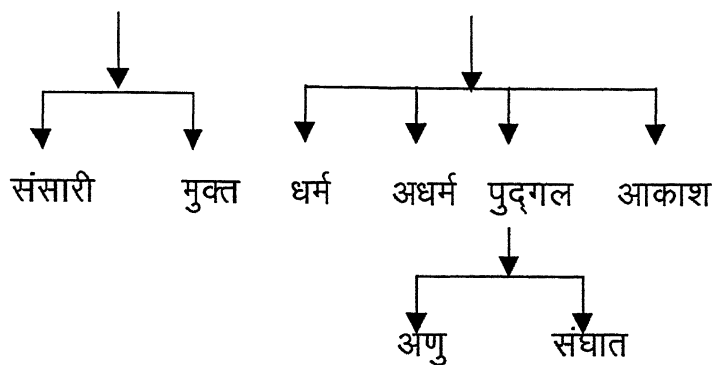
जीव – जीव एक चेतन द्रव्य है जो शरीर, इन्द्रिय, मन, प्राण और पौदगलिक आठ घाती कर्मों से अनादि काल से आवृत्त है। ये चेतन द्रव्य ही ऐसा है जिसके कारण मनुष्य, पशु–पक्षी आदि सभी प्राणियों का वास्तविक स्वरूप है अनन्त ज्ञान, अनन्त वीर्य, अनन्तश्रद्धा और अनन्त सुख से युक्त होती है। इसी को 'अनन्त चतुष्टय' भी कहते हैं। यह आत्मा की शुद्ध अवस्था का द्योतक है। किन्तु जब पुदगल[1] से सम्बन्धित हो जाता है तब 'जीव' कहलाता है। जीव संसारी है और आत्मा स्वयंप्रकाश है और अन्य वस्तुओं को भी आलोकित करता है। आत्मा नित्य और चेतन है यह जगह नहीं घेरता है। इसीलिये 'जीव' की परिभाषा इन शब्दों में दी गयी है– 'चेतना लक्षणेजीवः'। यह जैनों का जीव विचार न्यायवैशेषिक से भिन्न है, क्योंकि न्याय वैशेषिक में 'चैतन्य' को आत्मा का 'आगन्तुक लक्षण' माना गया है। आत्मा का शुद्ध रूप इन आठ प्रकार के कर्मों से ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय, वेदनीय, आयुष्य, नाम, गोत्र और अन्तराय से आवृत्त होने के कारण इस संसार दशा में तिरोहित रहता है। सम्यग् दर्शन, सम्यग् ज्ञान और सम्यग् चरित्र के निष्ठापूर्वक सतत् देखने से जब घाती समस्त कर्मों का पूर्णतया क्षय या विनाश हो जाता है तब मोक्षावस्था में जीव के इस नैसर्गिक निर्मल स्वरूप का प्राकट्य होता है। जीव दो प्रकार के होते हैं– **मुक्त** और **बद्ध**।

जिन्होंने मोक्ष प्राप्त कर लिया, वे मुक्त कहलाते हैं। ये अनन्त चतुष्टय से सम्पन्न होकर निरन्तर उर्ध्व गतिशील रहता है। और जो 'बन्धन' में होता है वह 'बद्ध

[1] पूर्यन्तं गलन्तीति पुद्गलाः।

जीव' कहलाता है 'बद्ध जीव' भी दो प्रकार का होता है– **'त्रस'** और **स्थावर**। 'त्रस' जीव गतिमान और स्थावर गतिहीन होते हैं। जीव अपने आयतन भूत शरीर के अनुसार दीपक प्रकाशवत संकोच–विकास प्राप्त करता है जिससे हस्ति शरीर में पहुंचकर हस्ति परिणाम और पुत्तिका शरीर में पुत्तिका परिणाम का बन जाता है। किन्तु ऐसा मानना ठीक नहीं है क्योंकि इससे छतादिगत प्रदीप प्रकाशवत् चींटी के शरीर में जीव की महानता तथा गृहगत् प्रदीप प्रकाशवत् हस्त के शरीर में अल्पचेतना उत्पन्न होगी तथा शरीर मात्र परिच्छिन्न जीव अवयवों के आनन्त्य की कल्पना करनी होगी जो सम्भव नहीं।

अजीव – चैतन्यहीन द्रव्य 'अजीव' है। इसके पाँच भेद हैं– पुद्गल, आकाश, काल, धर्म और अधर्म। पुदगल के दो भेद हैं–अणु रूप और संघातरूप। इन दोनों में स्पर्श, रस, गन्ध तथा रूप गुणों का अस्तित्व होता है। जैन दर्शन में शब्द और कर्म को पौदगलिक–पुद्गल जन्य माना जाता है।

आकाश

आवरण का अभाव ही 'आकाश' है। अस्तिकाय– मूर्त्तद्रव्यों को प्रवेश और निर्गम के लिये अवकाश देने वाला पदार्थ आकाश है। आकाश दो प्रकार का होता है–लोकाकाश और अलोकाकाश। लोकाकाश में जीव, पुद्गल, धर्म और अधर्म निवास करते हैं। जगत के बाहर जो अन्य भाग है अलोकाकाश है।

काल– पदार्थ के विविध परिणामों का निमित्तभूत पदार्थ काल है। इसके दो भेद हैं – १–व्यवहारिक। २–परमार्थिक।

व्यवहारिक काल अनित्य होता है और परमार्थिक काल नित्य होता है। काल 'अनस्तिकाय' कहा जाता है क्योंकि यह स्थान नहीं घेरता है।

धर्म और अधर्म– द्रव्यों को गतिशील बनाने में सहायक पदार्थ को धर्म कहा जाता है। और अधर्म–धर्म का प्रतिलोम है। पदार्थों के गति का अवरोधक पदार्थ 'अधर्म' है।

आश्रव— चूँकि जीव अपने शुभ–अशुभ कर्मों के अनुसार ही पुद्गल कणों को आकृष्ट करता है, इसलिये आकृष्ट पुद्गल–कण को 'कर्म–पुद्गल' कहा जाता है। उस स्थिति में जब कर्म–पुद्गल आत्मा की ओर प्रवाहित होते हैं उसे 'आश्रव' कहा जाता है।

बन्ध— आश्रव से जीव अपने स्वरूप को भूल जाता है और 'बन्धन' की ओर ले जाता है। जब वे पुद्गल–कण जीव में प्रविष्ट हो जाते हैं तब उस अवस्था को बन्धन कहा जाता है। बन्धन दो प्रकार का होता है – १– भाव बन्धन, २– द्रव्य बन्धन

जब आत्मा में चार प्रकार की कुप्रवृत्तियाँ प्रविष्ट कर जाती हैं त्यों ही आत्मा बन्धन को प्राप्त होती है इसी को 'भाव–बन्ध' कहते हैं और जब जीव का पुद्गल से संयोग होता है तो 'द्रव्य–बन्ध' कहलाता है।

सम्वर—जीव और कर्म के सम्बन्ध का उदय जिस साधन से प्रतिरुद्ध होता है, वह सम्वर है। नये पुद्गल के कणों को जीव की ओर प्रवाहित होने से रोकना 'संवर' कहा जाता है।

निर्जरा— जिस साधन से जीव और कर्म के सम्बन्ध की निवृत्ति होती है, वह 'निर्जरा' है। पुराने पुद्गल के कणों का क्षय 'निर्जरा' कहा जाता है इस प्रकार आगामी पुद्गल के कणों को रोककर तथा संचति पुद्गल के कणों को विनष्ट कर जीव कर्म पुद्गल से मुक्त हो जाता है।

मोक्ष— जीव के स्वरुप को आवृत्त करने वाले समस्त कर्मों का क्षय ही 'मोक्ष' है। जैन दर्शन में मोक्षानुभूति के लिये सम्यक ज्ञान, सम्यक दर्शन और सम्यक चरित्र अर्थात् त्रिरत्न को आवश्यक माना गया है। **सम्यक दर्शन–ज्ञान चरित्राणि मोक्षमार्गः** ।[1]

मोक्ष के लिये त्रिरत्न के साथ–साथ 'पंच–महाव्रत' का पालन भी आवश्यक है। बौद्ध धर्म में इसे 'पंचशील' के नाम से अभिहित किया गया है। ये महाव्रत हैं— अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह।

---

[1] तत्वार्थधिगम, सूत्र–१,२–३।

१. **अहिंसा–** 'ज्ञानी होने का सार यही है, कि वह किसी भी प्राणी की हिंसा न करे इतना जानना ही पर्याप्त है, कि अहिंसामूलक समता ही धर्म है अथवा यही अहिंसा का विज्ञान है।' सभी जीव जीना चाहते हैं, मरना नहीं। इसलिये प्राणवध कोभयानक जानकर निर्ग्रन्थ उसका वरण करते हैं। जीव का वध अपना ही वध है। जीव की दया अपनी ही दया है। अतः आत्महितैषी पुरुषों ने जीवहिंसा का परित्याग किया है।

२. **सत्य–** सत्य का अर्थ है मनसा वाचा,कर्मणा असत्य का परित्याग करना। स्वयं अपने लिये तथा दूसरों के लिये क्रोधादि या भय आदि के वश होकर हिंसात्मक असत्य वचनों को न तो स्वयं बोलना चाहिये, न दूसरों से बुलवाना चाहिये।

३. **अस्तेय–** अस्तेय का अर्थ है चोरी का निषेध। ग्राम, नगर अथवा अरण्य में दूसरे की वस्तु को देखकर उसे ग्रहण करने का भाव त्याग देने वाले साधु के तीसरा अचौर्यव्रत होता है।

४. **ब्रह्मचर्य–** इससे तात्पर्य है 'वासनाओं का त्याग' करना। 'ब्रह्मचर्य' का अर्थ साधारणतः इन्द्रियों पर रोक लगाना है।

५. **अपरिग्रह–** अपरिग्रह का अर्थ है 'विषयासक्ति का अभाव'। निरपेक्षभावनापूर्वक चरित्र का भार वहन करने वाले साधु का बाह्याभ्यन्तर, सम्पूर्ण परिग्रह का त्याग करना, पाचवंपरिग्रह त्याग महाव्रत कहा जाता है। इस प्रकार यदि जैन प्रणाली को समग्र रुप से देखें तो हम उसमें पर्याप्त मात्रा में आदर्शवाद पाते हैं किन्तु वह भौतिकवाद के तत्त्वों से भी सम्बद्ध है। यह दर्शन जगत के मूल में अनेक तत्त्वों की सत्ता स्वीकार करता है। बहुतत्ववाद का समर्थक होने के साथ–साथ वास्तववाद का अनुवायी है। जैन मत प्रारम्भ में धर्म के रुप में उदित हुआ किन्तु बाद में यह दर्शन

सर्वदर्शन संग्रह में लिखा गया है कि आस्रव तथा संवर के मोक्षोपयोगी तत्वों का प्रतिपादन ही जैन दर्शन का प्रधान विषय है।[1]

आश्रवोभवर्हतुः स्यात संवरो मोक्षकारणम्। इतीयमार्हती दृष्टिरन्यदस्याः प्रपंचनम् ।।

३. बौद्ध दर्शन

अवैदिक दर्शनों में अन्तिम बौद्ध दर्शन है। बौद्धमत के प्रवर्तक गौतमबुद्ध थे। इस धर्म के उदय होने में सहायक उस समय संभवतः भारत की परिस्थितियां थी। दास प्रथा का प्रचलन अत्यधिक बढ़ गया था। समाज में पुरोहित वर्ग का बौद्धिक, सामाजिक और आर्थिक क्षेत्रों में प्रभुत्व बढ़ रहा था। बौद्ध धर्म का दृष्टिकोण पुरोहित विरोधी था। और यह दर्शन कर्मकाण्ड का विरोध करता था। ब्राह्मण धर्म का हरास बौद्ध धर्म के उदय से शुरू हो गया था।

बौद्ध धर्म के संस्थापक महात्मा बुद्ध का जन्म ईसा की छठी शताब्दी ईसा पूर्व हुआ था इनका जन्म आज के नेपाल की सीमा पर स्थित लुम्बिनी वन में ईसा पूर्व ५६७ में हुआ था। उनके पिता शुद्धोधन शाक्य वंश के राजा थे, उनकी माँ का नाम रानी महामाया था। राजकुमार सिद्धार्थ का मन राजमहल के वैभव और विलास में नहीं लगता था कारण कि उनका हृदय अपने चारों ओर व्याप्त पीड़ा और दुःख के दृश्यों से द्रवित रहता था। २९ वर्ष की आयु में उन्होंने अपने एक वर्ष के पुत्र, पत्नी यशोधरा तथा राजप्रासाद के सुख–भोग को त्याग दिया। इसे 'महाभिनिष्क्रमण' कहते हैं। ३५ वर्ष की अवस्था में गया के समीप बोधिवृक्ष के नीचे कठिन तपस्या करते हुये 'बुद्धत्व' को प्राप्त किये। यहां से मृगदाव (सारनाथ) जाकर पाँच भिक्षुओं को उपदेश दिया जिसे 'धर्मचक्र प्रवर्तन की संज्ञा दी जाती है। और यहीं से बौद्ध धर्म का आरंभ हुआ। भगवान बुद्ध धर्म की शिक्षा जनसाधारण की भाषा 'मागधी' में देते रहे। अन्त में मल्लगणराज्य की राजधानी कुशीनगर (कसया, जिला देवरिया उ० प्र०) में ८० वर्ष की अवस्था में

[1] सर्वदर्शन संग्रह – पृष्ट १४३–३०, प्रो० उमाशंकर 'ऋषि' चौखम्भा विद्याभवन वाराणसी।

निर्वाण प्राप्त किया। किन्तु यह एक अद्भुत संयोग की ही बात कही जा सकती है कि भगवान बुद्ध का जन्म, बोधिप्राप्ति एवं निर्वाण ये तीनों घटनाएं एक ही दिन बैसाख पूर्णिमा को हुई। कुछ ही समय बाद यह धर्म विश्व धर्म बन गया।

बुद्ध ने कोई पुस्तक नहीं लिखी उनके उपदेश मौलिक ही होते थे बुद्ध की मृत्यु के बाद उनके शिष्यों ने उपदेशों का संग्रह 'त्रिपिटक' के रूप में किया। त्रिपिटक अपने मूल रूप में पाली भाषा में लिखे गये हैं। इनमें सुत्त पिटक, अभिधम्म पिटक विनय पिटक हैं।

'सुत्त पिटक' में धर्म सम्बन्धी वर्णन है और 'अभिधम्म पिटक' में बुद्ध के दार्शनिक विचारों का उल्लेख है और 'विनयपिटक' में नीति सम्बन्धी वर्णन है। त्रिपिटक के अलावा मिलिन्दपन्हो, बुद्धचरित (अश्वघोष) से भी बौद्ध धर्म की जानकारी प्राप्त होती है। बुद्ध एक समाज सुधारक थे दार्शनिक नहीं थे क्योंकि दार्शनिक वही होता है जो आत्मा–जीव जगत आत्मा–परमात्मा आदि के विषय में सतत चिन्तन में क्रियाशील रहता है किन्तु बुद्ध दर्शनशास्त्र से सम्बन्धित किसी प्रश्न पर 'मौन' रहा करते थे 'अव्याकतानिप्रश्नानि' कहकर टाल जाते थे ऐसे १० प्रश्न थे।

१. क्या यह विश्व शास्वत है?

२. क्या यह विश्व अशास्वत है?

३. क्या यह विश्व असीम है?

४. क्या यह विश्व ससीम है?

५. क्या आत्मा और शरीर एक है?

६. क्या आत्मा शरीर से भिन्न है?

७. क्या मृत्यु के बाद तथागत का पुनर्जन्म होता है?

८. क्या मृत्यु के बाद तथागत का पुनर्जन्म नहीं होता है?

९. क्या उनका पुनर्जन्म होना और न होना दोनों ही बाते सत्य हैं?

१०. क्या उनका पुनर्जन्म होना और न होना दोनों ही बाते असत्य हैं?

इसमें चार प्रश्न विश्व से, दो आत्मा से, चार प्रश्न 'तथागत' से सम्बन्धित है। बौद्ध दर्शन में 'तथागत' निर्वाण प्राप्त व्यक्ति को कहा जाता है।

बौद्ध दर्शन के सिद्धान्त

बौद्ध दर्शन के मुख्य सिद्धान्त संक्षिप्त रूप में निम्नवत् है–

चार आर्यसत्य– भगवान् बुद्ध के सारे उपदेश इन्हीं चार आर्य सत्यों में सन्निहित हैं। ये चार आर्यसत्य इस प्रकार हैं–

१. संसार में दुःख है।
२. दुःखों का कारण है।
३. दुःखों का निरोध संभव है।
४. दुःखों के निरोध का मार्ग है।

इन्हीं चार आर्य सत्य को अन्य शब्दों में दुःख, दुःख समुदाय दुःख निरोध और दुःख निरोधगामिनी प्रतिपदा क्रमशः कहा गया है। ये चार आर्य सत्य 'मज्झिम निकाय' में वर्णित है। बुद्ध का प्रथम आर्यसत्य है– संसार दुःखमय है, सब कुछ दुःखमय है (सर्व–दुखं दुःखम्) "जन्म में दुःख है, नाश में दुःख है रोग दुःखमय है, मृत्यु दुःखमय है, अप्रिय से संयोग दुःखमय है और प्रिय से वियोग दुःखमय है संक्षेपतः से उत्पन्न पन्चस्कन्ध दुःखमय है।[१]

ये चारो आर्य सत्य प्रामाणिक है और आर्य–पुरूषों को भी मान्य है क्योंकि दुःख के अस्तित्व में किसी का मतभेद नहीं है क्योंकि इसका अनुभव प्रत्येक प्राणीमात्र को होता है। बौद्ध धर्म के चार आर्यसत्य के समान योगशास्त्र में महर्षि व्यास ने अध्यात्म क्षेत्र में कहा है कि "अध्यात्मशास्त्र भी चिकित्साशास्त्र की तरह चतुर्व्यूह है। अध्यात्मक्षेत्र में संसार है, (दुःख), संसार हेतु (दुःख समुदाय), मोक्ष (दुःख निरोध) और मोक्षेपाय (दुःख निरोधका उपाय) ये चार सत्य हैं। बुद्ध का द्वितीय आर्यसत्य है दुःख समुदाय अर्थात

[१] मज्झिम निकाय (१:५:४)।

संसार में दुःख ही मात्र नहीं है बल्कि इस दुःख का कारण भी है। बिना कारण के कार्य नहीं होता है।

बौद्ध दर्शन में दुःख के द्वादश हेतु बताये गये हैं। यह प्रतीत्यसमुत्पाद चक्र ही दुःख समुदाय का कारण है और अविद्या इसकी मूल जननी है। प्रतीत्यसमुत्पाद को पाली भाषा में 'पाटिच्चसमुत्पाद' कहा जाता है। प्रतीत्यसमुत्पाद से तात्पर्य है कि– 'अस्मिन् (कारणे), सति, इदं (कार्य) भवति। अर्थात् कारण विद्यमान होने पर कार्य की अवश्यमेव सिद्धि होती है। जो उत्पन्न होता है वह कार्य होता है कार्य वस्तुतः सापेक्ष होता है और न यह सत् होता न असत् होता है केवल 'प्रतीति' होती है। परमार्थिक दृष्टि से प्रतीत्यसमुत्पाद प्रपञ्चोपाशम, शिव और अमृत यह निर्वाण है। इसलिये भगवान बुद्ध ने स्वयं प्रतीत्यसमुत्पाद को 'बोधि' कहकर सम्बोधित किया है।

बौद्ध दर्शन में वर्णित द्वादशनिदाकडिया भूत वर्तमान तथा भविष्य के जीवनों से सम्बद्ध है। भूतकालीन जीवन से सम्बद्ध कड़ियां हैं–'भव', 'जाति', 'जरामरण। शेष सात का सम्बन्ध वर्तमान जीवन से है। इस प्रतीत्यसमुत्पाद को तालिका के द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है–

१. अविद्या	२. संस्कार	३. विज्ञान
४. नामरूप	५. षडायतन	६. स्पर्श
७. वेदना	८. तृष्णा	६. उपादान
१०. भव	११. जाति	१२. जरामरण

३. तृतीय आर्य सत्य– तृतीय आर्यसत्य है दुःख निरोध। यदि दुःख के कारण का अन्त हो जाय तो दुःख का भी अन्त अवश्य होगा। जब कारण नहीं रहेगा तब कार्य कैसे हो सकता है? वह अवस्था जिसमें दुःखों का अन्त होता है "दुःख निरोध" कही जाती है। दुःख निरोध को बुद्ध ने 'निर्वाण' कहा है। निर्वाण और परिनिर्वाण में अन्तर उपनिषदों के जीवन मुक्ति और विदेह मुक्ति की तरह है।

निर्वाण में जीवन का अन्त नहीं होता है अपितु यह जीवन काल में ही प्राप्त होता है और 'परिनिर्वाण' का अर्थ है मृत्यु के उपरान्त निर्वाण की प्राप्ति।

४. चतुर्थ आर्य सत्य– चतुर्थ आर्य सत्य को 'दुःख निरोध गामिनी प्रतिपद' अर्थात् दुःख निरोध मार्ग कहा गया है। दुःख निरोध मार्ग को बुद्ध दर्शन में "अष्टांग मार्ग" कहा गया है। इस 'अष्टांगिक मार्ग' को बुद्ध ने 'मध्यमा प्रतिपद' कहा है। इस आर्य मार्ग के आठ अंक है– जो इस प्रकार है–

१. सम्यक् दृष्टि, २. सम्यक् संकल्प,

३. सम्यक् वाक्, ४. सम्यक् कर्मान्त,

५. सम्यक् आजीव, ६. सम्यक् व्यायाम,

७. सम्यक् स्मृति, ८. सम्यक् समाधि।

बौद्ध धर्म अष्टांग मार्ग के अलावा त्रिरत्न को भी शील, समाधि और प्रज्ञा को निर्वाण प्राप्ति में अत्यन्त सहायक माना गया है। निर्वाण को पाली भाषा में 'निब्बान' कहा गया है। 'निर्वाण' का अर्थ है 'बुझा हुआ'। इससे आशय है कि निर्वाण की स्थिति में विविध वासनाओं की अग्नि बुझ जाती है तथा मनुष्य के स्वभावगत लोभ, घृणा, क्रोध तथा भ्रम की अग्नि शान्त हो जाती है।

बौद्ध दर्शन में आत्मा को स्थायी न मानकर परिवर्तनशील माना गया है। बुद्ध ने शाश्वत आत्मा का निषेध इन शब्दों में किया है– 'विश्व में न कोई आत्मा और न आत्मा की तरह कोई अन्य वस्तु है। आत्मा विज्ञान का प्रवाह है। बुद्ध का आत्मा सम्बन्धी विचार से अलग है। महात्माबुद्ध ने नित्य आत्मा की सत्ता का निषेध किया है। पुनर्जन्म से तात्पर्य है विज्ञान प्रवाह की अविच्छिन्नता है। जब एक विज्ञान प्रवाह का अन्तिम विज्ञान समाप्त हो जाता है तब अन्तिम विज्ञान का विनाश हो जाता है फिर एक नये शरीर में एक नये विज्ञान का प्रादुर्भाव होता है इसी को बुद्ध ने 'पुनर्जन्म' कहा है।

बुद्ध ने अनात्मवाद के साथ[2] अनीश्वरवाद को भी स्वीकार किया है। ईश्वर विश्व का स्रष्टा नहीं है यह विश्व केवल प्रतीत्य समुत्पाद के नियम से ही संचालित होता है। ईश्वर को मानना हास्यास्पद है।

सम्प्रदाय

बुद्ध के निर्वाण के लगभग १०० वर्ष बाद वैशाली में कालाशोक के समय में सम्पन्न द्वितीय बौद्ध संगीत में ही इस धर्म में मतभेद शुरू हो गये थे। इसी समय बौद्ध धर्म के थेर भिक्षु और महासंघिक भिक्षु में विवाद हुआ और कालान्तर में थेर भिक्षु हीनयान के रूप में और महासंघिक भिक्षु महायान के रूप में प्रसिद्ध हुये। हीनयान अनीश्वरवादी दर्शन है, यह बहुतत्ववादी होने के साथ[2] वस्तुवादी दर्शन भी है। इसमें व्यक्तिगत निर्वाण को महत्व दिया जाता है। इसका आदार्श 'अर्हत' है जबकि इसके विपरीत महायान दर्शन है जो सर्वमुक्ति की कल्पना पर आधारित है और इसका आदर्श बोधिसत्व है।
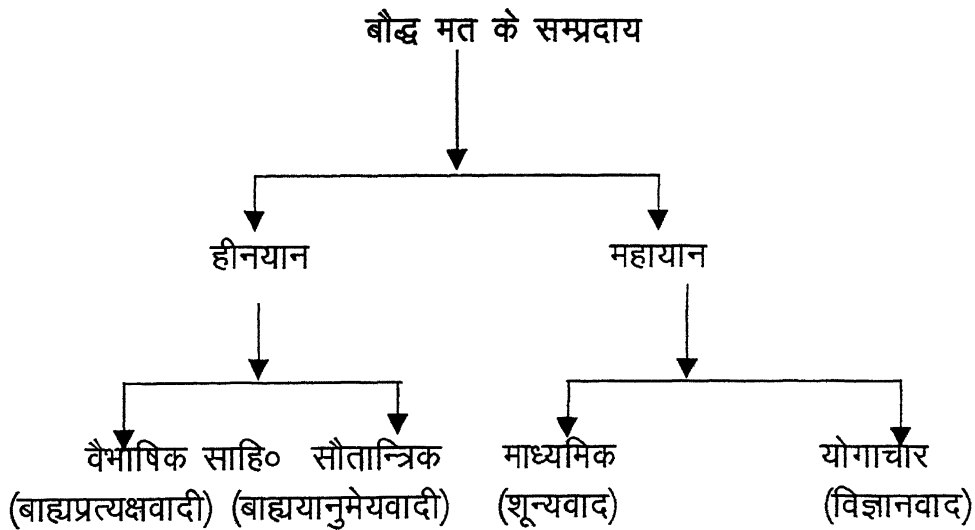
वैभाषिक सम्प्रदाय में बाह्य और अन्तर दोनों प्रकार के पदार्थों की सत्यता स्वीकार की गयी है और दोनों को प्रत्यक्ष माना गया है। इस सम्प्रदाय में रूप, विज्ञान

वेदना, संज्ञा, संस्कार को अर्थात् इन पांचों की समष्टि को मनुष्य का स्वरूप माना गया है। इस सम्प्रदाय में विज्ञान के दो रूप माने गये हैं– १. प्रवृत्ति, २. आलय।

जिस ज्ञान से विभिन्न क्रियाओं में मनुष्य की प्रवृत्ति होती है उसे प्रवृत्ति विज्ञान कहा जाता है और अहमाकार ज्ञान को आलय विज्ञान कहा जाता है। आलय विज्ञान निरन्तर प्रवाहमान रहता है।

'अभिधर्म विभाषाशास्त्र' नामक ग्रन्थ में प्रतिपादित सिद्धान्त को स्वीकार करने के कारण इस सम्प्रदाय को वैभाषिक शब्द से अभिहित किया गया है। वैभाषिक के मतानुसार बाह्य विषयों का ज्ञान प्रत्यक्ष से होता है। बाह्य विषयों को प्रत्यक्ष का विषय मानने के कारण उन्हें 'बाह्य प्रत्यक्षवादी' कहा गया है। वैभाषिक निर्वाण को भावरूप मानते हैं उनके अनुसार इसमें दुःख का पूर्णतः विनाश हो जाता है।

२. सौत्रान्तिक मत

यह हीनयान सम्प्रदाय का ही रूप है। सौत्रान्तिक मत 'सुत्त पिटक' पर आधारित है। इसी कारण इसे सौत्रान्तिक कहा जाता है। जिस सम्प्रदाय में बुद्ध के सूत्रात्मक उपदेशों की व्याख्या को प्रमाण न मानकर सूत्रों का ही प्रमाण माना जाता है और सूत्रों की भाषा से जो सिद्धान्त बुद्धिस्थ होता है उसी सिद्धान्त को बुद्ध द्वारा स्वीकृत सिद्धान्त माना जाता है। उसे ही सौत्रान्तिक कहा जाता है। इस सम्प्रदाय में भी बाह्य और अन्तर दोनों प्रकार के वस्तुओं का अस्तित्व स्वीकार किया गया है किन्तु वैभाषिक से अन्तर मुख्य रूप से यह है कि इसमें बाह्य पदार्थों को प्रत्यक्ष न मानकर अनुमानगम्य माना गया है। किसी को जब कोई ज्ञान उत्पन्न होता है तब उसकी उसे प्रत्यक्ष रूप से अनुभूति होती है यह अनुभूति निराकार रूप में न होकर साकार रूप में होती है। बाह्य विषय मन में प्रतिरूप उत्पन्न करते हैं। वाह्य विषयों के अलग आधार होने से उनके प्रतिरूप अलग होंगे। इस प्रकार वाह्य विषयों का ज्ञान उनसे उत्पन्न

मानसिक आकारों से अनुमान द्वारा प्राप्त होता है। इसलिये इस मत को बाह्यानुमेयवाद कहा जाता है। इस मत को परोक्ष पथार्थवादी भी कहा जाता है।

३. माध्यमिक शून्यवाद

यह महायान सम्प्रदाय का मुख्य उप सम्प्रदाय है। इस सम्प्रदाय के प्रवर्तक नागार्जुन को माना जाता है। नागार्जुन की 'माध्यमिक कारिका' से इस विषय में जानकारी मिलती है। अश्वघोष का 'महायानश्रद्धोत्पाद' शास्त्र नामक ग्रन्थ मूल संस्कृत में उपलब्ध नहीं है। 'सौन्दरानन्द और बुद्धचरित' संस्कृत महाकाव्य उपलब्ध है। इस सम्प्रदाय की यह मान्यता है कि 'सर्वशून्यता ही परमार्थिक है, यथार्थ में न कोई विषय है और न कोई ज्ञान है शून्यता ही वास्तविकता है उसे सत्, असत्, सदसत् नोसदसत, इन चार कोटियों में कहीं भी अन्तर्भूत नहीं किया जा सकता है। वह पूर्णरूप से अनिरूप्य और अनिर्वाच्य है। उसका वास्तविक स्वरूप अनादिकाल से प्रवाहमान संवृत्ति, अविद्या किंवा वासना से आवृत्त है। इसीलिये उसका अवभास न होकर उसके स्थान में संसार का अवभास होता है। इस सम्प्रदाय की यह मान्यता है कि मनुष्य को दुःख से मुक्त होने के लिये संसार के सम्बन्ध में सर्वक्षणिकम् सर्वदुःखम्, सर्वस्व लक्षणम और सर्वशून्यम इस भावना चतुष्ट्य का निरन्तर अभ्यास करते रहना चाहिये जिससे मनुष्य का चित्त संसार में अनासक्त हो शून्यता में उसे समाहित कर सदा के लिये दुःखरहित बनाने में समर्थ हो सके। माध्यमिक शून्यवाद का दर्शन शंकराचार्य के अद्वैत वेदान्त से मिलता–जुलता है। शून्यवाद भी संवृत्ति और परमार्थिक सत्य को मानता है शंकराचार्य ने इसे व्यवहारिक और परमार्थिक सत्य के रूप में माना है। नागार्जुन ने कहा परमार्थिक दृष्टिकोण से सभी असत्य है शंकराचार्य ने भी ईश्वर, जगह आदि को असत ही माना है। <u>नागार्जुन का शून्य और शंकर का निर्गुण ब्रह्म लगभग एक ही है। इन समानताओं के कारण ही शंकर को कुछ विद्वानों ने 'प्रच्छन्न बौद्ध' कहा है।</u>

४. योगाचार वि॰ानवाद

योगाचार विज्ञानवाद की मान्यता है कि 'विज्ञान ही एक मात्र सत है'– 'विज्ञानमेव सत्यम'। विज्ञानवाद से आशय क्षणिक विज्ञान से है। इसे चित्त भी कहा जाता है यही वास्तविक है इससे भिन्न जो कुछ भी प्रतीत होता है वह विज्ञान का विवर्त है। विज्ञान के अतिरिक्त और किसी पदार्थ की सत्ता नहीं है।

योगाचार विज्ञानवाद के प्रवर्तक असंग और वसुवन्धु थे। इस सम्प्रदाय का मुख्य ग्रन्थ 'लंकावतार सूत्र' है। बाद में आगे चलकर दिङ्नाग, ईश्वरसेन, धर्मपाल, धर्मकीर्ति आदि विद्वानों ने अपना योगदान दिया। विज्ञानवादी बाह्य वस्तुओं की सत्ता का खण्डन करते हैं किन्तु चित्त की सत्ता को स्वीकार करते हैं। ऐसे पदार्थ जो मन से (बाह्य) बर्हिगत प्रतीत होते हैं किन्तु वे मन के ही अन्तर्गत रहते हैं– 'यदन्तेर्ज्ञेय रूपं तद वर्हिवद अवभासते।'

आस्तिक दर्शन

१– न्याय दर्शन

न्याय दर्शन की गणना आस्तिक दर्शनों की श्रेणी में किया जाता है। भा० दर्शन का इसे 'तर्कशास्त्र' भी कहा जाता है। न्याय दर्शन के प्रणेता आचार्य 'महर्षि गौतम' को माना जाता है। इनको एक अन्य नाम अक्षपाद से भी जाना जाता है। जिससे इस दर्शन को 'अक्षपाद दर्शन' भी कहते हैं। न्याय दर्शन के विषय में वात्स्यायन ने कहा है कि न्याय विद्या समस्त विद्याओं का प्रदीप है सब कर्मों का उपाय, प्रवर्तक है तथा समग्र धर्मों का आश्रय है। इस प्रकार वात्स्यायन भाष्य में उद्धृत उक्ति से इसकी महत्ता और उपयोगिता ज्ञात होती है।[1] यह उक्ति इस प्रकार है–

'प्रदीपः सर्व विद्यानामुपायः सर्वकर्मणाम्।
आश्रयः सर्व धर्माणां विद्योदेशेप्रकीर्त्तिता।

(न्या० सू० भाष्य १/१/१)

[1] न्याय दर्शनम् : पृ० १५ चौखम्बा संस्कृत संस्थान वाराणसी।

न्याय दर्शन वस्तुवादी दर्शन है। इसमें प्रमाण प्रमेय आदि का वर्णन है। 'न्याय' शब्द की व्युत्पत्ति है– 'नीयते प्राप्यते विवक्षितार्थः सिद्धिरनेन इति न्यायः।'[1] अर्थात् जिसके द्वारा किसी प्रतिपाद्य विषय की सिद्धि की जाती है वह न्याय है। दूसरे शब्दों में जिस साधन से हम अपने विवक्षित (ज्ञेय) साध्य परमतत्व के पास पहुंच जाते हैं या उसे भली–भाँति जान पाते हैं वही साधन न्याय है। भारतीय दर्शन के अध्ययन से पता चलता है कि यह अत्यन्त प्राचीन शास्त्र है। याज्ञवल्क्य ने चौदह विद्याओं की गणना में न्यायशास्त्र को द्वितीय स्थान दिया है। महर्षि मनु ने धर्म के अध्ययन के लिये भी तार्किक दृष्टि से न्याय को महत्वपूर्ण माना है।[1]

कौटिल्य ने अपने ग्रन्थ 'अर्थशास्त्र' में चार प्रकार की विद्याओं का उल्लेख किया है जिनमें आन्वीक्षिकी अर्थात न्यायशास्त्र की गणना भी है।

'आन्वीक्षिकी' सम्पूर्ण विद्याओं का प्रकाशक, समस्त कर्मों का साधक और समग्र धर्मों का आश्रय है। 'आन्वीक्षिकी' से तात्पर्य है– 'प्रत्यक्षदृष्ट तथा शास्त्रश्रुत, विषयों के तात्विक स्वरूप को अवगत कराने वाली विद्या। जैसा कि न्याय दर्शन के प्रथम सूत्र के भाष्य में वात्स्यायन ने कहा है– 'प्रत्यक्षागमाभ्या पामीक्षितस्यान्वीक्षणमन्वीक्षा, तया प्रवर्तत इति आन्वीक्षिकी–न्यायविद्या–न्यायशास्त्रम।'

न्यायसूत्र को इस दर्शन का सर्वप्रामाणिक ग्रन्थ माना जाता है इसके रचयिता महर्षि गौतम हैं। 'न्यायसूत्र' पर आगे चलकर वात्स्यायन ने 'न्याय भाष्य' लिखा है किन्तु 'दिङ्नाग' आदि बौद्ध दार्शनिकों ने इतना प्रबल खण्डन किया है कि उद्योतकर को (५वीं से ६वीं शताब्दी में) 'न्यायभाष्य' पर एक 'न्यायवार्तिक' नाम की टीका लिखनी पड़ी। किन्तु खण्डन–मण्डन का प्रहार क्रम रूका नहीं और ६वीं शदी में 'वाचस्पति मिश्र' ने 'न्यायवार्तिकतात्पर्य टीका' लिखी। उदयनाचार्य ने तात्पर्यटीका पर 'परिशुद्धि'

[1] आर्षधर्मोपदेशं च वेद शास्त्र विरोधिना। यस्तर्केणनुसन्धत्ते स धर्म वेद नेतर।। मनुः स्मृ० १२।। १०६

नामक टीका लिखी। उदयन ने न्यायकुसुमान्जलि और 'आत्मतत्व विवेक' नामक प्रसिद्ध ग्रन्थ लिखे।

न्यायवार्तिक तात्पर्य टीका पर श्री उदयानाचार्य की 'तात्पर्य परिशुद्धि है। जयन्त भतत की 'न्याय मंजरी' भी अधिक लोकप्रिय ग्रन्थों की श्रेणी में है। यद्यपि इसमें बौद्धों का खण्डन है फिर भी इसे न्यायसूत्र की विवृति ग्रन्थ माना जाता है। 'न्यायमञ्जरी' के बाद प्राचीन न्याय का संभवतः महत्वपूर्ण ग्रन्थ भासवर्ज्ञ का 'न्यायसार' है। इस ग्रन्थ में न्यायशास्त्र को संकलित करने का प्रयास किया गया है।

कालक्रमानुसार परवर्ती साहित्य को गंगेश से लेकर यज्ञपति तक की कृतियों को 'नव्यन्याय' की श्रेणी में रखा गया है। १२वीं शताब्दी से नव्यन्याय का प्रारम्भ माना जाता है। इसके सर्वप्रथम आचार्य गंगेशोपाध्याय है इनकी अमरकृति 'तत्वचिन्तामणि' सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ है। जहां नव्य–न्याय के अन्तर्गत तर्कशास्त्रीय विषयों का विवेचन किया गया है वहां प्राचीन न्याय में तत्वशास्त्र पर जोर दिया गया है।

न्याय विचार की उस विधि का नाम है जिसमें वस्तुतत्त्व का निर्धारण करने के लिये सभी प्रमाणों का उपयोग किया जाता है। '<u>प्रमाणैरर्थ परीक्षणं न्यायः</u>' (न्याय भाष्य का प्रथम सूत्र) 'न्याय' शब्द से उन वाक्य के समूहों को भी व्यक्त किया जाता है जो अनुमान के माध्यम से अन्य पुरूष को किसी विषय का बोध कराने के लिये प्रयुक्त होते हैं यह वाद, जल्प और वितण्डा के रूप में विचारों का मूल एवं तत्व निर्धारण का आधार है।

न्याय दर्शन की मान्यता है कि ज्ञान स्वरूपतः एक ऐसी वस्तु की ओर इशारा करता है जो उसके बाहर ओर उससे स्वतंत्र है। 'नचाविषया काचिदुषलब्धि' (न्यायसूत्र भाष्य ४, १, ३२)

अन्य भारतीय दार्शनिकों की तरह 'न्याय' का भी चरम उद्देश्य 'अपवर्ग' है। अपवर्ग– दुःख की निश्चित और शाश्वत निवृत्ति है। मोक्ष की अनुभूति तत्वज्ञान अर्थात

वस्तुओं के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान है। यहाँ न्याय का दृष्टिकोण यथार्थवादी परिलक्षित होता है। इसी उद्येश्य एवं प्रयोजन हेतु न्याय दर्शन (सोलह) षोडश पदार्थों को मानता है जो इस प्रकार है–

१. प्रमाण, २. प्रमेय, ३. संशय, ४. प्रयोजन,
५. दृष्टान्त, ६. सिद्धान्त, ७. अवयव, ८. तर्क,
६. निर्णय, १०. वाद, ११. जल्प, १२. वितण्डा,
१३. हेत्वाभास, १४. हल, १५. जाति, १६. निग्रह स्थान।

न्याय दर्शन में द्रव्यों की संख्या ६ मानी गयी है। जो इस प्रकार है– १– पृथ्वी, २– जल, ३– तेज, ४– वायु, ५– आकाश, ६– काल, ७– दिक, ८– आत्मा, ६– मनस्। सम्पूर्ण जगत इन नौ द्रव्यों से तथा इनके विभिन्न गुणों तथा सम्बन्धों से बना हुआ है। ये सब नित्य है या तो विभु है या अणु रूप है। सावयवी वस्तुएं अनित्य होती है।

पृथ्वी, जल, तेज वायु नित्य, निरवयव आदि अतीन्द्रिय है। आकाश निरवयव, विभु है इससे कोइ्र वस्तु पैदा नहीं होती है। काल और दिक्–बाह्यार्थ माने गये हैं आकाश की तरह विभु और निरवयव है। काल को मापा नहीं जा सकता है। आत्मा अनेक है और प्रत्येक को नित्य, सर्वव्यापी माना गया है। ज्ञान आत्मा का आवश्यक गुण न होकर आगन्तुक होता है। मनस् अणु और नित्य है प्रत्येक आत्मा का अपना अपना मनस् होता है। आत्मा के सांसारिक बन्धन में पड़ने का मूलकारण निश्चय ही उसका मनस् से सम्बद्ध होना है (बन्धनिमित्तं मनः – न्याय मंजरी पृ० ४६६)।

'आत्मा' में समवाय सम्बन्ध से 'बुद्धि' गुण रहता है। अतः 'आत्मनिष्ठ समवायावच्छिन्नवृत्तित्त्वसम्बन्धं' से बुद्धि का स्मरण हो जाता है। ज्ञान दो प्रकार का माना गया है– १–स्मृति और २– अनुभव। संस्कार मात्र से उत्पन्न होने वाले ज्ञान को

स्मृति ज्ञान कहा गया है। और अनुभव के विषय में कहा गया है कि जो ज्ञाान स्मृति से भिन्न होता है वह अनुभवजन्य होता है। अनुभवजन्य ज्ञान दो प्रकार का होता है–

१. यथार्थ अनुभव २. अयथार्थ अनुभव।

यथार्थ अनुभव को ही 'प्रमाा' कहा गया है– 'यथार्थानुभवः प्रमा।' तर्क–संग्रह में कहा गया है।

तद्भवति तत्प्रकार कोऽनुभवो यथार्थः।[1] किसी वस्तु का जो वास्तव में वह नहीं है उससे भिन्न ज्ञान अयथार्थ अनुभव है।

तद्भवति तत्प्रकारकश्चायथार्थः। अयथार्थ अनुभव भी तीन प्रकार की होती है– संशय, विपर्यय, तर्क। 'अनुभूतिश्चतुर्विधेति' अर्थात् अनुभूति चार प्रकार की है– १. प्रत्यक्ष, २. अनुमान, ३. उपमान, ४. शब्द।
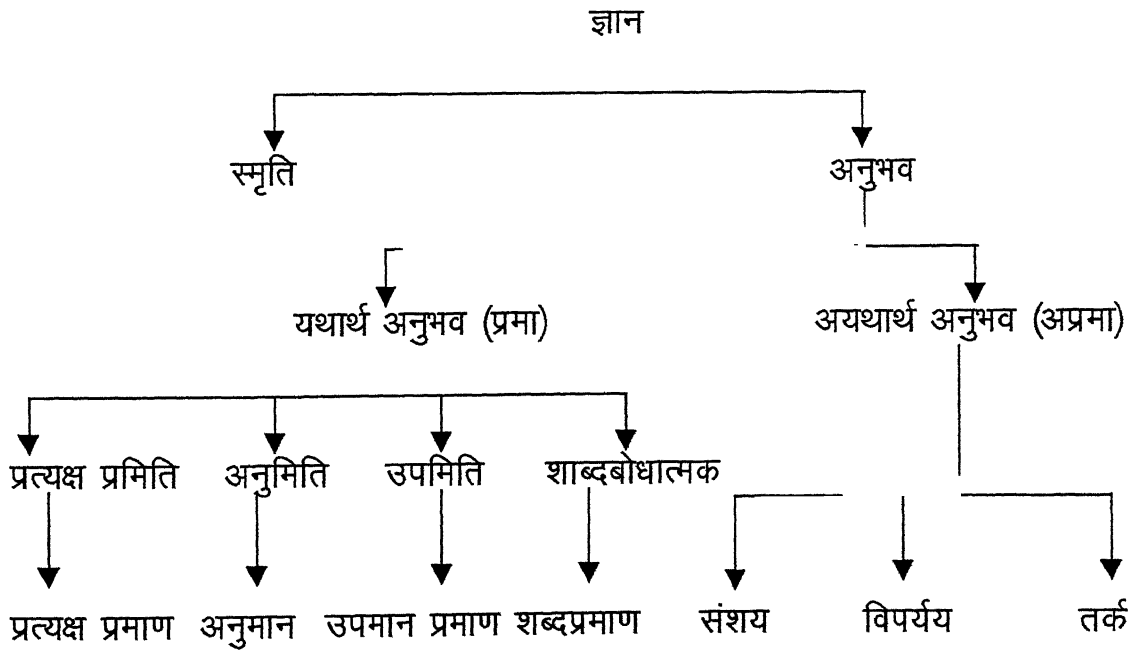
[1] तर्कसंग्रह –पृष्ठ ५८

प्रमा को जानने के साधन को प्रमाण कहते हैं– 'प्रमायाः कारणं प्रमाणं।'[1] न्यायसूत्रकार ने अपने ग्रन्थ में लिखा है–

१. प्रत्यक्ष

'प्रत्यक्षानुमानोपमान शब्दाः प्रमाणानि।' (न्या० सूत्र १/१/३) अर्थात् प्रत्यक्षप्रमिति का कारण षड्विधिसन्निकर्षा दिव्यापार से मुक्त करण (इन्द्रिय) को प्रत्यक्ष प्रमाण कहते हैं। भारतीय दर्शन में प्रत्यक्ष एक अकेला ऐसा प्रमाण है जो निर्विवाद रूप से आस्तिक और नास्तिक दोनों दर्शनों को मान्य है। प्रत्यक्ष की परिभाषा न्याय सि० मुक्तावलीकार ने इस प्रकार दिया है– इन्द्रिय जन्यं ज्ञानं प्रत्यक्षं। अर्थात् इन्द्रिय जन्यत्वे सति ज्ञानत्वं प्रत्यक्ष प्रमायाः लक्षणम्। इन्द्रिय से उत्पन्न होने वाले ज्ञान को प्रत्यक्ष प्रमा कहते हैं।[2] न्यायसूत्र में महर्षि गौतम ने प्रत्यक्ष की परिभाषा इस प्रकार किया है–प्रत्यक्ष इन्द्रियार्थ सन्निकर्षोत्पन्न न ज्ञान है जो अव्यपदेश, अव्यभिचारि और व्यवसायात्मक होता है।[3] अन्नंभट्ट ने तर्कसंग्रह में प्रत्यक्ष को इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से उत्पन्न ज्ञान बताया है– 'इन्द्रियार्थ–सन्निकर्षजन्यं ज्ञानं प्रत्यक्षम्।'

प्रत्यक्ष की दो अवस्थाएं होती है– १. निर्विकल्पक, २– सविकल्पक। निर्विकल्पक ज्ञान की प्रथम अवस्था है जिसमें भान होता किन्तु सकिल्पज्ञान में निश्चित रूप से वस्तु का पूरा ज्ञान होता है। प्रत्यक्ष दो प्रकार का होता है– १– लौकिक प्रत्यक्ष, २– अलौकिक प्रत्यक्ष।

लौकिक प्रत्यक्ष– यह भी दो प्रकार का होता है– १. वाह्य, २. मानस। वाह्य प्रत्यक्ष–पंचज्ञानेन्द्रियों से चक्षु, रसना, घ्राण, त्वक, श्रोत के सन्निकर्ष से उत्पन्न होता है। मानस में आत्मा और मन का अर्थात् आत्ममनः संयोग से होता है।

अलौकिक प्रत्यक्ष– यह प्रत्यक्ष तीन प्रकार का होता है–

---

[1] इन्द्रियार्थ सन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानम् अव्यपदेश्यम् अव्यभिचारी व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम् (न्यायसूत्र १/१/४)

[2] तर्कभाषा पृ० १८

[3] श्री विश्वनाथ पञ्चानन भटटाचार्य विरचिता, न्या० सि० मु०, व्याख्याकार, डा० श्री गजानन शास्त्री मुसलगांवकर, पृष्ठ २८३।

१. सामान्यलक्षण। २. ज्ञान लक्षण। ३. योग।

२– अनुमान

अनुमितिरूप प्रमिति का परामर्शात्मक व्यापार से युक्त कारण अर्थात् करण (साधन) को अनुमान प्रमाण कहते हैं। यानि– 'अनुमीयते अनेन इति अनुमानम'–जिससे अनुमिति की जाती है उस व्याप्ति ज्ञान को अनुमान कहते हैं। अनु+मान, इसमें 'अनु' का अर्थ पश्चात और मान का अर्थ ज्ञान है अतः अनुमान का अर्थ है जो ज्ञान प्रत्यक्ष के पश्चात हो। इसीलिये गौतम ने अनुमान का प्राण व्याप्ति है–व्याि सम्बन्ध में लिखा गया है– 'यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्र वाह्निरिति साहचर्य निर प्ते:।' नित्य साहचर्य नियम को 'व्याप्ति' कहते हैं। जैसे–धूम और अग्नि में नित्य र्य सम्बन्ध है अतः इसमें व्याप्ति सम्बन्ध है। किन्तु वृद्धि और धूम में व्याप्ति स हीं है, यथा– तप्तलौह पिण्ड। क्योंकि तपते हुये लोहे के गोले में वृद्धि तो है वि नहीं है। वृद्धि का धूम के साथ सम्बन्ध आद्रन्धन संयोग के कारण होता है और इस संयोग को उपाधि कहते हैं साध्यत्यापकः सन् साधनाऽव्यापक उपाधिः (कारिका० १३८)। अनुमान दो प्रकार का होता है–

१. स्वार्थानुमान तथा २. परार्थानुमान।

स्वार्थानुमान एक मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया है इसमें पञ्चाचयव की आवश्यकता नहीं पड़ती है। परार्थानुमान में पञ्चात्रयव वाक्य की आवश्यकता पड़ती है इसे 'न्यायवयव' भी कहते हैं– उनके नाम हैं– प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन। प्रतिज्ञा में शब्द प्रमाण का, हेतु में अनुमान प्रमाण का उदाहरण में प्रत्यक्ष प्रमाण का और उपनय में उपमान प्रमाण का समावेश होता है। निगमन से एक अर्थ के साधन में सभी प्रमाणों के योगदान का प्रदर्शन होता है। वात्स्यायन ने न्यायदर्शन के प्रथम सूत्र के भाष्य में पंचावयव वाक्य के सन्दर्भ को इसप्रकार वर्णित किया है– ''साधनीयार्थस्ययावतिशब्दसमूहे सिद्धिः परिसमाप्यते, तस्य पञ्चावयवाः प्रतिज्ञादयः

समूहमपेक्ष्याऽवयवा उच्यन्ते, तेषु प्रमाण समवायः आगमः प्रतिज्ञा। हेतुरमानम् उदाहरणं प्रत्यक्षम्। उपमानमुपमानम्। सर्वेषामेंकार्थसमवाये सामर्थ्यं प्रदर्शनं निगमनमिति। सोऽयं परमोन्याय इति। एतेनवाद जल्पवितण्डाः प्रर्क्तन्ते नातोऽन्यथेति। तदाश्रया च तत्व व्यवस्था।"[1]

इस प्रकार सत् हेतु में पांच गुण होते हैं– पक्षसत्व, सपक्षसत्व, विपक्षाऽसत्व, असतप्रतिपक्षत्व और अवाधितत्व। इनमें से किसी एक में दोष होने पर वह हेतु सदहेतु न रहकर 'हेत्वाभास' बन जाता है। हेत्वाभास भी पञ्चविध है– सव्याभिचार, विरूद्ध, सत्प्रतिपक्ष, असिद्ध और बाधित।

३. उपमान

उपमिति रूप प्रमिति का उपदिष्ट वाक्यार्थ स्मरणात्मक व्यापार से युक्त कारण अर्थात् करण (साधन) को उपमान कहते हैं। यानि 'उपमीयते अनेन इति उपमानम्' अर्थात् सादृश्यज्ञान को उपमान कहते हैं।

पूर्वानुभूति वस्तु के सदृश होने के कारण जहां वैसी वस्तु का ज्ञान हो उसे उपमिति कहते हैं:– यथा 'गोस्तथा गवयः।' इसलिये उपमान को 'संज्ञा–संज्ञि ज्ञान' कहा गया है।

४. शब्द प्रमाण

शब्दबोधात्मक प्रमिति का पदार्थस्मरणात्मक व्यापार से युक्त कारण अर्थात करण को शब्द (पदज्ञान) प्रमाण कहते हैं:– 'शब्दयते प्रतिपाद्यते अर्थः अनेन इति शब्द :– शाब्दी प्रमा करणम्, उससे जन्य ज्ञान को शाब्दीरूप अनुभूति कहते हैं।'

[1]अन्यायदर्शन (वात्स्यायन भाष्य) पृष्ठ ३६ आचार्य ढुंढिराज शास्त्री (चौखम्भा सस्कृत संस्थान वाराणसी)

शब्द को "आप्त वाक्य" माना गया है। न्यायसूत्र में कहा गया है– 'आप्तोपदेशः शब्दः'[1] (न्या० सू० १/१/७) षडदर्शन समुच्चय में भी आप्त के उपदेश को शब्द– आगम प्रमाण कहतें हैं।[2]

'आप्त' वह होता है जो वस्तु जिस प्रकार की है उसे उसी प्रकार का बतलानेवाला 'आप्त' होता है। शब्द प्रमाण का वर्गीकरण दृष्टार्थ शब्द और अदृष्टार्थ शब्द के रूप में भी किया जाता है। एक अन्य वर्गीकरण के अनुसार वैदिक शब्द तथा लौकिक शब्द के रूप में भी किया जाता है।

कारणवाद

प्रत्येक कार्य का कोई न कोई कारण होता है बिना कारण के कार्य संभव नहीं होता है इस प्रकार कारण और कार्य में आनन्तर्य सम्बन्ध होता है। कारण कार्य का पूर्ववर्ती होता है और कार्य कारण का पश्चातवर्ती होता है। किन्तु सभी पूर्ववर्ती को कारण नहीं माना जा सकता है– पूर्ववर्ती भी दो रूपों में उपस्थित होता है– १. नियत पूर्ववर्ती, २. अनियत पूर्ववर्ती।

नियत पूर्ववर्ती कार्य की उत्पत्ति से पूर्व नियत रूप में रहता है। अनियत पूर्ववर्ती का स्वभाव है कि कभी रहता है कभी नहीं। इस प्रकार कारण कार्य भाव को निरूपाधिक या अन्यथासिद्ध होना चाहिये। कारण कार्य का अन्यथासिद्ध नियतपूर्ववृत्ति होता है।[3] न्यायदर्शन कारण–कार्य सिद्धान्त को स्वयं सिद्ध मानता है। सांख्य दर्शन से इसका यह भेद है जहां सांख्य सत्कार्यवाद का पोषक है वहां न्याय असत्कार्यवाद को मानता है। सांख्य के अनुसार कारण में कार्य पूर्व से विद्यमान रहता है कार्य केवल व्यक्त अवस्था, का नाम है– 'नासतो विद्यते भावः ना भावो विद्यते सत्। इस पर सांख्य का कारण कार्य सिद्धान्त आधारित है। न्यायदर्शन का सिद्धान्त 'आरम्भवाद' है। क्योंकि

---

[1] न्यायदर्शन(वात्स्यायनभाष्य) पृष्ठ११ आचार्य दुन्दिराज शास्त्री (चौखम्भा संस्कृत संस्थान वाराणसी)

[2] शाब्द माप्तोपदेशु मानमेव चर्तुर्विधम हरिभद्रसूरि – षडदर्शन समुच्चय– पृष्ठ –१०६– भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन।

[3] अन्यथासिद्ध नियतपूर्व वृत्तित्वं कारणत्वम्। (तर्क सग्रह दीपिका पृ० ६६)

यदि कारण में कार्य पहले से विद्यमान रहता हो ऐसी स्थिति में निमित्त कारण की आवश्यकता ही नहीं पड़ती। यदि मिट्टी में घड़ा पूर्व से ही निहित रहता तो कुम्हार को परिश्रम करने की आवश्यकता ही नहीं पड़ती। इस प्रकार न्यायदर्शन में तीन प्रकार के कारण माने गये हैं– १–समवायि, २–असमवायि, ३–निमित्त कारण।

ईश्वर – न्याय दर्शन ईश्वर की सत्ता में विश्वास करता है किन्तु 'न्यायसूत्र' में ईश्वर का विशेष विवेचन नहीं है। न्यायभाष्यकार ने ईश्वर को आत्मा का ही एक विशेष रूप माना है।[1] जिस प्रकार जीवात्मा में ज्ञान आदि गुण विद्यमान रहते हैं उसी प्रकार ईश्वर में भी ये सब गुण विद्यमान रहते हैं। इसलिये जीव और ईश्वर दोनों ही आत्मा है। किन्तु मुख्य अन्तर यह है कि जीवात्मा में ज्ञान आदि गुण जहां अनित्य होते हैं वहां ईश्वर में ये सब गुण नित्य होते हैं।[2] जीवात्मा का जहां बन्धन तथा मोक्ष होता है वहां

ईश्वर इस सबसे रहित है। अतएव ईश्वर को 'नित्यमुक्त' कहा गया है। ईश्वर परमात्मा है। न तो यह बुद्ध है और न ही मुक्त है। ईश्वर विश्व का सृष्टा होने के साथ[3] विश्व का संहर्ता भी है। आत्मा ही सम्पूर्ण चेतन जगत का वास्तविक स्वरूप है। आत्मा नित्य और विभु है। परमात्मा केवल एक है वह सर्वाविषयक, नित्यज्ञान, नित्य इच्छा, नित्य प्रयत्न का आश्रय है। वेद उसी की रचना है जिसके द्वारा कर्तव्य–अकर्तव्य की शिक्षा मानव को प्राप्त होती है–महान नैय्यायिक उदयनाचार्य ने अपने ग्रन्थ न्यायकुसुमाञ्जलि में कहा है।

स्वर्गापवर्गयोमार्गमामनन्ति मनीषिणः। यदुपास्तिमसावत्र परमात्मा निरूप्यते।।

---

[1] अन्यायदर्शन (वात्स्यायन भाष्य) पृष्ठ ३६ आचार्य ढुंढिराज शास्त्री {चौखम्मा प्रकाशन वाराणसी }।

[2] **शाब्द माप्तोपदेशु मानमेव चर्तुर्विधम हरिभद्रसूरि – षडदर्शन समुच्चय– पृष्ठ –१०६– भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन।**

[3] ता० टीका ४११/२१ पृ० ५६५।

३–इच्छान्द्रेष–प्रयत्न–दुख–सुख ज्ञानान्यात्मानो लिगम् (गौ०सूत्र)। १/१/१० न्याय दर्शनम (वात्स्थानभाष्य)आचार्य दुंढिराजशास्त्री पृष्ठ–४४न्या० वार्तिक४/१/२१,पृष्ठ ४६६

[२] न्या क०, पृ० १४२

न्याय मुक्तावली में विश्वनाथ पञ्चानन ने मंगलाचरण से ही ग्रन्थ का आरम्भ किया है[3]—

नूतन जलधर रूचये गोपवधूटी दुकूल चौराय।

तस्मै कृष्णाय नमः संसार महीरूहस्य वीजाय।।

आगे और स्पष्ट करते हुये लिखा गया है कि 'संसारेति', संसार एवं मही रूहो वृक्षस्तस्य बीजाय निमित्तकारणायेत्यर्थः। एतेन ईश्वरे प्रमाणमपि दर्शितं भवति। तथाहि—यथा 'घटादिकार्य कर्तृजन्यं तथा क्षित्यड़करादिकमपि।' इस प्रकार ईश्वर को विश्व का निमित्तिकारण माना गया है।

उदयन की 'न्याय कुसुमाञ्जलि' तो ईश्वर के चरणों में प्रमाण—पुण्य का अर्पण है। इसमें ईश्वर का मुख्य रूप से विवेचन किया गया है।

न्याय दर्शन के अनुसार आत्मा नित्य है, उसका जन्म और मरण नहीं होता है। जब किसी नये शरीर के साथ किसी आत्मा का भोग नियामक विजातीय संयोगात्मक सम्बन्ध उन्पन्न होता है तब शरीर में उस आत्मा के सम्बन्ध की उत्पत्ति को ही उस[2] शरीर में उस आत्मा की उत्पत्ति कहा जाता है, एवं जब किसी शरीर के साथ किसी आत्मा के सम्बन्ध का नाश होता है तब उस सम्बन्ध नाश की स्थिति को आत्मा कामरण कहा जाता है। इस प्रकार आत्मा का स्वरूपतः जन्म और नाश नहीं होता है केवल उसमें अज्ञानता के कारण उपचार मात्र किया जाता है। आत्मा को अजन्मा, अविनाशी, नित्य न्याय दर्शन इसलिये मानता है कि यदि आत्मा को नित्य न मानकर 'जन्य'मान लेगा तो यह एक अन्य द्रव्य हो जायेगा जिससे इसे परम महान नहीं कहा जा सकता है और इसकी व्यापकता भंग हो जायेगी और आत्मा परलागू होने वाली सम्पूर्ण बातें अनुपपन्न होगी जिनके लिये आत्मा को व्यापक माना जाता है। और दूसरी बात यह है कि यदि आत्मा को एक द्रव्य के रूप में मानेंगे तब उसमें ज्ञानादि गुणों की

---

[3] न्या० सि० मु०— श्री विश्वनाथ भट्टाचार्याविरचिटा—व्याख्याकार श्री गजानन शास्त्री मुसलगांवकर— पृ० ३ (चौ० सुरभा० प्रका० वाराणसी)

उत्पत्ति के लिये उसके अवयवों में भी अनादि गुणों का अस्तित्व मानना होगा इससे सजातीय गुण प्रकट हाने लगेगें जो आत्मा के निरवयव होने में बाधक सिद्ध होंगे। इसप्रकार आत्मा को जन्म मानने पर एक और दोष प्रवृत्त होगा क्योंकि नवजात को किसी सुन्दर वस्तु के देखने पर हर्ष और किसी भयानक वस्तु के देखने पर भय उत्पन्न न हो सकेगा। इन्हीं सब बातों को दृष्टि में रखकर न्यायदर्शन में आत्मा को नित्य माना गया है।

अपवर्ग – अन्य भारतीय दार्शनिकों की तरह न्याय का भी चरम उद्‌देश्य 'अपवर्ग' को ही माना गया है। 'अपवर्ग' दुःख की निश्चित और शाश्वत निवृत्ति है। मोक्ष की अनुभूति तत्वज्ञान अर्थात वस्तुओं के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान है। यहाँ न्याय का दृष्टिकोण यथार्थवादी परिलक्षित होता है।

गौतम मुनि ने निःश्रेयस– निरतिशय श्रेयस, अर्थात अपवर्ग या मोक्ष के न्याय शास्त्र का मुख्य प्रयोजन माना है। जैसा कि न्याय दर्शन के प्रथम सूत्र– 'प्रमाण प्रमेय संशय...तत्त्वज्ञानन्निःश्रेयसाधिगम' से स्पष्ट होता है कि 'आत्मतत्व में साक्षा से ही मोक्ष की प्राप्ति होती है। गौतम मुनि ने आत्मतत्व ज्ञान से मोक्ष होने का क्रम इस प्रकार बताया है– आत्मतत्व के साक्षात्कार से आत्मविषयक मिथ्याज्ञान की निवृत्ति होती है और इसके बाद मिथ्याज्ञान की निवृत्ति से राग द्वेष–मोहरूप दोषों की निवृत्ति होती है।और दोषों की निवृत्ति होने के बाद धर्म–अधर्म रूप प्रवृत्ति की निवृत्ति होती है और प्रवृत्ति की निवृत्ति से पुनर्जन्म की निवृत्ति होती है और पुनर्जन्म की निवृत्ति से समस्त दुःखों की आत्यान्तिक निवृत्ति होती है यह निवृत्ति ही निःश्रेयस, अपवर्ग या मोक्षोदि के नाम से जानी जाती है। इसको सूत्र रूप में इस प्रकार व्यक्त किया गया है– 'दुःख जन्म प्रवृत्ति दोष मिथ्या ज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरा भावापवर्गः तदत्पन्त विमोक्षोऽपवर्गः।

न्या० सू० भाष्यकार– वात्स्यायन ने, गौतम के न्यायसूत्र **'तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्गः'** (१/१/२२)की व्याख्या कर दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति को ही 'अपवर्ग' कहा गया है।१

२– वैशेषि.ऽ दर्शन

आस्तिक दर्शन के अन्तर्गत वैशेषिक दर्शन का महत्वपूर्ण स्थान है। वैशेषिक दर्शन का मुख्य प्रणेता कणाद मुनि को माना जाता है।

महर्षि कणाद के नाम पर इसे 'कणाद दर्शन' भी कहा जाता है। उनका एक अन्य नाम 'उलूक' भी था जिसके कारण 'औलूक्य दर्शन' भी कहा जाता है। 'विशेष' नाम क अतिदिपदार्थ की व्याख्या करने के कारण इस दर्शन का नाम वैशेषिक पड़ा। वैशेषिक दर्शन बहुतत्ववादी वस्तुवाद पर बल देता है। कणाद और पाणिनीय व्याकरण को सर्वशास्त्रोपकारक माना जाता है– 'काणादं पाणिनीयं च सर्वशास्त्रोपकारकम्।'

वैशेषिक दर्शन का सबसे मुख्य एवं आदि प्रामाणिक ग्रन्थ वैशेषिक सूत्र है। जिसके रचयिता स्वयं महर्षि कणाद थे। प्रशस्तपाद भाष्य' अथवा पदार्थ धर्म संग्रह यह कणाद सूत्रों पर आधारित भाष्य के साथ–साथ स्वतंत्र ग्रन्थ भी है। इस ग्रन्थ पर दो टीकाओं का भी संकेत मिलता है। जो कि एक उदयनाचार्य की 'किरणावली' है तथा दूसरी 'श्रीधराचार्य' की 'न्यायकंदली' के नाम से प्रसिद्ध है।

कणाद सूत्रों पर श्री शंकर मिश्र ने 'उपस्कार' नामक टीका ग्रन्थ भी लिखा है। इस पर एक वृत्ति है जिसे 'भारद्वाज वृत्ति' कहते हैं। वल्लभ की लीलावती टीका भी वैशेषिक दर्शन का प्रसिद्ध ग्रन्थ है। इस दर्शन की कुछ अन्य उल्लेखनीय ग्रन्थ हैं– शिवादित्य रचित सप्तपदार्थी, लौंगाक्षिभास्कर द्वारा रचित तर्क कौमुदी आदि है।

आचार्य 'बल्देव उपाध्याय' ने अपनी पुस्तक 'भा० दर्शन' में (वैशेषिक के बारे में) लिखा है कि 'वैशेषिक की उत्पत्ति कब हुई[2] बौद्ध ग्रन्थों में (मिलिन्दप्रश्न, लंकावतार सूत्र, ललित विस्तार आदि में) वैशेषिक दर्शन का नामोल्लेख पाया जाता है। इन ग्रन्थों

में न्याय सिद्धान्तों को भी वैशेषिक नाम से स्मरण किया गया है। सांख्य तथा वैशेषिक मतों को बुद्ध से पूर्वकालीन मानने में बौद्ध सम्प्रदाय की एकवाक्यता दीख पड़ती है। जैनों की तत्वसमीक्षा संभवतः वैशेषिक पदार्थों की कल्पना पर आश्रित है अतः वैशेषिक दर्शन जैन तथा बौद्ध दोनों से प्राचीनतर प्रतीत होता है।"[1] वैशेषिक दर्शन में कणाद का सबसे महत्वपूर्ण योगदान परमाणुओं से संसार के विकास की अवधारणा है। के० दामोदरन ने अपने ग्रन्थ 'भारतीय चिन्तन परम्परा' में नन्दलाल सिन्हा के कथन को उधृत किया है– "कणाद ईसा पूर्व दसवीं और छठी शताब्दी के मध्य जीवित रहे होंगे। जैसा कि हम पहले देख चुके हैं प्रांचीन जैन धर्म की अवधारणा यह थी कि सभी भैतिक वस्तुएं अत्यन्त सूक्ष्म परमाणुओं से बनी है। इन परमाणुओं में अपने गुण होते हैं और वे एक–दूसरे से मिलकर <u>स्कन्धों</u> का निर्माण करते हैं। वैशेषिक प्रणाली अवश्य ही पदार्थों की इस प्राचीन अवधारणा से विकसित हुई होगी और बुद्धोत्तर काल में सूत्रों के रूप में उसे प्रतिपादित और क्रमबद्ध किया गया होगा।"[2]

महर्षि कणाद ने यह मान है कि इस संसार का अस्तित्व वस्तुगत रूप से, मनुष्य की बुद्धि से बाहर और उससे स्वतंत्र है और इसको मनुष्य अपने प्रयत्न विश्लेषण से जान सकता है। वैध ज्ञान को प्राप्त करने की चार विधियां है– प्रत्यक्ष, लैंगिक, स्मृति तथा आर्ष। महर्षि कणाद ने वैशेषिक सूत्र को इस वक्तव्य से प्रारम्भ किया है– "अब हम धर्म की व्याख्या करेंगे– (अथातो धर्म व्याख्यास्यामः)" अब प्रश्न है कि धर्म क्या है? इसके उत्तर में कणाद ने कहा धर्म ईश्वर अथवा किसी दैवी और शाश्वत नियति पर विश्वास नहीं है वरन् धर्म वह है जिससे प्रगति और अन्तिम कल्याण संभव है। <u>मुनि ने यतोऽभ्युदय निः श्रेयस सिद्धिः सधर्मः"</u> इस दूसरे सूत्र से धर्म का यह लक्षण बताया है कि जिससे अभ्युदय और निःश्रेयस की सिद्धि हो वह धर्म है।

---

[1] आचार्य बल्देव उपा० भा० दर्शन– पृ० २१३ प्रकाशन–चौणम्भा सुरभारती वाराणसी।

[2] के. दोमोदरन– भा० चिन्न परम्परा– पृ० १६० (प्रकाशन पिपुल्स पब्लिशिंग हाउस (प्रा०) लि० रानी झांसी रोड नई दिल्ली।

शङ्कर मिश्र ने 'उपस्कर' नामक अपने ग्रन्थ में 'अभ्युदय' का अर्थ तत्वज्ञान किया है और निःश्रेयस का अर्थ दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति किया है। अर्थात शंकर मिश्र ने माना है कि तत्वज्ञान और निःश्रेयस का साधक धर्म है।

आचार्य प्रशस्तपाद ने वैशेषिक दर्शन के भाष्य की रचना प्रारम्भ करते हुये सूत्रकार द्वारा लक्षित धर्म को पदार्थ धर्म के रूप में अभिहित किया है– यथा–

'प्रणम्य हेतुमीश्वरं मुनि कणादमन्वतः। पदार्थ धर्म संग्रहः प्रवक्ष्यते महोदयः।।'

इस पद्य से यह ज्ञात होता है कि पदार्थ और लक्षित धर्म ज्ञान केवल तभी सच्चा होता है जब वह वस्तुओं की प्रकृति के अनुरूप होता है अन्यथा व झूठा है। सत्य की पुष्टि केवल ऐसी व्यवहारिक क्रियाओं के द्वारा ही की जा सकती है जो उस ज्ञान पर आधरित हो और सफल सिद्ध हो। विभिन्न पदार्थों के सारतत्व के ज्ञान, उनमें साम्यता और विषमता, समानता और भिन्नता के ज्ञान से ही सर्वोपरि कल्याण होता है। कणाद ने इस प्रकार स्पष्ट किया है कि "धर्म विशेष प्रसूतात् द्रव्य गुण कर्म सामान्य विशेष समवायानां पदार्थानां साधर्म्यवैध्र्म्याभ्यां तत्वज्ञानान्निःश्रेयसम्"। (कणाद वैशे०सू० १–४)

मुनि ने इस सूत्र से बताया है कि पदार्थ का साधर्म्य – वैधर्म्य मूलक ज्ञान धर्म विशेष से प्रसूत है। धर्म विशेष के कथन से यह प्रमाणित होता है कि साधर्म्य– वैधर्म्य मूलक पदार्थ तत्वज्ञान का उदय जिस धर्म से होता है वह उस पदार्थ धर्म से भिन्न है जिसका व्याख्यान करने के लिये वैशेषिक दर्शन की रचना हुई है किन्तु वैशेषिक दर्शन में जिस धर्म विशेष को प्रधान रुप से वर्णित किया गया है वह पदार्थों का साधर्म्य– वैधर्म्य रुप है। साधर्म्य से तात्पर्य है– पदार्थ का समान धर्म– अनुगत धर्म जो कतिपय पदार्थों का संग्राहक होता है, वैधर्म्य का अर्थ है पदार्थ का व्याकृत धर्म, अर्थात जो धर्म जिस पदार्थ में नहीं रहता है उस पदार्थ के सम्बन्ध में वह धर्म ज्ञेयत्व, वाच्यत्व सभी पदार्थों का साधर्म्य है। द्रव्यत्व, गुणत्व आदि कम से द्रव्य, गुण आदि का साधर्म्य है।

किन्तु ये धर्म प्रत्येक पदार्थों में नहीं रहता है अतेव जो धर्म जिस पदार्थ में नहीं रहता है वह उसका वैधर्म्य होता है।

साधर्म्य समान धर्मा सभी पदार्थों को ग्रहण कर उनमें अन्य पदार्थों के वैधर्म्य से अन्य पदार्थ के भेद का अनुमानिक बोध किया जाता है। जैसे द्रव्यत्व, गुण आदि में न रहने से गुण आदि का वैधर्म्य है और सभी द्रव्यों में रहने से सब धर्मो का साधर्म्य है। अतेव द्रव्यत्व रुप साधर्म्य द्वारा सभी द्रव्यों को ग्रहण कर उनमें गुणादि का वैधर्म्य रुप होने से उसी धर्म से गुणादि रुपी भेद का अनुमान होता है ।

अनुमान का प्रयोग इस प्रकार होता है– "द्रव्यंगुणादिभ्योभिधते द्रव्यत्वेन गुणादि वैधर्म्यात" यो न यतो भिद्यः ते स न तद विधर्मा, यथा गुणादिः स्वतः अभिन्नतया न स्व विधर्मा"

द्रव्य गुण आदि से भिन्न है, क्योंकि उसमें गुणादि का वैधर्म्य द्रव्यत्व विद्यमान है जो जिससे भिन्न नहीं होता, उसमें उसका वैधर्म्य नहीं होता, जैसे 'रुप' से अभिन्न गुणादि में गुणादि का वैधर्म्य नही होता। द्रव्य में स्थित गुणादि भेद ही द्रव्य का तत्व है इससे यह प्रतीत होता है का साधर्म्य और वैधर्म्य से तत्वज्ञान होता है और उससे ही निःश्रेयस दोनों की सिद्धि हो वह धर्म है, इस लक्षण द्वारा पदार्थ धर्म का ही ग्रहण मुनि को अभीष्ट है यह बात स्पष्ट होती है।

न्यायदर्शन और वैशेषिक दर्शन समानतंत्र कहलाते हैं क्योंकि कुछ बातों में इन में दोनों का दृष्टिकोण समान है दोनों दर्शन एक–दूसरे पर अन्योन्याश्रित है। एक के अभाव में दूसरे की व्याख्या नहीं की जा सकती है।

दोनों का उद्देश्य मोक्ष प्राप्त कराना है। दोनों का मानना है कि समस्त दुःखों का मूल कारण 'अज्ञान' है इन दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति ही मोक्ष है। दोनों दर्शन 'वस्तुवादी' दर्शन है यह वस्तुवाद अनुभव एवं तर्क पर आधारित है। इतनी समानता रहने पर भी दोनों दर्शनों में कुछ बिन्दुओं को लेकर मतभेद है। जैसा कि न्याय दर्शन

चार प्रमाणों को स्वतंत्र रुप से स्वीकार करता है किन्तु वैशेषिक केवल दो प्रमाण प्रत्यक्ष और अनुमान को ही मानता है तथा शब्द और उपमान को अनुमान के ही अन्तर्गत मान लेता है। दूसरा अन्तर, मुख्य रुप से पदार्थों को लेकर है। न्यायदर्शन जहॉ सोलह पदार्थों को मानता है वहां वैशेषिक दर्शन केवल सात पदार्थों को गिनाता है। वैशेषिक दर्शन ने 'ज्ञेयत्व' और 'अभिधेयत्व' को ध्यान में रखकर सप्त पदार्थों का परिगणन किया है। वैशेषिक दर्शन पदार्थों को दो भागों में विभाजित करता है– १. भाव पदार्थ २. अभाव पदार्थ। जिस वस्तु की सत्ता है उसे 'भाव पदार्थ' कहते हैं और जिसस वस्तु की सत्ता नहीं है उसे अभाव पदार्थ कहते हैं। भाव पदार्थ में 'सत्ता' और 'वृत्ति' का अन्तर किया गया है। जो देश और काल में विद्यमान रहे वह सत्ता है इस प्रकार द्रव्य, गुण, कर्म ऐसे भाव पदार्थ हैं। और, जिसका दैहिक–कालिक अस्तित्व नहीं होता है उसे 'वृत्ति कहते हैं।

द्रव्य, गुण, कर्म, समवाय, सामान्य, विशेष ये षट् भाव पदार्थ हैं और अभाव सातवां पदार्थ स्वयं एक मात्र अभाव पदार्थ के अन्तर्गत हैं। पॉच महाभूत, काल, दिक, आत्मा और मन ये नौ द्रव्य हैं। गुणों की सं० चौबीस तक बतायी गयी है। भौतिक जगत की व्याख्या भा० दर्शन में सांख्य और वैशेषिक मौलिक रुप से करते हैं।

उदयनाचार्य ने "द्रव्यगुण, कर्म, सामान्य, विशेष,–समवायीनां पदार्थानां साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां तत्वज्ञानं निःश्रेयस हेतुः। इस प्रशस्तपाद के प्रथम गद्यभाग की व्याख्या के सन्दर्भ में अपने ग्रन्थ 'किरणावली' में उल्लेख किया है– "निःश्रेयसं पुनः दुःख–निवृत्तिः आत्यन्र्तिकी अत्रचवादिनां अविवादि एव नहि अपवृक्तस्य दुखं प्रत्यापद्यत इति कश्चिदभ्युपैति"। दुःख की आत्यान्तिक निवृत्ति निःश्रेयस है इसमें प्रतिपक्षियों को कोई विवाद नहीं है क्यों कि "दुःख से मुक्त होना" सब (निःश्रेयस) मोक्ष सबको मान्य है। उदयनाचार्य ने लिखा है यद्यपि दुःख का विनाश सीधे पुरुष प्रयत्न साध्य न होने से पुरुषार्थ नहीं है किन्तु दुःख के मूल कारण मिथ्याज्ञान का विनाश पुरुष के ज्ञान प्रयत्न

से ही संभव है अतः उसके कार्यभूत मिथ्या ज्ञान निवृत्ति से जन्यय होने के कारण परम्परया पुरुष प्रयत्न साध्य होने से पुरुषार्थ है।

न्याय और वैशेषिक दोनों दर्शन यह मानते हैं कि मोक्ष की अवस्था में आत्मा के साथ शरीर का और शरीर का मन से सम्बन्ध नहीं रहता है क्यों कि उस समय सारे संस्कार समाप्त हो चुके रहते हैं उस समय न तो किसी प्रकार का ज्ञान होता है न सुख, दुःख होता है। इसमें दुःखों का अभाव होता है। नैषधकार श्री हर्ष ने इस मोक्षावस्था का उपहास अपने ग्रन्थ तैषधचरितं में किया है और कहा है कि मनुष्य इसमें तो पाषाणकल्प हो जाता है।

यथा – मुक्तये यः शिलात्वाय शास्त्रमूचसचेतसाम ।

गोतमंतमेवेतैव यथा वित्थ तथैव सः ।।

न्यायवैशेषिक सम्मत मुक्ति के सम्बन्ध में ये निर्विवाद रुप से अज्ञानमूलक हैं। "भारतीय दर्शन की प्रमुख समस्याएं" नामक ग्रन्थ में कहा गया है कि– "न्यायवैशेषिक सम्मत मुक्ति के सम्बन्ध में युक्तियां निर्विवाद रूप से अज्ञानमूलक हैं जिसे आत्मा का वास्तविक स्वरुप ज्ञात है वह ऐसी बात कभी नहीं कर सकता, क्यों कि पाषाण में चैतन्य का उत्पत्तिस्थल होने की योग्यता नहीं होती, उसमें कभी भी ज्ञान का उदय नहीं होता, किन्तु आत्मा में चैतन्य के उदय की सहज योग्यता है, शरीर आदि का सम्पर्क होने पर उसमें ज्ञान का जन्म होता ही है। मोक्षावस्था में भी उसकी यह योग्यता समाप्त नहीं हो जाती है यदि उस अवस्था में भी उसे शरीर आदि का सम्पर्क प्राप्त हो तो उसमें ज्ञान का उदय यथापूर्व पुनः हो सकता है किन्तु शरीर आदि के साथ आत्मा का सम्बन्ध कराने वाले धर्म–अधर्म के न रहने से यह योग नहीं प्राप्त होता, अतएव उस अवस्था में आत्मा मे ज्ञान का उदय नहीं होता किन्तु वह ज्ञान का

आश्रय होने की अपनी सहज शाश्वत योग्यता के कारण समस्त अचेतन पदार्थों की अपेक्षा उत्कृष्ट रूप में विद्यमान रहता है।''[1]

परमाणुकारणवाद वैशेषिक का परमाणुकारणवाद सांख्य के सत्कार्यवाद के विपरीत असत्कार्यवाद को मानता है। इसे 'आरंभवाद' भी कहते हैं। पदार्थ की उत्पत्ति से तात्पर्य यह है– परमाणु से संयोग और विनाश का अर्थ है– परमाणु से संयोग–विभाग। परमाणु नित्य होते हैं। प्रत्येक नित्यपरमाणु में ''विशेष'' होता है जो उसका नित्य और व्यावर्तक होता है। कणाद ने यह माना है कि यह ब्रह्माण्ड शाश्वत परमाणुओं का एक ऐसा ढांचा है जो कर्म के अदृष्ट सर्वव्यापी नैतिक नियम द्वारा परिचालित और विकसित होता है।

इस प्रकार वैशेषिक दर्शन में जो पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु के प्राथमिक परमाणु हैं वह शाश्वत हैं किसी ने इसका निर्माण नहीं किया है। किन्तु इन परमाणुओं के योग और सम्मिश्रण से बनी वस्तुएं अपने स्वभाव के कारण ही विनाशशील और विघटनशील है अतः अशाश्वत हैं। जैसे घड़ा– उसके भले ही असंख्य टुकड़े कर दिये जाय किन्तु उसके परमाणुओं को कभी नष्ट नहीं किया जा सकता है। जो अनन्त काल से वर्तमान है।

शङ्कराचार्य ने अपने ब्रहमसूत्र शाङ्कर भाष्य १/१२ में वैशेषिक सिद्धान्त को संक्षेप में लिखा है– 'सामान्यतः हम कह सकते हैं कि सम्पूर्ण में अर्न्तनिहित अंगों का निर्माण संयुति के फलस्वरुप होता है। हम कह सकते हैं कि वे सभी वस्तुएं जो विभिन्न अंगों अथवा चार पदार्थों– पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु के मिलने से बनी हैं जैसे– पर्वत और सागर, वे सब चार प्रकार के परमाणुओं के विभिन्न प्रकार के संयोगों का परिणाम हैं। इन वस्तुओं को हम विभिन्न अंगों के सम्पूर्ण रुप मान सकते हैं जो अन्ततः परमाणुओं से उत्पन्न मानी जा सकती हैं तथा जो इस ब्रह्माण्ड के विघटन के

[1] भारतीय दर्शन की समस्याएं – परिसंवाद से तैयार पृष्ठ– ३६ प्रकाशन– राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी जयपुर।

समय पुनः परमाणुओं के रुप में विघटित हो जाती हैं। इस प्रकार शङ्कर ने वैशेषिक के पदार्थों को मात्र मान्यता कहा है।

सांख्यदर्शन

षड्आस्तिक दर्शनों में सांख्य का महत्वपूर्ण स्थान है। भारतीय दर्शन की आस्तिक विचारधारा में सांख्य दर्शन सर्वाधिक प्राचीन है। इस दर्शन के प्रतिष्ठापक आचार्य महर्षि कपिल माने जाते हैं। इनके नाम का उल्लेख उपनिषदों, गीता, महाभारत के शांतिपर्व आदि में भी मिलता है। कपिल वैदिक काल के मुनि थे इसमें कोई सन्देह नहीं है क्यों कि कपिल का उल्लेख श्रुतियों में मिलता है। श्वेता०उपनि० में कहा गया है – "ऋषि प्रसूतं कपिलम्"।

भगवतगीता में श्री कृष्ण ने कपिल को अपनी विभूतियों में गिनाया है– "सिद्वानां कपिलो मुनिः"। इस प्रकार सांख्य दर्शन की प्रचीनता सिद्ध होती है। शंकराचार्य ने अपने भाष्य में सांख्य को वेदान्त का "प्रधान मल्ल" प्रमुखप्रतिपक्षी के रूप में उल्लेख किया है। महर्षि वादरायण ने 'ब्रह्मसूत्र' में तथा आचार्य शंकर ने अपने ब्रह्मसूत्र शाङ्कर भाष्य के तर्कपाद में सांख्य का युक्तियों के द्वारा खण्डन करने के अलावा श्रुतिमूलक खण्डन भी किया है।

संख्यदर्शन का प्रसिद्ध ग्रन्थ 'सांख्यप्रवचनं सूत्र' है इसे कपिल द्वारा प्रणीत माना जाता है किन्तु इसको मानने में विद्वान एकमत नहीं हैं। क्यों कि शङ्कराचार्य प्रभृति अन्य आचार्यों ने इस ग्रन्थ का नामोल्लेख तक नहीं किया है। कुछ विद्वान इसे १५वीं शताब्दी की विज्ञानभिक्षु की रचना मानते हैं। ईश्वरकृष्ण की 'सांख्यकारिका' सांख्य का प्राचीनतम् ग्रन्थ है। वाचस्पति मिश्र ने 'सांख्यकारिका' पर अपनी प्रसिद्ध टीका 'सांख्य–तत्व–कौमुदी' लिखी। कपिल की दो रचनाओं का पता चलता है, 'तत्वसमास तथा सांख्यसूत्र'। 'तत्वसमास' केवल २२ छोटे सूत्रों का समुच्चय मात्र है। सांख्यसूत्र में ६ अध्याय हैं और सूत्र ५३७ हैं। कपिल के शिष्य 'आसुरि' का वर्णन प्राचीन ग्रन्थों में

१. प्रकृति से तात्पर्य केवल 'कारण' से है यह कारण मात्र प्रकृति है जो किसी का कार्य नहीं है।

२. कुछ तत्व केवल कार्य होते हैं जो किसी को उत्पन्न नहीं कर सकते हैं–विकृति ये सं० में १६ हैं

३. कुछ तत्व कारण और कार्य दोनों होते हैं ये संख्या में सात होते हैं।

४. और जो तत्व न तो प्रकृति कारण है न विकृति न कार्य है वह पुरुष है। यह चेतन आत्मा है। 'न प्रकृति न विकृति पुरुषः।' (साख्य कारिका)

सत्कार्यवाद

प्रत्येक कार्य का कोई न कोई कारण होता है बिना कारण के कार्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती है। जैसा कारण रहेगा उससे वैसी ही प्रकृति के कार्य की उत्पत्ति होगी। इस सिद्धान्त को कारणकार्यवाद कहते हैं। कारण–कार्यवाद के दो रुप होते हैं– १. सत्कार्यवाद २. असत्कार्यवाद

सांख्य दर्शन सत्कार्यवाद का पोषक है। इसके अनुसार कोई स्त्री कार्य अपनी उत्पत्ति से पूर्व कारण में अव्यक्त रुप से विद्यमान रहता है। इसस प्रकार कारण और कार्यरूप एक ही वस्तु के दो रुप है। कारणावस्था अव्यक्तरुप और कार्यावस्था व्यक्त रुप है।

सांख्य दर्शन गीता के इस सिद्धान्त पर टिका हुआ है– 'नासतो विद्यते भवः नाभावो विद्यते सतः। अर्थात् असत् से सत् की उत्पत्ति नहीं हो सकती है।

असत्कार्यवाद के अनुसार कार्यय अपनी उत्पत्ति से पूर्व अपने कारण में विद्यमान नहीं रहता है। कार्य की सत्ता उत्पत्ति से ही आरंभ होती है इस मान्यता के कारण असत्कार्यवाद को 'आरम्भवाद' भी कहते हैं। यदि कार्य अपनी उत्पत्ति से पूर्व कारण में विद्यमान रहता है तो वह सत होने से 'उत्पन्न' है फिर उत्पत्ति का प्रश्न ही नहीं उठ्ता है। उसकी दुबारा उत्पत्ति पुनरुत्पत्ति है जो व्यर्थ और अनावश्यक है इसको

मुख्य रुप से हीनयानी बौद्ध, वैशेषिक, नैयायिक, तथा कुछ मीमांसक असत्कायर्रूवाद को मानते हैं। सत्कार्यवाद के दो रुप हैं– १. परिणामवाद २. विवर्तवाद

सांख्य योग और रामानुज वेदान्त परिणामवाद को मानते हैं क्यों कि ये कारण का कार्य में परिवर्तन वास्तविक मानते हैं और जो लोग कारण का कार्य में परिवर्तन वास्तविक न मानकर प्रातीतिक मानते हैं उन्हे विवर्तवादी कहा जाता है। शून्यवाद, मूलविज्ञानवाद,शांङ्कर वेदान्त ब्रहम विवर्तवाद को मानता है। सांख्य प्रकृति परिणामवाद को मानता है सांख्य ने सत्कार्यवाद की सिद्धि के लिये जो युक्तियां दी गयी हैं वह निम्न कारिका से स्पष्ट हैं–

'असद कारणादुपादानंग्रहणात् सर्वसंभवाभावात।

शक्तस्य शक्य करणात् कारणभावाच्च सतकार्यम् ।सा०का०९

प्रकृति

स्मस्त जड़ जगत की जननी है किन्तु स्वयं अजन्मा है। सृष्टि का आदि कारण होने से इसे 'मूलप्रकृति' भी कहा जाता है। विश्व का प्रथम मौलिक तत्व होने के नाते इसे 'प्रधान' भी कहा जाता है। यह दिखायी नहीं देती है इसलिये 'अव्यक्त' कहलाती है और इसका केवल अनुमान ही किया जाता है इसलिये 'अनुमान' संज्ञा से भी व्यक्त किया जाता है। यह जड़ और अचेतन है विवेकशून्य है स्वतंत्र है, एक है, किन्तु अनेक पुरुषभोग्य है। प्रकृति त्रिगुणात्मिका है अर्थात् सत, रज, तम तीन गुणों से युक्त है इसलिये यह 'सु:ख दु:ख मोहात्मक है। प्रकृति प्रसवधर्मिणी है क्यों कि सम्पूर्ण जगत उसी से प्रसूत है।"त्रिगुणमविवेकि विषयः सामान्यमचेतनं प्रसवधर्मि'। (सांख्य कारिका ११)

सांख्य पकृति को ही जगत् का एकमात्र कारण स्वीकार करता है क्यों कि यदि चेतन ब्रहम, आत्मा यापुरुष को जड़ जगत का कारण मानने पर जगत जड़ न होकर चेतन हो जायेगा। प्रकृति अचेतन होते हुये भी निरंतर सकिय है। प्रकृति व्यक्तित्व रहित है क्यों कि व्यक्तित्व उसी का होता है जिसमें बुद्धि होती है और संकल्प किन्तु

प्रकृति में दोनों का अभाव है। सांख्य दर्शन में प्रकृति को 'माया' कहा गया है— 'मायां तु प्रकृतिं विहात मायिन तु महेश्वरम्' (श्वे०उप०४/१०)। "गुणानां साम्यावस्था प्रकृतिः" कहा गया है अर्थात् प्रकृति के तीनों गुणों की साम्यावस्था ही प्रकृति है। सां०कारिका में प्रकृति की सत्ता सिद्ध करने के लिये निम्न कारिका दी गयी है—

भेदानां परिमाणात् समन्वयात् शक्तितः प्रवृत्तेश्च।
कारण कार्य—विभागादविभागाद् वैश्वरुप्यस्य।।

सां०का०

प्रकृति और इसके तीन गुण

प्रकृति तीन गुणों से युक्त है इसलिये इसे 'त्रिगुणी' भी कहा जाता है ये तीनों गुण— सत, रज, तम हैं। ये गुण अति सूक्ष्म और अतीन्द्रिय है। इसलिये गुणों का भी प्रत्यक्ष नहीं होता है केवल इसका अनुमान होता है। सत्वगुण का कार्य सुख है रजोगुण का कार्य दुःख है और तमोगुण का कार्य मोह है। कौमुदीकार श्री मिश्र जी ने त्रिगुणों का जो विवेचन किया है वह इस प्रकार है—

"प्रीत्यप्रीतिविषादात्मकाः प्रकाशप्रवृत्ति नियमार्थाः।
अन्योन्याभिभवाश्रयजननमिथुन वृत्तयश्च गुणाः।"

इस उपर्युक्त कारिका में त्रिगुणों का सामान्य लक्षण दिया गया है और कहा गया है कि सत्व गुण का स्वरुप प्रीत्यात्मक, रजोगुण का अप्रीत्यात्मक (दुःखात्मक) तथा तमोगुण का स्वरुप विषादात्मक (मोहात्मक) है। इसका विशिष्ट लक्षण भी कौमुदीकार श्री मिश्र ने दिया है—

"सत्वं लघु प्रकाशकमिष्टमुपष्ठम्भकं चलं च रजः।
गुरु वरणकमेव तमः प्रदीपचाच्यार्थतो वृत्तिः" ।।

अर्थात् सत्वगुण लाघव एवं प्रकाश से युक्त होता है यही सत्व गुण अग्नि के उर्ध्वजलन एवं तिर्यगगमन में सहायक होता है। रजोगुण को अप्रवृत्तिशील सत्वतमादि

को स्व–स्व कार्यों में प्रवृत्त कराने के कारण उपष्ठम्भक (उत्तेजक) एवं चंचल कहा गया है। तमोगुण को, रजोगुण की प्रवृत्ति में प्रतिबन्धक होने के कारण गुरु एवं आवरणक कहा गया है। ('गुरुवरणकमेवतमः')

इन तीनों गुणों का प्रयोजन 'प्रकाश प्रवृत्तिनियमार्थाः है अर्थात् इस कारिकांश के अनुसार सत्वगुण–प्रकाशार्थ, रजोगुण–प्रवृत्यर्थ तथा तमोगुण नियमार्थ प्रवृत्त होता है। सम्मिलित रुप में ये तीनां गुण बत्ती–तेल–अग्नि समन्वित प्रदीपवत एक ही पुरुषार्थरुपी प्रयोजन को सिद्ध करते हैं। गुणों की साम्यावस्था प्रलय की होती है और विरुपावस्था में सृष्टि होती है।

पुरुष

सांख्य का दुसरा मूल तत्व पुरुष है। पुरुष की सत्ता स्वयंसिद्ध है। पुरुष न तो प्रकृति है न विकृति, अर्थात् न तो कारण है और न तो कार्य। 'न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः' ।।

पुरुष का स्वरुप प्रकृति से पर्याप्त भिन्न है। प्रकृति एक है– पुरुष अनेक है। प्रकृति अचेतन है किन्तु पुरुष चेतन है। प्रकृति कारण है किन्तु पुरुष न तो कारणहै और न कार्य है। प्रकृति स्वयं अजन्मा है किन्तु प्रसवधर्मिणी है क्योंकि सारा जड़ जगत इसी से प्रसूत है। पुरुष चेतन द्रव्य नहीं बल्कि चैतन्य इसका गुण या धर्म है। पुरुष चैतन्यस्वरूप है और चैतन्य उसका स्वभाव है। पुरुष विशुद्ध विषयी है जो कभी विषय या ज्ञेय नहीं बन सकता है वह साक्षी है, कूटस्थ नित्य है। पुरुष व्यापक, विभु है वह निगुण या निस्त्रैगुण्य है। पुरुष विधिनिषेध के ऊपर है। पुरुष को १०वीं ११वीं कारिका में पुरुष का स्वभाव प्रकृति स्वरुप वाला भी है और उससे भिन्न भी है। जैसा कि सांख्य कारिका में कहा गया है–

'हेतुमद नित्यमव्यापि, सक्रियमनेकमाश्रितं, लिङ्गम।
साडवयं परतन्त्रम् व्यक्तं विपरीतमव्यक्तम् ।।१०।।

त्रिगुणम विवेकिविषयः, सामान्यमचेतनं प्रसवधर्मि।

व्यक्तं तथा प्रधानं तद्विपरीतस्तथा च पुमान ।।११।।

११वीं कारिका में पुरुष को प्रकृति के स्वरूप से भिन्न यथा– त्रिगुणातीत, विवेकी, अविषयी, असामान्य, चेतन तथा अप्रसवधर्मी कहा गया है। १०वीं कारिका में पुरुष को प्रकृति के स्वरूप वाला कहा गया है यथा– अहेतुमत, नित्य, व्यापी, निष्क्रिय, एक, अनाश्रित, स्वतंत्र, अलिंडग है। पुरुष की सत्ता सिद्ध करने के लिये सांख्य कारिका में निम्न कारिका दी गयी है–

संघातपरार्थत्वात त्रिगुणादिविपर्ययादधिष्ठानात्।

पुरुषोऽस्ति् भोक्तृभावात् कैवल्यार्थ प्रवृत्तेश्च।। १७ ।।

पुरुष नित्य और एक होते हुये भी शरीर भेद से बहुत हैं– सांख्य पुरुषों में संख्यागत भेद और गुणगत अभेद मानता है। इस प्रकार सांख्य पुरुष बहुत्व को स्वीकार करता है– निम्न कारिका से स्पष्ट है–

"जनन–मरण–करणानां प्रतिनियमाद युगपत्यप्रवृत्तेश्च।

पुरुष बहुत्वं सिद्धं त्रैगुण्य वपर्ययाच्चैव ।। १८ ।।

अर्थात् जन्म–मृत्यु और इन्द्रियों के प्रतिनियम से या प्रत्येक शरीर का जन्म–मरण और इन्द्रियों के संघात के पृथक–पृथक होने से तथा त्रैगुण्य के विपर्यय से पुरुष का बहुत होना स्वयं सिद्ध है। विभिन्न पुरुषों का जन्म अलग २ होता है और मृत्यु भी अलग २ होती है और ज्ञानेन्द्रिय भी अलग–अलग होती है। अन्यथा एक पुरुष के जन्म से सबका जन्म और एक पुरुष की मृत्यु से सबकी मृत्यु हो जाती। इस प्रकार यदि कोई पुरुष किसी रुप गन्ध आदि का अनुभव करता तो सभी पुरुष वही करते। इससे यही सिद्ध होता है कि पुरुष एक न होकर अनेक है।

प्रकृति–पुरुष सम्बन्ध

सांख्य द्वैतवादी है, प्रकृति और पुरुष दो मूल तत्वों को मानता है। ये दोनो तत्व यद्यपि एक दूसरे के स्वभावतः प्रतिकूल हैं किन्तु इनके संयोग से ही सृष्टि होती है। प्रकृति–पुरुष का संयोग अनादि अविद्या के कारण होता है जैसा कि 'योग सूत्र' में कहा गया है 'द्रण्टुदृश्ययोः संयोगो हेय हेतुः'। अर्थात द्रष्टा–दृश्य का संयोग हेय का हेतु है। पुरूष चिन्मात्र है। वह अपरिणामी, नित्य और सर्वव्यापी है। प्रकृति त्रिगुणात्मिका है और पुरूष निस्त्रैगुण्य है। सांख्य दर्शन के अनुसार प्रकृति–पुरूष का (सम्बन्ध) संयोग भी अंधे और लंगड़े के समान सप्रयोजन होता है। इसका मुख्य रूप से दो प्रयोजन होता है भोग और मोक्ष प्रकृति का मुख्य प्रयोजन भोग है तथा पुरूष का प्रयोजन मोक्ष है। अर्थात् प्रकृति भोग के लिये पुरूष की अपेक्षा रखती है और पुरूष मोक्ष के लिये प्रकृति की अपेक्षा रखता है। ईश्वर कृष्ण ने इसको इस प्रकार व्यक्त किया है– पुरुषस्य दर्शनार्थ कैवल्यार्थ तथा प्रधानस्य ।पङ्ग्वन्धवदुभयोरपि संयोगः तत्कृतः सर्गः। (सांख्य कारिका १२)

अर्थात् प्रकृति भोग्या है, त्रिगुणात्मिका है, अचेतन है आदि इसलिये कोईऐसा तत्व होना चाहिये जो भोक्ताहो, निस्त्रैगुण्य और चेतन हो। यह पुरुष ही सिद्ध होता है। प्रकृति और पुरुष का संयोग सम्बन्ध किसी देश–काल में नहीं होता है यह केवल विचार जगत में सन्निधि मात्र होता है। और यह संयोग दोनों की आकांक्षा पर निर्भर करता है। यह संयोग सृष्टिकाल (सर्ग) में होता है, प्रलयकाल में दोनों का वियोग होता है। प्रकृति पुरुष संयोग अयस्ककान्त मणिवत् होता है।

सृष्टिक्रम

सांख्य दर्शन निरीश्वरवादी और सत्कार्यवादी दर्शन है। प्रकृति और पुरुष–जीव के अनादि संयोग से ही लगत् की रचना मानी गयी है। सांख्य कारिका में ईश्वर कृष्ण ने जगत की रचना में प्रकृति की स्वतंत्र प्रवृत्ति का वर्णन इस प्रकार किया है– "वत्स

विवृद्धि निमित्तं क्षीरस्य यथा प्रवृत्तिरज्ञस्य। पुरूष विमोक्ष निमित्तं तथा प्रवृत्ति प्रधानस्य।।"

जिस प्रकार दूध अचेतन होते हुये बछड़े के पालन के निमित्त गाय के स्तन से स्वयं प्रवाहित होने लगता है उसी प्रकार पुरूष जीव के भोग और मोक्ष के लिये प्रकृति जगत् की रचना में स्वयं व्यापृत होती रहती है। इस प्रकार पंङ्बन्ध्ववत् प्रकृति–पुरूष संयोग होने पर प्रकृति से महत् (बुद्धि) का आर्विभाव होता है यह अचेतन होती है किन्तु पुरूष के प्रतिबिम्ब से प्रतिबिम्बित होकर चेतनवती सी हो जाती है और अध्यवसाय बुद्धि का लक्षण है। फिर महत् तत्व से अहंकार और एतद्नन्तर अहंकार से षोडश्समुच्चय उत्पन्न होता है। अर्थात् अहंकार के सात्विक अंश से एकादश इन्द्रियां उद्भूत होती है और तमोगुण के प्रधान अंश से पञ्चतन्मात्राएं उद्भूत होती है फिर इन तन्मात्राओं से पंचमहाभूत उत्पन्न होता है। जैसा कि सां० कारिका कार ने लिखा है–

"प्रकृतेर्महास्ततोऽहंकारस्तस्माद्गणश्च षोऽशकः।
तस्मादपि षोडशकात्पञ्चभ्यः पञ्च भूतानि।। २२।।"

सृष्टिक्रम विकासवाद को तालिका से इस प्रकार दिखाय जा सकता है–
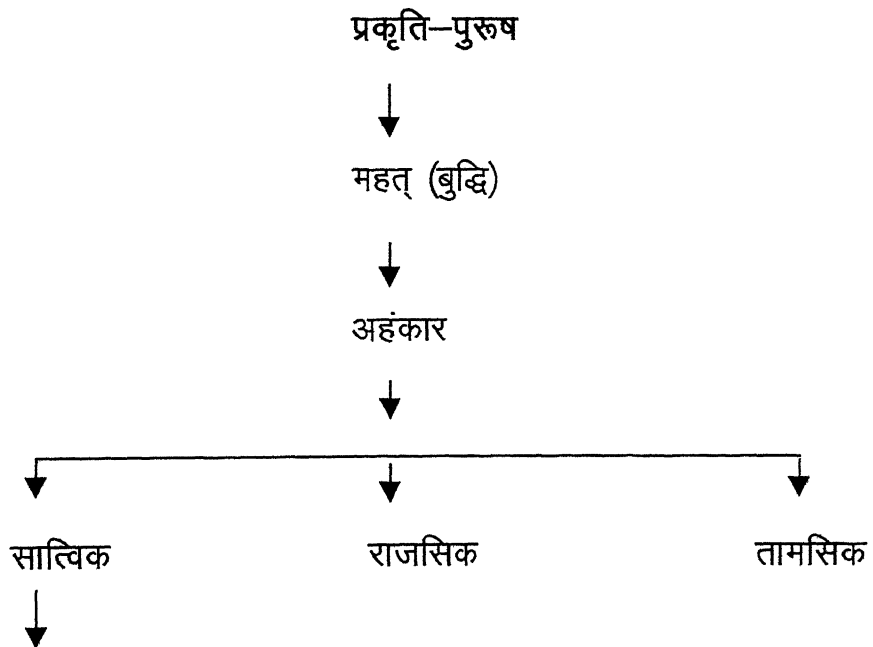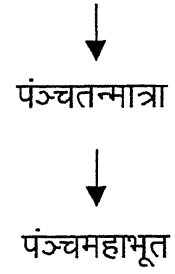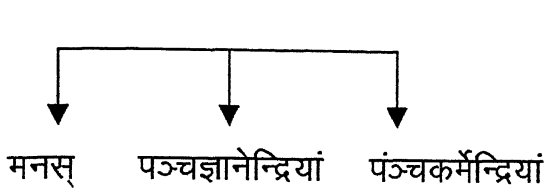
गुणों में जब क्षोभ उत्पन्न होता है तब उसकी साम्यावस्था भंग हो जाती है और एक गुण दूसरे गुण पर प्रभुत्व जमाने की कोशिश करते हैं और जो गुण शक्तिशाली होता है उसी के अनुरूप वस्तु का निर्धारण होता है। इस प्रकार पच्चीस तत्व सांख्य मानता है। सांख्यकारिकाकार ने निम्न कारिका से स्पष्ट किया है–

मूलप्रकृतिर विकृतिर्महदाद्या प्रकृति विकृतयः सप्त।
षोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरूषः।।

इस प्रकार प्रथम महत् तत्व से प्रारम्भ होकर अन्तिम पञ्चमहाभूतों तक का यह सारा प्रकृतिकृत सृष्टिक्रम प्रत्येक पुरूष को मुक्त कराने के लिये प्रवृत्त होता है। 'प्रतिपुरूषविमोक्षार्थ स्वार्थ इव परार्थआरम्भः'। इतः प्रकृति का स्रार्ष्ठ व्यापार पुरूष के भोग और मोक्ष के सम्पादन के लिये होता है।

बन्धन और मोक्ष या अपवर्ग

जब पुरूष का प्रकृति से संयोग होता है तब पुरूष का प्रतिबिम्ब चितिच्छायापपत्ति के माध्यम से प्रकृति (बुद्धि) पर पड़ता है और बुद्धि चेतनवती सी होकर विषयाकारकारित हो जाती है।[1] और प्रतिबिम्बित पुरूष अस्मिता पुरूष है और प्रकृति के सारे कार्य सम्पादन को अपना समझने लगता है यही पुरूष का बन्धन है। शुद्ध पुरूष या 'ज्ञ' पुरूष का बन्धन नहीं होता है बल्कि 'अस्मिता पुरूष' का होता है। प्रकृति अपने सात रूपों के द्वारा पुरूष को बांधती है और एक रूप ज्ञान मात्र से मुक्त करती है–

"रूपैः सप्तभिरेव तु बध्नात्यात्मानमात्मना प्रकृतिः।

[1]सा० का० में– तस्माद् तत्सयोगादचेतनं चेतनावदिव लिंगम्। गुणकर्तृत्वेऽपितथाकर्तेवभवत्युदासीन।।२०।।

सैव च पुरूषार्थं प्रति विमोचयत्येक रूपेण।।"(सा०का०)

इस प्रकार कहा गया है कि इस बन्धन में प्रकृति ही बंधती और मुक्त होती है पुरूष में ये उपचार मात्र से आरोपित होती है क्योंकि पुरूष तो सर्वथा मुक्त है।

'तस्मान्नंवध्यतेऽद्धा न... संसरतिवध्यते मुच्यते च नानाश्रया प्रकृतिः।।'

जैसे सेना की जय–पराजय स्वामी (राजा) में आरोपित होती है वैसे ही भोग और अपवर्ग प्रकृति का होते हुये भी पुरूष में उपचारित किये जाते हैं। कैवल्य से तात्पर्य मोक्ष या दुःखत्रय की एकान्तिक व आत्यान्तिक निवृत्ति है यह ऐकान्तिक दुःखनिवृत्ति, प्रकृति–पुरूष विवेक ज्ञान से ही संभव है– "व्यक्ताव्यक्त विज्ञानात्।" इस प्रकार 'दृष्टा' और 'दृश्य' का संयोग दुःख का कारण है– 'द्रष्टृदृश्ययोः संयोगो हेय हेतुः' (योगदर्शन १७) और इन दोनों के संयोग का अभाव ही 'अपवर्ग' है। इस प्रकार जब पुरूष को विवेकज्ञान अथवा साक्षात्कार हो जाता है तब पुरूष प्रकृति के बन्धन से मुक्त हो जाता है और प्रकृति को रंगमंच पर नृत्य करती हुयी नर्तकी के रूप में दर्शक की भांति, बैठकर देखता है और प्रकृति भी इस मुक्त पुरूष के लिये सोचती है कि मैं इसके द्वारा देख ली गयी हूँ। और ऐसा सोचकर अपना कार्य सम्पादन बन्द कर देती है– 'रङ्स्यदर्शियित्वा निवर्ततेनर्तकी यथा नृत्यात्'। पुरूष भी प्रकृति को "देखचुका हूँ" ऐसा सोचकर उपेक्षा कर देता है और पुरूष में बुद्धि के सात परिणाम दग्ध बीज हो जाते हैं जिससे उनका कोई फल नहीं होता है–इसप्रकार यह जीवन मुक्त की अवस्था होती है–

"सम्यग ज्ञानाधिगमाद् धर्मादीनाम कारण प्राप्तौ।

तिष्ठति संस्कार वंशाच्चक्रम भ्रमवद्धृतशरीरः।।" (६७ सांख्य कारिका)

प्रारब्ध कर्मों के संस्कार के कारण वह संदेह बना रहता है किन्तु जैसे ही प्रारब्ध कर्म समाप्त हो जाते हैं वह विदेह मुक्त हो जाता है और शरीर नहीं रह जाता है। पुरूष कभी नाश न होने वाले अवश्यसंभावी, ऐकान्तिक व आत्यान्तिक कैवल्य को प्राप्त

होता है–''प्राप्तेशरीर भेदे, चरितार्थत्वात प्रधानविनिवृतौ। ऐकान्तिकमात्यन्तिकमुभयं कैवल्यमाप्नोति।।'' (सां० का० ६८)

४. योग दर्शन

सभी भारतीय दर्शनों के बीच योग दर्शन का स्थान अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इस दर्शन के मुख्य प्रणेता महर्षि पतंजलि माने जाते हैं। इसलिये इसे **''पातंजल दर्शन''** भी कहा जाता है। इस दर्शन का मुख्य ग्रन्थ ''योगसूत्र'' या ''पातंजलसूत्र'' है जो चार भागों में विभक्त है– समाधिपाद, साधनपाद, विभूतिपाद तथा कैवल्यपाद। ''योग सूत्रों पर व्यासमुनि का भाष्य है जिसे 'व्यासभाष्य' या 'योगभाष्य' भी कहा जाता है। व्यास भाष्य पर दो टीका (व्याख्याएं) है– १– वाचस्पतिमिश्र की योगतत्व वैशारदी है। २– विज्ञानभिक्षु की योग वार्तिक अति प्रसिद्ध है।

'योग' का महत्व स्पष्ट रूप से वेद, उपनिषद, स्मृति, पुराण आदि सभी ग्रन्थों में वर्णित मिलता है। जैसा कि ऋग्वेद में कहा गया है– 'योगे–योगेतवस्तरं वाजे वाजे हवामहे। सखायइन्द्रमूतये।।' निश्चतरूप से इसमें उल्लिखित ''योग'' शब्द योग साधना का ही अर्थ देता है। योग की महत्ता और उपयोगिता कावर्णन उपनिषदों में भी हुआ है– कठोपनिषद में आत्मज्ञान के एकमात्र साधन के रूप में योग को स्वीकार किया गया है– अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति।[1]

वृहदारण्य उपनिषद में भी आत्मज्ञान के लिये समाधि को अनिवार्य रूप से प्रतिपादित किया गया है।[2] श्वेताश्वेतर उपनिषद में भी योग की मुक्तकंठ से प्रशंसा की गयी है–'योग प्रवृत्तिं प्रथमां वदन्ति।'[3] सभी भारतीय दर्शनों के बीच योग दर्शन का स्थान अत्यन्त महत्वपूर्ण है। शङ्कराचार्य और वाचस्पति[4] मानते हैं कि हिरण्यगर्भापरनामा कपिल ने सर्वप्रथम 'सांख्य योग' को उपदेश दिया। सांख्य तथा योग

---

[1] कठोपनिषद १/२/२१

[2] तस्मददेवं विच्छान्तो दान्त उपरतास्तितीक्षु.समाहिते भूत्वाऽऽत्मन्येवात्मानं पश्यति(बृहदा० ४/४/२३)तस्मादेवं।

[3] श्वेता० उप० २१९२

एक ही दर्शन के सैद्धान्तिक एवं क्रियात्मक पहलू हैं। दोनों ही दर्शन में अभिन्नता है। इसकी अभिन्नता का प्रमाण इससे भी स्पष्ट होता है कि योग सूत्र के भाष्यकार व्यास नें अपनें भाष्य का नाम <u>''सांख्यप्रवचन भाष्य''</u> रखा। श्रीमद्भगवद्गीता भी अपने को योगशास्त्र की संज्ञा देती है तथा जीवन के अभ्युदय के लिये सांख्य तथा योग को आधार लेना आवश्यक बताती है।

''लोकेऽस्मिन द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघः।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्।।''

यद्यपि गीता में प्रयुक्त 'सांख्य' और 'योग' शब्द को सांख्यदर्शन और पातञ्जल दर्शन में एकदम सटीक पयार्यवाची नहीं मानते हैं। किन्तु आन्तरिक हावभाव सांख्य और योग का गीता से मिलता–जुलता है। कुछ विद्वानों का मन्तव्य है कि सांख्य और योग दोनों उस पुरातन काल में एक ही दर्शन के सम्मिलित नाम थे। अन्तर मात्र इतना था कि यदि एक तत्वसिद्धान्त था तो दूसरा उस सिद्धान्त को साक्षात्कार करने का साधन पथ था।सांख्य और योग की अभिन्नता का प्रतिपादन गीता में बहुत ही सुन्दर ढंग से किया गया है–

सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः।
एकमाप्यास्थितः सम्युगुभयोर्विन्दते फलम्।। (श्रीमद्भगवतगीता ५/४)

इसके (श्री मद्भगवतगीता) पांचवे अध्याय के पांचवे श्लोक में कहा गया है–

'यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति।। (श्रीमद्भगवतगीता ५/५)

सांख्य दर्शन के द्वारा स्वीकृत २५ तत्वों को योग भी स्वीकार करता है किन्तु योग सांख्य से हटकर २६वां तत्व 'ईश्वर' को मानता है इसलिये इसे <u>'सेश्वरसांख्य'</u> भी कहते हैं। किन्तु ईश्वर को अतिरिक्त तत्व न मानकर 'पुरूषतत्व' में ही समाहित किया

---

[४] कपिलोनामविष्णोरवतारविशेषः प्ररिद्धःस्वयंभूहिरण्यगर्भस्तस्यापि सांख्ययोगप्राप्तिर्वेदे श्रूयते । स एतेश्वर आदि विद्वान विष्णुःस्वयंभूरितभावः(त०वैशा० १६२५)

गया है। सांख्य द्वारा स्वीकृत तीन प्रमाणों के प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द को योग भी स्वीकार करता है। सांख्य दर्शन की तरह योग दर्शन भी द्वैतवादी है और उसके तत्वशास्त्र को पूर्णतः स्वीकार करता है केवल ईश्वर को जोड़ देता है। इसलिये सांख्य और योग को 'समान तंत्र' कहा जाता है।

'योग' शब्द युज् धातु में 'घञ्' प्रत्यय लगाने से निष्पन्न होता है। 'युज'–समाधै धातु 'दिवादिगणीय (आत्मने पद) में पायी जाती है– सांख्य योगशास्त्र में 'योग' शब्द का अभीष्ट अर्थ समाधि अर्थात चित्तवृत्ति का निरोध ही स्वीकार किया गया है।

१– 'योगः समाधिः स च सार्वभौमः चित्तस्य धर्मः।'

२– योगश्चित्त वृत्ति निरोधः समाधिः। (योग सूत्र १/२)

इस प्रकार स्पष्ट होता है कि सांख्ययोगदर्शन में प्रयुक्त 'योग' शब्द 'युज्' समाधौ धातु से ही 'घञ्' प्रत्यय लगाकर बना हुआ है। 'योग' शब्द का प्रचलित अर्थ 'मिलन' है अर्थात 'जीवात्मा का परमात्मा से मिलन।' योगियाज्ञवल्क्य में योग लक्षण दिया गया है 'संयोगों योग इत्युक्तः जीवात्मपरमात्मनोः।'

योगसूत्र चार पादों में विभक्त है समाधि, साधन, विभूति, कैवल्य। समाधिपाद में चित्त को बाह्य विषयों से हटाकर पुरूष के वास्तविक स्वरूप में समाहित करने की विधि वर्णित है। साधनपाद में चित्त की बर्हिमुख वृत्तियों के निरोध और अन्तर्मुख सात्विक वृत्तियों के प्रवर्तन के उपायों का वर्णन है। विभूतिपाद में उन समस्त उपलब्धियों का वर्णन है जो योग से चित्त के शक्ति सम्वर्द्धन और पुरुष के स्वरूप बोध से होती है। कैवल्यपाद में पुरूष अपने विवेकख्याति से विशुद्ध, नितान्त निर्मल, चैतन्यस्वरूप में अवस्थित हो जाता है।

चित्त•ृत्ति

'योगश्चित्तवृत्ति निरोधः' इस प्रथम सूत्र में कहा गया है कि चित्त की वृत्तियों का निरोध ही योग है और 'योगः समाधि' अर्थात् योग ही 'समाधि' है। वृत्ति से तात्पर्य

है जब चित्त इन्द्रियों द्वारा वाह्य विषयों के सम्पर्क में आता है अथवा स्वयं ही मानस विषयों के सम्पर्क में आता है तब वह विषय का आकार ग्रहण कर लेता है और इस प्रकार 'तदाकाराकारित' हो जाता है इसे ही 'वृत्ति' कहते हैं। इस प्रकार क्लिष्ट अक्लिष्ट के भेद से वृत्तियां पांच प्रकार की होती है– "प्रमाण विपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतयः" (योग सूत्र ६)। अविद्यादि पञ्चक्लेशों से उत्पन्न होने वाली (वृत्तियों) तथा कर्मसंस्कार समूहों को उत्पन्न करने वाली वृत्तियाँ क्लिष्ट और विवेकख्यातिविषयक गुणों के कार्य की विरोधनी वृत्तियां अक्लिष्ट कही जाती हैं। इन चित्त–वृत्तियों का निरोध चित्तभूमियों में ही होता है। ये चित्त भूमि हैं– क्षिप्त, मूढ़, विक्षिप्त, एकाग्र, निरूद्ध, इन पांच भूमियों में क्रमशः पांच वृत्तियों का निरोध होता है। योगशास्त्र में साधकों की तीन श्रेणियां बतायी गयी हैं– १. उत्तम, २. मध्यम, ३. अधम। इन्हें क्रमशः योगरूढ़, युञ्जान तथा आरुरक्षु भी कहा गया है।

१. योगसूत्रकार महर्षि पतंजलि ने उत्तम साधक को चित्तवृत्ति निरोध के लिये अभ्यास, वैराग्य को बताया है 'अभ्यास्वैराग्याभ्यांतन्निरोधः।'

२. मध्यम योगी के लिये क्रिया योग को बताया गया है– 'तपःस्वाध्यायईश्वर प्रणिधानंक्रियायोगः।'

३. अधम साधकों के लिये अष्टांग योग को बताया गया है।

अष्टांग योग

यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि ये योग के आठ अंग है। 'यमनियमाऽऽसनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावंगानि।'

१. **यम–** 'अहिंसा–सत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहाः यमाः[२]।।३०।। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह यम हैं।

[२] पातंञ्जल योग दर्शनम्– डा० सुरेश चन्द्र श्रीवास्तव– पृ० २६५।

२. **नियम**– 'शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वर प्रणिधानानिनियमाः।' शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वर प्राणिधान ये पांच नियम है।

३. **आसन**– 'स्थिरसुखमासनम्' जिसमें स्थिर सुख की प्राप्ति हो वह आसन है।

४. **प्राणायाम**– 'तस्मिन् सति श्वास प्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः।' अर्थात् आसन–सिद्धयनन्तर श्वास प्रश्वास की गति का ही विच्छेद 'प्राणायाम' है।

५. **प्रत्याहार**– 'स्वविषया सम्प्रयोगे चित्तस्य स्वरूपानुकारइवेन्द्रियाणाम प्रत्याहारः।।' इन्द्रियों का अपने अपने विषय[२] के साथ संयुक्त न होने पर चित्ताकार स्वरूप सा हो जाना ही प्रत्याहार है।

६. **धारणा**– 'देशबन्धचित्तस्य धारणा' अर्थात् चित्त को नासिकादि किसी देशविशेष में एकाग्र करना ही धारणा है।

७. **ध्यान**– 'तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्'– किसी विषय पर चित्त की एकाग्रता ही ध्यान है।

८. **समाधि**– 'तदेवार्थ मात्र निर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः। अर्थात् ध्यान ही ध्येय के स्वरूप का होकर और स्वस्वरूप से शून्य जैसा हो जाता है। धारणा, ध्यान, समाधि योग के अन्तरङ्ग साधन है और उपर्युक्त पांच वहिरङ्ग साधन है। समाधि के अन्तर्गत दो प्रकार की समाधि वर्णित की गयी है– १. सम्प्रज्ञात समाधि, २. असम्प्रज्ञात समाधि।

सम्प्रज्ञात समाधि

'सम्यक् प्रज्ञायतेऽस्मिन्निति सम्प्रज्ञातः'। अर्थात् चित्त की एकाग्र भूमि में जब वृत्ति का निरोध होता है तब सात्विक बुद्धि पूर्णरूप से उदित हो जाती है और प्रकृति–पुरूष का विवेकज्ञान हो जाता है– 'व्यक्ताव्यक्त विज्ञानात'। सम्प्रज्ञात समाधि असम्प्रज्ञातसमाधि की पूर्ववर्ती साधन मात्र है और इसके सिद्ध होने पर ही असम्प्रज्ञात समाधि होती है। सम्प्रज्ञात समाधि सिद्धिचार सोपानक्रम में होती है–

१. वितर्कानुगत २. विचारमुगत

३. आनन्दानुगत ४. अस्मितानुगत।

चौथे अस्मितानुगत समाधि में ही विवेक ख्याति का उदय होता है और 'धर्ममेध समाधि' भी इसे कहा जाता है। यह जीवनमुक्त की अवस्था होती है।

असम्प्रज्ञात समाधि

यह सम्प्रज्ञात समाधि की साध्यभूता समाधि है– इसका लक्षण– 'विरामप्रत्ययअभ्यासपूर्वः संस्कारशेषोऽन्यः' (योग सूत्र १/१८) में बताया गया है। यह विदेह मुक्ति की अवस्था होती है। यह दो सोपानों में होती है–

१– भव प्रत्यय असम्प्रज्ञात समाधि।

२– उपाय प्रत्यय असम्प्रज्ञात समाधि।

योग दर्शन का कैवल्य सांख्य के कैवल्य या अपवर्ग जैसा ही है। प्रतिकूल वेदनीय दुःख से छुटकारा प्राप्त करना ही कैवल्य है। योग के अनुसार 'पुरूषार्थ शून्य गुणों का प्रतिप्रसव तथा पुरूष का अपने स्वरूप में अवस्थापन मोक्ष है– 'पुरूषार्थ शून्यानां गुणानांप्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तिरिति।' (४/३३ कैवल्यपाद) पुरुष के अपने स्वरूप में अवस्थिति हो जाने पर बुद्धि भी मुक्त हो जाती है और पुरूष भी– 'तदाद्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्' (योग सूत्र १/३)।

योगदर्शन समाधि में सिद्धि के लिये ईश्वर को आवश्यक मानता है। इसका वर्णन योगसूत्र में १/२४, १/२५, १/२६, १/२७, १/२८, १/२६ में किया गया है। ईश्वर एक पुरूष विशेष है जो सर्वथा मुक्त है– 'क्लेशकर्म विपाकाशैः परामृष्टः पुरूषविशेष ईश्वरः।' यो० सू० (१/२४) ईश्वर का वाचक शब्द प्रणव अथवा ओङ्कार है।[1] योग साधना में ईश्वर का महान उपयोग यह है कि उसकी भावना करने और उसके नाम का जप करने से योगमार्ग के सारे विघ्न दूर हो जाते हैं और साधक को

[1] तस्यवाचकः प्रणव· यो० सू० (१/२७)

अपने स्वरूप का दर्शन होता है और कैवल्य की सिद्धि होती है। योग दर्शन में ईश्वर को सर्वज्ञ माना गया है "तत्र निरातिशयं सर्वज्ञ बीजम्।"[2] अर्थात् ज्ञान का निरातिशय होना उसकी सर्वज्ञता का द्योतक है। इस दर्शन में ईश्वर को सबका गुरू कहा गया है– जैसाकि "सर्वेषामपि गुरूः काले नानवच्छेदात्" इस सूत्र से विदित होता है। ईश्वर के चिन्तन से प्रत्येक चेतन बुद्धि के प्रति सम्वेदी पुरूष अर्थात जीव का उसके वास्तव विशुद्ध चैतन्य रूप में बोध होता है और इस बोध के प्रयास में होने वाले विघ्नों का निराकरण होता है– 'ततः प्रत्यक्चेतनाभिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च।।" (१/२६ योग सूत्र)।

मीमांसा दर्शन

आस्तिक दर्शनों की श्रेणी में मीमांसा दर्शन का महत्वपूर्ण स्थान है। इस दर्शन के मुख्य प्रणेता महर्षि 'जैमिनी' माने जाते हैं। 'मीमांसा' शब्द का अर्थ है– 'पूजित विचार'। यह शब्द पहले कर्मकाण्ड विषयक जिज्ञासा के लिये प्रयुक्त होता था। अर्थात् 'मीमांसा' का अर्थ है– किसी वस्तु के स्वरूप का यथार्थ वर्णन। मीमांसा दर्शन का उद्देश्य है– ब्राह्मणों के कर्मकाण्डों और यज्ञों आदि का प्रणालीबद्ध विवेचन प्रस्तुत करना। वेद के दो भाग हैं– १. कर्मकाण्ड, २. ज्ञानकाण्ड।

कर्मकाण्ड के अन्तर्गत यज्ञ–यागादि की विधि तथा अनुष्ठान का वर्णन कर्मकाण्ड का विषय है। ज्ञानकाण्ड के अन्तर्गत जीव–जगत–ईश्वर के परस्पर सम्बन्ध का वर्णन किया जाता है। मीमांसा दो प्रकार की है– १. कर्ममीमांसा, २. ज्ञान मीमांसा।

कर्ममीमांसा

कर्म विषयक ज्ञानों का परिहार करती है। और ज्ञान मीमांसा ज्ञान विषयक बातों का परिहार करती है। कर्ममीमांसा को पूर्वमीमांसा या मीमांसा भी कहते हैं। ज्ञान मीमांसा को उत्तर मीमांसा या वेदान्त कहते हैं। वेदान्त वेद के उत्तर भाग अर्थात उपनिषद भाग या ज्ञानकाण्ड पर आधारित है इसलिये इस उत्तर मीमांसा, ब्रह्ममीमांसा

---

[2] यो० सू० १/२५।

या ज्ञान मीमासा भी कहते हें। पूर्व मीमांसा का मूल–ग्रन्थ जैमिनि का सूत्र है। जिसकी सूत्र संख्या २७४५ है। मीमांसा सूत्र १६ अध्यायों में विभक्त है। जिनमें प्रथम १२ अध्यायों के द्वादशलक्षणी मीमांसा भी कहते हैं। और अन्तिम ४ अध्यायों को 'संकर्षण काण्ड' या 'देवता काण्ड' के नाम से भी जाना जाता है। महर्षि जैमिनी ने मीमांसा के आठ आचार्यों के मत का उल्लेख किया है– आत्रेय, आलेखन, आश्मरथ्य, ऐतिशायन, कामुकायन, कार्ष्णाजिनि, बादरायण, बादरि तथा लालुकायन। जैमिनी सूत्र पर शबर स्वामी (२०० ई०) का प्रसन्न गंभीर भाष्य है जिसे 'शबर भाष्य' कहा जाता है। प्राचीन वृत्तिकार उपवर्ष (१००–२०० ई०) भर्तृहरि, भवदास, देवस्वामी आदि ने वृत्तियाँ लिखी।

मीमांसा प्रणेता जैमिनी के काल को लेकर विद्वानों में मतभेद हैं– 'राधकृष्णन' यह मानते हैं कि 'जैमिनी' ईसा–पूर्व चौथी शताब्दी के महापुरूष थे। हिरियन्ना का मत है कि उनका जीवन काल ईसा पूर्व दूसरी और तीसरी शताब्दी के मध्य बीता था। पतञ्जलि जो ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी के मध्यकाल में हुये थे अपने महाभाष्य में मीमांसा की चर्चा की है। अतः यह मानना तर्कसंगत ही जान पड़ता है कि जैमिनी, पतञ्जलि से पूर्व के हुये होंगे। सांख्य और योग के समान मीमांसा और वेदान्त को भी समानतंत्र कहा जाता है। क्योंकि इनमें काफी समानता है– मीमांसा सूत्र का प्रथम सूत्र है– 'अथातो धर्म जिज्ञासा।' और वेदान्त सूत्र का प्रथम सूत्र है– अथातो ब्रह्म जिज्ञासा (जब ब्रह्म की जिज्ञासा करनी चाहिये)। दोनों ही दर्शन वेदाश्रित है। इसलिये रामानुजाचार्य ने मीमांसासूत्र और वेदान्तसूत्र को एक ही शास्त्र के पूर्व तथा उत्तर खण्डों के रूप में स्वीकार किया गया है।

'शबर–भाष्य' के दो व्याख्याकार थे १. प्रभाकर मिश्र, २. कुमारिल भट्ट। और इन दोनों ने दो मत स्थापित किये। प्रभाकर मिश्र का मत 'गुरुमत' कहलाता है। कुमारिल के प्रभाकर शिष्य थे उनकी प्रखर बुद्धि को देखकर कुमारिल ने उनका नाम 'गुरु' रख दिया। कुमारिल भट्ट के तीन विशालकाय वृत्ति ग्रन्थ हैं– श्लोकवार्तिक,

तंत्रवार्तिक और दुपटीका। पार्थसारथि मिश्र ने श्लोकवार्तिक पर 'न्यायरत्नाकर' टीका लिखी है उनका प्रकरण ग्रन्थ 'शास्त्र–दीपिका' प्रसिद्ध है। कुमारिल भट्ट के टीकाकारों में पार्थसारथि मिश्र, माधवाचार्य और खण्डदेव का नाम प्रसिद्ध है। पार्थसारथि मिश्र ने न्यायरत्नाकार, तर्करत्न, न्यायरत्नमाला आदिवार्तिक की रचना किये।

मुरारि मिश्र के विषय में कहा गया है– 'मुरारेस्तृतीयः पन्थाः'। अर्थात मीमांसा के तृतीय सम्प्रदाय का प्रवर्तक माना जाता है। इन्होंने भवनाथ के मत का खण्डन किया है। इनका समय १२वीं शताब्दी तक माना जाता है इनका कोई ग्रन्थ भी प्राप्त नहीं होता है।

ज्ञानमीमांसा

प्रामाण्य विचार– अज्ञान तथा सत्यभूत पदार्थ के ज्ञान को प्रमा कहते हैं। प्रमा का करण प्रमाण है अर्थात् जिस ज्ञान से अज्ञात वस्तु का अनुभव हो तथा जो किसी दूसरे ज्ञान से बाधित न हो ओर दोष रहित हो उसे ही प्रमाण कहते हैं।

प्रमाण को लेकर प्रभाकर और कुमारिल अलग–अलग मत रखते हैं प्रभाकर मिश्र पाँच प्रमाणों को स्वीकार करते हैं– प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति। किन्तु कुमारिल छः प्रमाण मानते हैं इन पाँचों के अतिरिक्त अनुपलब्धि नामक छठवां प्रमाण मानते हैं। मीमांसा दर्शन में वेद को अपौरुषेय मानते हुये नित्य निर्दोषता के आधार पर उसे प्रमाण माना गया है। प्रामाण्य के विषय में तीन मत प्रसिद्ध हैं–

१. प्रभाकर का मानना है कि सभी ज्ञान यथार्थ होते हैं भ्रम की सत्ता उन्हें स्वीकार नहीं है। जिस स्थल पर विद्वान भ्रम की सत्ता स्वीकार करते हैं उस स्थल में प्रभाकर विशेष्य और विशेषण का पृथक–पृथक दो ज्ञान मानते हैं। और कहते हैं कि जिस दोष के कारण विशेष्य भूत पदार्थ की पहचान नहीं होती उसी के कारण उक्त दोनों ज्ञानों में तथा उनके विषयभूत विशेष्य और विशेषण में भेद ज्ञान नहीं होता इस प्रकार स्वरूपतः और विषयतः भिन्न रूप में अज्ञात उक्त ज्ञानद्वय से वह सब कार्य

सम्पन्न होता है जो भारतीय दार्शनिकों ने इस प्रकार तालिका के माध्यम से भ्रमवादियों के मत में ऐसे स्थल में विशेष्य–विशेषण के बाधित सम्बन्ध को विषय करने वाले भ्रम से उत्पन्न होता है।
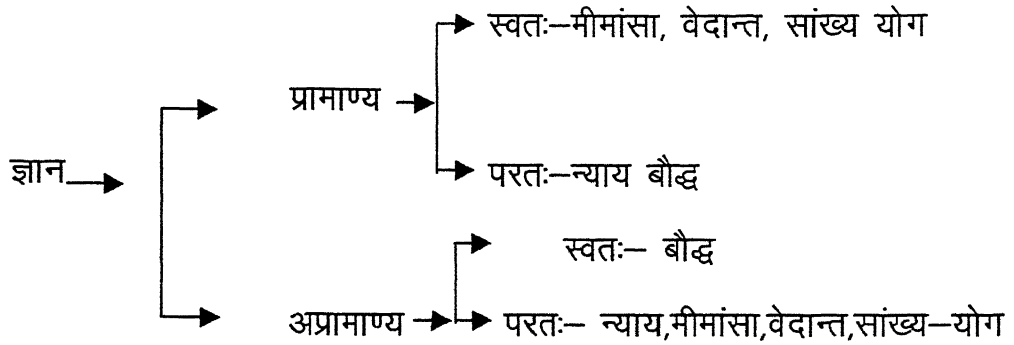
मीमांसक स्वतः प्रामाण्यवाद को मानते हैं। ज्ञान स्वतः प्रमाण होता है। प्रभाकर और कुमारिल दोनों स्वतः प्रामाण्य वादी हैं। इनके अनुसार ज्ञान का प्रामाण्य बाहर से नहीं आता और ज्ञान की प्रामाणिकता को अन्य ज्ञान से सिद्ध नहीं किया जा सकता है। प्रभाकर के अनुसार 'स्वतः' का अर्थ ज्ञान जनक सामग्री से है। इस प्रकार प्रभाकर का मानना है कि ज्ञान स्वयं प्रकाश है अर्थात् ज्ञान जिस सामग्री से उत्पन्न होता है उसी से उस ज्ञान का तथा उसके प्रामाण्य का ज्ञान होता है तथा प्रत्येक ज्ञान अपने स्वरूप, अपने विषय, और अपने आश्रयभूत ज्ञाता इस त्रिपुटी को विषय करता है।

कुमारिल भट्ट का मानना है कि ज्ञान अतीन्द्रिय है उसका प्रत्यक्ष नहीं होता किन्तु ज्ञान से विषय के उपर ज्ञातता नामक धर्म की उत्पत्ति होती है। मीमांसक यह मानते हैं कि प्रामाण्य की उत्पत्ति और प्रमाण्य का ज्ञान दोनों स्वतः होते हैं। ज्ञान का प्रामाण्य और इस प्रामाण्य का ज्ञान दोनों ज्ञान के साथ ही उदित होता है और उसी सामग्री से उत्पन्न होते हैं जिससे ज्ञान उत्पन्न होता है।[1] मीमांसकों का मानना है कि ज्ञान का अप्रामाण्य परतः होता है और बाहर से अनुमान किया जाता है। इस प्रकार मीमांसक जहां स्वतः प्रामाण्यवादी हैं वहां नैयायिक परतः प्रामाण्यवादी हैं। 'अप्रामाण्य'

---

[1] प्रामाण्य स्वतः उत्पद्यते स्वतः ज्ञायते च। उत्पत्तौ स्वतः प्रामाण्यं ज्ञपतौ च स्वतः प्रामाण्यम्।। सी०डी० शर्मा भारतीय दर्शन, पृष्ठ १६१।

के विषय में दोनों एक मत हैं क्यों कि दोनों ही (मीमांसक, नैयायिक) अप्रामाण्य को परतः स्वीकार करते हैं।

सी० डी० शर्मा ने भारतीय दर्शन में लिखा है कि "मीमांसक ज्ञान के अप्रामाण्य को, नैयायिक के समान, परतः मानते हैं क्योंकि इसका अनुमान कारण–दोष के आधार पर या बाधक ज्ञान के आधार पर किया जाता है। किन्तु प्रामाण्य को परतः मानने पर उनकी घोर आपत्ति है और उन्होंने न्याय के परतः प्रामाण्य का प्रबल खण्डन किया है। मीमांसकों के अनुसार यदि ज्ञान में स्वतः प्रामाण्य न हो तो ज्ञान कभी भी प्रामाणिक नहीं हो सकता। नैयायिकों का यह कथन कि ज्ञान उत्पत्ति के समय तटस्थ होता है और उसमें प्रामाण्य या अप्रामाण्य बाद में आता है, सर्वथा असत्य है। तटस्थ ज्ञान अर्थात् प्रामाण्य और अप्रामाण्य से विरहित ज्ञान असंभव है क्यों कि ज्ञान सदा या तो प्रामाणिक होता है या अप्रामाणिक। यहाँ तीसरा विकल्प नहीं है।"

आत्मा

प्रभाकर और कुमारिल दोनों के अनुसार आत्मा अनेक हैं। दोनों ही आत्मा को नित्य, सर्वगत, विभु, व्यापक द्रव्य मानते हैं जो ज्ञान का आश्रय है। मीमांसा दर्शन के अनुसार मनुष्य का यथार्थ रूप 'आत्मा' है। वही प्राणिमात्र का वास्तविक रूप है। आत्मा प्रत्येक शरीर में भिन्न भिन्न है। अपने पूर्व जन्मों के कर्मानुसार उसे नया जन्म मिलता है और उसे नये जन्म में पूर्वजन्म के कर्मों का फल भोग प्राप्त होता है। न्यायवैशेषिक के समान कुमारिल भी आत्मा को जड़ द्रव्य मानते हैं, जो ज्ञान नामक गुण का आश्रय है। ज्ञान आत्मा का आगन्तुक गुण है। मोक्ष के समय धर्म और अधर्म की समाप्ति के कारण शरीर–इन्द्रिय आदि सम्बन्ध का आत्यन्तिक विलय हो जाता है।

कुमारिल का मत नैय्यायिकों और प्रभाकर के मत से भिन्न है–कुमारिल ज्ञान को आत्मा का परिणाम या क्रिया मानते हैं जिसके द्वारा आत्मा पदार्थों को जानता है।

जैन मत के समान कुमारिल भी आत्मा को नित्यानित्य, भेदाभेद रूप चिदचिद्रुप और द्रव्य एवं गुण–कर्म–रूप मानते हैं।

मीमांसा–दर्शन में जगत की सत्ता अनादि और अनन्त है, इसका आत्यन्तिक प्रलय कभी नहीं होता है। प्रवाह रूप से अनादि होने के नाते इसकी प्रथम उत्पत्ति भी नहीं है। अतएव जगतकर्ता के रूप में ईश्वर का अस्तित्व इस दर्शन को मान्य नहीं है। संसार की सृष्टि के लिये धर्म और अधर्म का पुरस्कार और दण्ड देने के लिये ईश्वर को मानना भ्रान्तिमूलक है। मीमांसा–दर्शन में ईश्वर के स्थान पर अनेक देवताओं को माना गया है इसलिये इसे 'अनेकेश्वरवादी' कहा जाता है। कुमारिल और प्रभाकर भी जगत की सृष्टि और विनाश के लिये ईश्वर की आवश्यकता नहीं महसूस करते। ईश्वर को विश्व का स्रष्टा, पालनकर्ता और संहारकर्ता मानना भ्रामक है। कुमारिल तो वेद को भी ईश्वर की रचना नहीं मानते। मनुष्य को अपने कर्मानुसार विभिन्न योनियों में जन्म मिलता है तद्नुसार ही सुख–दुःख, स्वर्ग–नरक आदि की प्राप्ति होती है।

६–वेदान्त दर्शन

उत्तर मीमांसा वेद के ज्ञानकाण्ड पर आधारित है इसलिये इसे वेदान्त या ब्रह्म मीमांसा भी कहते हैं। वेदान्त शब्द का प्रयोग उपनिषदों के लिये होता है क्योंकि उपनिषद वेद के अन्तिम भाग हैं। बादरायण 'वेदान्त' के मुख्य रूप से प्रणेता माने जाते हैं। उनका समय ईसा पूर्व चौथी शताब्दी और ईस्वी सन् दूसरी शताब्दी के बीच माना जाता है। कुछ विद्वानों और दार्शनिकों ने उन्हें पौराणिक वेदव्यास ही माना है जिन्होंने 'महाभारत' की रचना की थी।

पाणिनि ने भी जिन पाराशर्य भिक्षुसूत्रों का नाम उल्लिखित किया है वे पराशर के पुत्र महर्षि बादरायण व्यास के द्वारा विरचित 'ब्रह्म–सूत्र' से भिन्न नहीं प्रतीत होता है। किन्तु इस पर बहुत अधिक मतभेद हैं कुछ विद्वानों का मानना है कि संभवतः ये

बादरायण ही वेदव्यास थे जिन्होंने उपनिषदों के बिखरे विचारों को एक सामञ्जस्यपूर्ण और एकीकृत आदर्शवादी प्रणाली का विकास किया।

बौद्ध और जैन ग्रन्थों के अध्ययन से पता चलता है कि एक दर्शन के रूप में वेदान्त ईसापूर्व सातवीं और छठी शताब्दी में वर्तमान था। इस दर्शन के अनुसार चेतना अथवा आत्मा ही हर वस्तु का मूल कारण थी और हर वस्तु अन्त में उसमें ही विलीन हो जाती थी। इस दार्शनिक विचार–धारा का एक ओर भौतिक वादियों ने प्रबल विरोध किया तो दूसरी ओर बौद्ध और जैन मतावलम्बियों ने भी विरोध किया। किन्तु कालान्तर में कई शताब्दियां बीत जाने पर आदर्शवादी विचार की 'ब्रह्मसूत्र अथवा वेदान्तसूत्र' के रूप में स्थापना की गयी होगी। इस दर्शन का मुख्य प्रतिपाद्य ग्रन्थ 'बादरायणकृत ब्रह्मसूत्र' है। 'ब्रह्म–सूत्र' में कुल ५५४ सूत्र हैं। भगवान बादरायण ने इन सूत्रों को विषय की दृष्टि से चार अध्यायों में विभक्त किया है। चार अध्यायों के नाम हैं क्रमशः समन्वयाध्याय, अविरोधाध्याय, साधनाध्याय, फलाध्याय। इसके बाद प्रत्येक अध्याय को चार चार पादों में विभक्त किया है। फिर इन 'पाद' को 'अधिकरण' के रुप में विभाजित किया गया है। अनेक सूत्रों को मिलाकर 'अधिकरण' की रचना की गयी है। प्रत्येक अधिकरण के भीतर पाँच अवयव होते हैं जो क्रमशः विषय, विशय, पूर्वपक्ष, उत्तरपक्ष और फल हैं। तर्क की दृष्टि से ब्रह्मसूत्र का द्वितीय अध्याय 'तर्कपाद' अधिक महत्वपूर्ण है।

'ब्रह्मसूत्र' के अध्ययन से स्पष्ट होता है कि बादरायण से भी पूर्व वेदान्त के आचार्य हुये थे परन्तु इन आचार्यों की कृतियां उपलब्ध नहीं हैं। ये आचार्य हैं– आत्रेय, आश्मरथ्य, औडुलोमि, कार्ष्णाजिनि, काशकृत्स्न, जैमिनी, बादरि, एवं आचार्य काश्यप प्रमुख हैं। इन आचार्यों का ब्रह्म–सूत्र में कहीं कहीं नामोल्लेख सूत्रों में किया गया है।

शङ्कर पूर्व सभी अद्वैत के आचार्यों में 'गौणपाद' का स्थान विशेष है। इनका प्रमुख ग्रन्थ 'गौणपाद कारिका' है। ये शङ्कराचार्य के गुरु गोविन्दपादाचार्य के गुरु थे।

शङ्कराचार्य इन्हें 'पूज्यामिपूज्य परम गुरु' कहकर अत्यन्त आदर देते थे। शङ्कराचार्य के शिष्य सुरेश्वराचार्य भी इन्हें 'पूज्यगौण' कहते थे। गौणपादाचार्य ने अद्वैत मत का प्रतिपादन किया। और इनका 'अजातिवाद' प्रमुख सिद्धान्त माना जाता है।

साहित्य

वेदान्त का साहित्य अत्यधिक विशाल है। उपनिषद् गीता, ब्रह्मसूत्र (प्रस्थानत्रयी) पर आचार्य शङ्कर का भाष्य प्रसिद्ध है। इसके अतिरिक्त माण्डूक्य कारिका भाष्य, विष्णुसहस्रनाम भाष्य, सनत्सुजातीय भाष्य, सौन्दर्यलहरी, उपदेशसाहस्री आदि आचार्य शङ्कर की प्रसिद्ध रचनाएं हैं। कालान्तर में शङ्करोत्तर युग के अनुवायियों में मतभेद के कारण दो सम्प्रदाय अस्तित्व में आया। विवरणप्रस्थान, भामती प्रस्थान। ब्रहमसूत्र भाष्य पर शङ्कर के शिष्य पद्मपाद ने पंचपादिका टीका लिखी। प्रकाशात्मन ने पंचपादिका पर विवरण नामक टीका लिखा जिससे 'विवरणप्रस्थान' का उदय हुआ। अखण्डानन्द ने इस पर तत्त्वदीपन नामक टीका लिखी। विद्यारण्य ने 'विवरणप्रमेय संग्रह' लिखा। वाचस्पति मिश्र ने 'भामती' लिखकर भामती प्रस्थान सम्प्रदाय की नींव डाली। अमलानन्द ने भामती की व्याख्या कल्पतरु में और अप्पयदीक्षित ने कल्पतरु की व्याख्या परिमल में किया। विद्यारण्य की पञ्चदशी, सदानन्द का वेदान्तसार, चित्सुख कृत चित्सुखी माधवाचार्य प्रणीत पञ्चदशी और जीवन मुक्ति विवेक अद्वैत वेदान्त के अन्य प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं।

वेदान्त के अन्य सम्प्रदाय

वेदान्त के अन्य सम्प्रदाय हैं रामानुजाचार्य का विशिष्टाद्वैत वेदान्त, मध्वाचार्य का द्वैतवाद, वल्लभाचार्य का शुद्धाद्वैतवाद, निम्बाकाचार्य का भेदाभेदवाद है।

आचार्य शङ्कर

आचार्य शङ्कर अलौकिक प्रतिभासम्पन्न महापुरुष थे। इनका जन्म ७८८ई० में अर्थात् आठवीं शताब्दी के अन्तिम काल में केरल के कालडी गाँव में एक नम्बूदरी

ब्राहमण परिवार में हुआ था। तथा इनका निर्वाणकाल ८२० ई० माना जाता है। ३२ वर्ष की स्वल्प आयु में ही आचार्य ने अपनी प्रतिभा से अपने समकालीनों को चकित कर दिया। इनके पिता का नाम शिवगुरु तथा माता का नाम विशिष्टा था। इन्होंने वेदों, उपनिषदों आदि का गहन अध्ययन करके वैचारिक जगत में एक तूफान सा उठा दिया। उन्होंने आचार्य के रुप में सम्पूर्ण भारत का भ्रमण किया और बौद्ध धर्म पर तीखा प्रहार किया। उन्होंने देश के विविध स्थानों पर मठ स्थापित किये जैसे– दक्षिण भारत में श्रृंगेरीमठ, उ० भारत में जोशी मठ (बदरिकाश्रम), पूर्वीभारत में गोवर्धन मठ (पुरी) और पश्चिम भारत में शारदामठ (द्वारका)। शंकराचार्य मानव समाज को धर्म का पथ प्रदर्शन किये तथा एक कुशल धर्मसुधारक थे।

शङ्कराचार्य ने प्रस्थानत्रयी पर भाष्य लिखा, सौन्दर्य लहरी विवेक चूड़ामणि आदि अनेक रचनायें हैं। शङ्कराचार्य का सिद्धान्त एकेश्वरवाद पर आधारित है और इससे जिस आदर्श प्रणाली का जन्म हुआ उसे 'अद्वैत वेदान्त' के नाम से जाना जाता है। शङ्कराचार्य भाट्ट मीमांसक द्वारा स्वीकृत छः प्रमाणों को स्वीकार करते हैं– प्रत्यक्ष अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति, अनुपलब्धि।

शंकराचार्य सत्कार्यवाद को मानते हैं तथा असत्कार्यवाद का खण्डन करते हैं। सत्कार्यवाद के दो रुप–परिणामवाद और विषर्तवाद। सांख्य तथा रामानुज कारण का कार्य में तात्विक परिवर्तन मानते हैं जैसे दूध से दही जमना। इसी से सांख्य का मत 'प्रकृति–परिणामवाद' कहलाता है और रामानुज का मत 'ब्रहम–परिणामवाद' कहलाता है।शङ्कर इन दोनों से अलग 'विवर्तवाद' को स्वीकार करते हैं। शङ्कर मानते हैं कि कारण तो सत् है किन्तु कार्य केवल उसका आभास मात्र है। इसलिये यह जगत प्रपंच ब्रह्म का विवर्त मात्र है। आचार्य शङ्कर ने अपने सम्पूर्ण अद्वैत वेदान्त को इसी श्लोकार्द्ध से व्यक्त किया है– 'ब्रहम सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रहमैव नापरः'। अर्थात् ब्रह्म ही सत्य है, जगत् मिथ्या है, और जीव ब्रहम ही है, उससे भिन्न नहीं है'। ब्रह्म और

आत्मा एक ही है जगत् प्रपञ्च माया की केवल प्रतीति मात्र है जीव और जगत दोनों ही मायाकृत है। जिस प्रकार रज्जू में सर्प की प्रतीति भ्रम से होती है और जैसे ही रज्जू का यथार्थ ज्ञान हो जाता है वैसे ही सर्प रूपी मिथ्या ज्ञान का बोध हो जाता है।

आचार्य शङ्कर के सिद्धान्त में मायावाद का महत्वपूर्ण स्थान है। इसके अनेक नाम हैं– माया सदसद्निवर्चनीय है, यह अनादि है, भौतिक एवं जड़ है तथा ज्ञान निरस्या है। माया अध्यास[1] है। माया का आश्रय और विषय ब्रहम ही है किन्तु माया से ब्रहम सर्वथा सर्वदा अलिप्त है ब्रहम के अद्वैत को कोई नुकसान नहीं पहुचाती है। माया के आश्रित होते ही ब्रहम–ईश्वर के रुप में भासित होता है। ईश्वर की व्यवहारिक सत्ता है। परमार्थिक नहीं। शङ्कर की मायावाद का खण्डन विशिष्टाद्वैतवादी रामानुज ने किया है।

ब्रह्म

आचार्य शङ्कर ने अद्वैत वेदान्त में ब्रह्म को ही एक मात्र सत्य माना है ब्रह्म के अतिरिक्त और कुछ भी सत्य नहीं है। ब्रह्म ही परमार्थिक दृष्टि से सत्य है यह निर्गुण है, निराकार है, अनिवर्चनीय है। ब्रह्म व्यक्तित्व रहित है। ब्रह्म अद्वैत मात्र है उसमें किसी प्रकार का द्वैत नहीं है। ब्रह्म सच्चिदानन्द है अर्थात् सत् चित और आनन्द स्वरुप है। ब्रह्म को आनन्द स्वरूप मानने से वह सगुण नहीं बन जाता है। सत् कहने से वह असत् नहीं है। चिद् है अचित् नहीं है। ब्रह्म शून्य नहीं है, निर्गुण है। अपरोक्ष अनुभूति द्वारा ही ब्रह्म की सत्ता जानी जा सकती है।

आचार्य शङ्कर ने ब्रहम और ईश्वर में भेद किया है। ब्रह्म के दो रूप माना है सगुण ब्रह्म और निर्गुण ब्रह्म। जब मायोपहित शक्ति से युक्त हो जाता है तब ब्रह्म ईश्वर बन जाता है इसकी व्यवहारिक सत्ता है। परमार्थिक नहीं। जब निर्गुण तथा निराकार ब्रह्म को विचार का विषय बनाते हैं तब वह ईश्वर रूप में जाना जाता है।

[1] आचार्य शंकर ब्रह्मसूत्र ने शाङ्भाष्य में अध्यास का तीन लक्षण दिये हैं– (१) अध्यासोनाम स्मृतिरुपः परत्र पूर्वदृष्टावभासः (२) अन्यस्य अन्यधर्मावभासता (३) अतस्मिन तदबुद्धिः।

ईश्वर को 'साविशेष ब्रह्म' भी कहा जाता है। अद्वैत वेदान्त में ईश्वर को 'मायोपहित ब्रह्म' माना गया है अर्थात् जब ब्रह्म का प्रतिबिम्ब माया में पड़ता है तब वह ईश्वर का रुप धारण कर लेता है और ईश्वर अपनी माया शक्ति से ही इस प्रपञ्च रूपी जगत की सृष्टि करता है। ईश्वर व्यक्तित्वपूर्ण है, कारण रहित है, उपासना का विषय है ईश्वर की सत्यता उसी समय तक है जब तक जीव का अज्ञान है। अद्वैत वेदान्त में ईश्वर को जगत का उपादान तथा निमित्त कारण दोनों माना गया है। सृष्टि ईश्वर का स्वाभाविक गुण है और इस सृष्टि के पीछे ईश्वर का कोई प्रयोजन या उद्देश्य नहीं होता। ईश्वर की तीन अवस्थाओं का वर्णन क्रमशः ईश्वर, हिरण्यगर्भ तथा वैश्वानर नाम से किय गये हैं। माया की क्रिया प्रारम्भ होने से पहले ईश्वर होता है किन्तु माया की सक्रियता की स्थिति हिरण्यगर्भ की होती है और जब स्थूल पदार्थों की रचना करता है, तब ईश्वर से पूर्ण रूप से विकसित अवस्था को 'वैश्वानर' या 'विराट' भी कहा जाता है।

ईश्वर और जीव की सत्ता व्यवहारिक है ईश्वर शासक है जीव शासित है। ईश्वर ही जीव को उसके अच्छे–बुरे कर्मों का फल देता है। जीव भोक्ता है ईश्वर इससे परे है। आत्मा और ब्रह्म में कोई अन्तर नहीं है दोनों अभिन्न है जब इस तत्त्व को आत्मनिष्ठ दृष्टि से देखा जाता है तब इसे आत्मा कहा जाता है और जब वस्तुनिष्ठ दृष्टि से देखा जाता है तब वह 'ब्रह्म' कहा जाता है। अज्ञानता के कारण ही जीव अर्थात् आत्मा अपने वास्तविक स्वरूप को पहचान नहीं पाता है। 'तत्वमसि' आत्मा तथा ब्रह्म की एकता को प्रतिपादित करता है। जब 'तत्त्वमसि' वाक्य की परिणति 'अहं ब्रह्मास्मि' महावाक्य में हो जाती है तब उसे ब्रह्मज्ञान की अनुभूति होती है।

बन्धन और मोक्ष

आचार्य शङ्कर ने स्पष्ट करते हुये कहा है कि बन्धन और मोक्ष की कोई वास्तविक सत्ता नहीं होती है। इसकी केवल व्यवहारिक सत्ता है। आत्मा का शरीर एवं

मन आदि के साथ तादात्मय स्थापित कर लेना ही बन्धन है। शरीर की अनुभूतियों को आत्मा की अनुभूति मान लेना ही 'बन्धन' है। यद्यपि आत्मा नित्य, शुद्ध, चैतन्य, मुक्त तथा अविनाशी है। आत्मा का बन्धन नहीं होता है जीव अज्ञानता के कारण आत्मा को जान नहीं पाता है और ज्ञान के अभाव में बन्धनग्रस्त हो जाता है।

अविद्या या अज्ञान का नष्ट हो जाना ही मोक्ष है। शङ्कर के मतानुसार आत्मा स्वभावतः मुक्त है। उसे 'बन्धन' की प्रतीति केवल अज्ञानता के कारण ही होती है। मोक्ष कोई नई चीज नहीं होती है। आचार्य ने 'मोक्ष' को 'प्राप्तस्य प्राप्तिः' कहा है। अर्थात् वास्तविक स्वरूप का ज्ञान ही मोक्ष है। मोक्ष प्राप्ति की व्याख्या वेदान्त दर्शन में एक उपमा से दी गयी है जिस प्रकार कोई रमणी अपने हार को गले में पहनकर भूल जाती है और इधर–उधर ढूढती है उसी प्रकार आत्मा मोक्ष के लिये सदा प्रयत्नशील रहती है। मोक्ष दो प्रकार की मानी गयी है –

(१) **सदेह मुक्ति** – जीवन मुक्ति की अवस्था होती है क्यों कि पूर्व कर्मों के संस्कार के कारण ही शरीर विद्यमान रहता है। यथा– कुलाल चक्रवत।

(२) **विदेह मुक्ति**– जब पूर्व कर्मों का संस्कार भी समाप्त हो जाता है तब देहपात हो जाता है यह विदेह मुक्ति है।

मोक्ष प्राप्ति के उपायों में आचार्य शङ्कर ने 'साधनचतुष्टय' का उल्लेख किया है 'साधनचतुष्टय' का विवरण निम्नलिखित है –

१. नित्यानित्यवस्तुविवेक नित्य, अनित्य का भेद जानना साधक को आवश्यक है।

२. इहामुत्रार्थफलभोगविराग साधक को लौकिक और पारलौकिक भोगों की कामना को छोड़ देना चाहिये।

३. शमदमादिसाधनसम्पत साधक को छः साधन अपनाना होता है–

१. शम से आशय है मन को संयमित करना।

२. दम से आशय है– इन्द्रियों को वश में करना।

३. श्रद्धा से तात्पर्य है– शास्त्रों के प्रति पूर्ण निष्ठा।

४. समाधान –चित्त को ज्ञान के साधन में लगाया जाता है।

५. उपरति– साधक विक्षेपकारी कार्यों से अपने को अलग करता है।

६. तितिक्षा– शीतोष्ण–द्वन्द सहन करने की शक्ति।

(४) मुमुक्षुत्त्व– साधक को मोक्ष की प्राप्ति के लिये दृढ़ ससंकल्प रहना चाहिये। साधन चतुष्टय के अनन्तर साधक को श्रवण, मनन, निदिध्यासन करना चाहिये। मोक्ष की अवस्था में जीव– ब्रहम में लीन हो जाता है।

ि:तीय—अध्याय

श्रौत दर्शन और गीता

वेद और दर्शन

संस्कृत में वेद शब्द का अर्थ 'ज्ञान' है क्योंकि यह ज्ञानार्थक 'विद्' धातु से निष्पन्न हुआ है। 'विद्' धातु करण अर्थ में 'धञ्' प्रत्यय लगाने पर 'वेद' बनता है।

विद् धातु के चार अर्थ होते हैं– ज्ञान, सत्ता, लाभ, विचारण। अतः जिसके द्वारा सभी मनुष्य समग्र विद्याओं को जानते हैं, प्राप्त करते हैं, विचार करते हैं और विद्धान होते हैं, वह वेद है– 'विद् ज्ञाने सत्तायाम् लाभे विद् विचारणे। एतेभ्यो हलश्च इति सूत्रेण करणाधिकरण कारकयोर्घञ् प्रत्यये कृते वेद शब्दः साध्यते।'

ज्ञान किसी भी विषय का हो सकता है सभी भौतिक–आध्यात्मिक विषय ज्ञान के विषय हैं अर्थात् ज्ञेय हैं तथा समस्त ज्ञेय का आधार ही वेद है। इसी कारण प्रायः सभी विषयों का वर्णन वेद में उपलब्ध होता है। वेद शब्द, अलौकिक ज्ञान इष्ट की प्राप्ति तथा अनिष्ट का परिहार है।[1] इस अलौकिक ज्ञान का एकमात्र साधन वेद ही है। अतः वेद शब्द अलौकिक ज्ञान का वाचक है। कुछ विद्धानों के अनुसार वेद शब्द धर्म का वाचक है, कुछ विद्वानों के अनुसार धर्म का ज्ञान जिससे प्राप्त हो वही वेद है। 'विदन्त्यनेन धर्म वेदः' (अ० कोष टीका १/५/३)।

वेद विश्व साहित्य की सबसे प्राचीन रचना है यह प्राचीनतम मनुष्य के धार्मिक और दार्शनिक विचारों का मानव भाषा में सर्वप्रथम परिचय प्रस्तुत करता है। डा० राधाकृष्णन ने कहा है कि "वेद मानव मन से प्रादुर्भूत ऐसे नितान्त आदिकालीन प्रामाणिक ग्रन्थ जिन्हें हम अपनी निधि समझते हैं।"[2] **आचार्य बलदेव उपाध्याय ने**

---

[1] अलौकिक पुरूषार्थोपायं वेत्ति अनेन इति वेद शब्द निर्वचनम्——— इष्टप्राप्त्यनिष्ट परिहारयोर लौकिकमुपायं यो ग्रन्थो वेदयति सवेदः।। तै० भा० भू० सम्पा० वल्देवउपा० पृ० २ ऋ० भा० भू० सम्पादक– वल्देवप्रसाद, पृ० ४५

[2] The vedas are earliest document of the human mind that we possess–indian philosophy vo/i (p-63).

लिखा है कि "वेद भारतीय धर्म तथा दर्शन का प्राण है भारतीय धर्म में जो जीवनशक्ति दृष्टिगोचर होती है उसका मूलकारण वेद ही है।

वेद अक्षय विचारों का मानसरोवर है, जहां से विचारधारा प्रवाहित होकर भारत भूमि के मस्तिष्क के उर्वर बनाती हुई निरन्तर बहती है तथा अपनी सत्ता के लिये उसी उद्गम भूमि पर अवलम्बित रहती है। ये भारतीय साहित्य के ही सर्वप्रथम ग्रन्थ नहीं है प्रत्युत् मानवमात्र के इतिहास में इनसे बढ़कर प्राचीन ग्रन्थ की अभी तक उपलब्धि नहीं हुई है।"[1] वेद की रचनाकाल का निर्धारण बड़ी कठिन समस्या रही है।

मैक्समूलर ने १८८६ में प्रकाशित 'हिस्ट्री ऑफ एन्शिएण्ट संस्कृत लिटरेचर' नामक अपने ग्रन्थ में उपरितम समयसीमा १२०० ई० पूर्व स्वीकार किया है जो अधिकांश पश्चिमी विद्वानों को भी मान्य है। हॉग ने २४०० ई० पूर्व और बालगंगाधर तिलक तथा याकोवी ने ज्योतिष के आधार पर क्रमशः ६००० वर्ष तथा ४५०० वर्ष ईसा पूर्व से वैदिक युग का आरम्भ माना। यदि हम वेदों के रचयिता को जानने का प्रयास करें तो निराश ही होना पड़ेगा क्यों कि इनका रचयिता कोई नहीं है। वेद में उस सत्य का वर्णन है जिसका दर्शन कुछ मनीषियों को हुआ था। इन्हें 'देववाणी' के रूप में भी माना जाता है इसलिये ये 'श्रुति' कहलाते हैं। समस्त वैदिक साहित्य मौलिक परम्परा से ही प्राप्त हैं, इसलिये 'श्रुति' शब्द का प्रयोग किया जाता रहा है। भारतीय परम्परा वेदों को 'अपौरुषेय' मानती रही है। मंत्रदृष्टा ऋषियों ने इसका प्रणयन न करके इसका साक्षात्कार किया है। वेद के विविध पर्यायवाची शब्द हैंजैसे श्रुति, आम्नाय, त्रयी, छन्द आगम और निगम। श्रुति का सम्बन्ध सुनने से है। यज्ञों में मंत्रों का व्यवहार होता था और वही व्यवहार श्रवण परम्परा से व्यापक हो जाता था। वाचस्पति मिश्र का कहना है– "गुरूमुखादनुश्रूयते इत्यनुश्रवो वेदः।" (साङ्ख्यतत्त्व कौमुदी – २)

---

[1] बलदेव उपा० – भा० दर्शन – पृ० २७

वेदों के लिये 'आम्नाय' शब्द भी प्रयुक्त किया गया है। मीमांसा सूत्र में वेद को मंत्रब्राह्मणात्मक माना गया है यही 'आम्नाय' का भी स्वरूप है। अतः वेदही आम्नाय है। अमरकोष में कहा गया है कि– "श्रुतिःत्रयीवेद आम्नायस्त्रयी।" (अ० कोष० १,६,३)

वेद को 'त्रयी' शब्द से भी अभिहित किया गया है 'त्रयी' से तात्पर्य विविधरूप हैं, मंत्र के तीन प्रकार है ऋक्, साम और यजुष। इसे ही 'त्रिविध संहिता' के नाम से भी जाना जाता है। कहीं वेद के लिये 'छन्द' शब्द का भी प्रयोग किया गया है। 'छन्द' के अनेक अर्थ हैं जिसमें एक 'पूजा' भी है। अर्थात् जिसके द्वारा देवताओं की स्तुति, 'पूजा' की जाती है वे छन्द है या वेद हैं। वेद को 'स्वाध्याय' भी कहा गया है क्योंकि तीनों वर्णों के लिये स्वाध्याय का एकमात्र विषय वेद माना गया है। वेद के दो विभाग हैं– मंत्र तथा ब्राह्मण– "मंत्रब्राह्मणात्मको वेदः।" (आप० परि० ३१)

वेद किसी एक ग्रन्थ का नहीं अपितु एक पूरी साहित्य राशि का नाम है जिसके चार भाग हैं– संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद। संहिताएं चार हैं– ऋक् संहिता, यजुष संहिता, साम संहिता और अथर्व संहिता। इनका संकलन यज्ञानुष्ठान की दृष्टि से किया गया है। यज्ञ यागादि के विधिपूर्वक अनुष्ठान के लिये क्रमशः चार ऋत्विजों की आवश्यकता होती है। होता, जो स्तुति मंत्रों के उच्चारण से देवताओं का आह्वान करता है उद्गाता मधुर स्वर से मंत्रगान करता है अध्वर्यु यज्ञ के विविध अंगों का सविधि सम्पादन करता है तथा ब्रह्मा सम्पूर्ण यज्ञानुष्ठान का विधिवत् निरीक्षण करता है।

ऋक् संहिता– ऋक् संहिता १०२८ सूक्तों का संकलन है इसमें सूक्त दस मण्डलों में रखे गये हैं और इसका अन्य विभाजन 'अण्टकों' में भी किया गया है। परम्परा के अनुसार इसके द्वितीय मण्डल से सातवें मण्डल तक के ऋषि ग्रत्समद, विश्वामित्र, वामदेव, अत्रि, भारद्वाज और वसिष्ठ हैं। ऋग्वेद में उन मंत्रों का संग्रह है जो देवताओं की स्तुति के निमित्त गाये जाते हैं। पतंञ्जलि ने ऋग्वेद की २१ शाखाओं

का उल्लेख किया है– <u>'एक विंशतिधा बाहन्वृच्यम'</u> (महा० आह्निक–१) इनमें से पांच शाखाओं का नाम या साहित्य उपलब्ध होता है– १–शाकल, २–वाण्कल, ३–आश्वलायन, ४–शांखायन, ५–माण्डूकायन। शाकल शाखा ही ऋगवेद की सम्प्रति प्रचलित शाखा है तथा वाण्कल की संहिता अप्राप्त है।

ऋग्वेदीय देवता के सम्बन्ध में शासक ने निरूक्त (अध्याय ७–१२) दैवत काण्ड में वैदिक देवताओं पर पर्याप्त विवेचन प्रस्तुत किया है। यास्क ने ऋग्वेदीय देवों को तीन भागों में विभक्त किया है– १–पृथ्वीस्थानीय–इसके अन्तर्गत अग्नि को। २–अन्तरिक्ष स्थानीय– इसके अन्तर्गत इन्द्र या वायु, ३–द्युस्थानीय– इसके अन्तर्गत सूर्य का वर्णन किया गया है; इसके अतिरिक्त अन्य सभी देव इनके सहयोगी हैं या इनसे सम्बद्ध हैं। <u>'त्रिस एवं देवता इति नैरूक्ताः'। अग्निपृथिवीस्थानः। वायुर्वेन्द्रो वाङ्न्तारिक्षस्थानः। सूर्यो द्युस्थानः। (निरूक्त ७–५)</u>

यजुर्वेद– यजुर्वेद के 'यजुस' शब्द की कई व्याख्याएं हैं जो मुख्य अर्थ है– १–यजुर्यजतेः अर्थात् यज्ञसम्बन्धी मंत्रों को यजुस् कहते हैं। २–<u> इज्यते अनेन इति यजुः– जिन मंत्रों से यज्ञ–यागादि किये जाते हैं।</u>

'अनियताक्षरावसानों यजुः'– जिन मंत्रों में पद्यों के तुल्यअक्षर संख्या निर्धारित नहीं है। ४– शेषे यजुः शब्दः (पूर्वमी० २/१/३७) पद्यबन्ध और गीति से रहित मंत्रात्मक रचना को ''यजुष्'' कहते हैं। यजुर्वेद के दो मुख्य भाग हैं– १. शुक्ल यजुर्वेद, २. कृष्ण यजुर्वेद। शुक्ल यजुर्वेद को ही माध्यान्दिन एवं वाजसनोरि भी कहते हें। शुक्ल से तात्पर्य है कि इसके मंत्र विशुद्धरूप हैं और कृष्ण यजुर्वेद में मंत्रों के साथ ही व्याख्या और विनियोग का अंश भी मिश्रित है अतेव इसे <u>'कृष्ण यजुर्वेद'</u> कहते हें। महर्षि पतञ्जलि ने 'एकशतमध्वर्युशाखाः' (महाआह्निक १) अर्थात् यजुर्वेद की १०० शाखाओं का

उल्लेख किया है। कृष्ण यजुर्वेद की दो शाखाएं हैं जिनकी दो संहिताएं उपलब्ध होती हैं– १. माध्यान्दिन या वाजसनेयि संहिता– इसमें ४० अध्याय हैं और १६७५ मंत्र हैं।

काण्व संहिता– इसमें ४० अध्याय हैं और मंत्र २०८६ हैं। कृष्ण यजुर्वेद की चार शाखाएं हैं जिनकी चार संहिताएं उपलब्ध होती हैं १–तैत्तरीय, २–मैत्रायिणी, ३–काठक, ४– कपिष्ठकन्कठ संहिता।

सामवेद– 'सामन्' का वास्तविक अर्थ 'गान' है ऋग्वेद के मंत्र जब विशिष्ट गान पद्धति से गाये जाते हैं तो उनको सामन् (साम) कहते हैं। अतएव पूर्वमीमांसा में गीति या गान को साम कहा गया है– 'गीतिषुसमाख्या (पूर्व० २/१/३६) महर्षि पतञ्जलि ने महाभाष्य में 'सहस्रवर्त्मा सामवेदः' (आह्निक १) कहा है। इससे तात्पर्य है कि समावेद की एक सहस्र शाखाएं थीं किन्तु यह मत सर्वथा समीचीन नहीं है। समावेद की मुख्य रूप से तीन शाखाएं १–कौथुमीय, २–जैमिनीय या तवल्कार, ३–राणयनीय।

सामवेद की मंत्रसंख्या १८७५ हैं इसमें ऋग्वेद की मंत्र संख्या १७७१ है इस प्रकार सामवेद में १०४ मंत्र केवल नये हैं। सामवेद का मुख्यरूप से प्रतिपाद्य विषय उपासना है। इसमें मुख्यरूप से सोमयाग से सम्बद्ध मंत्रों का संकलन है। पूर्वार्चिक में अग्नि, इन्द्र ओर पवमान सोम से सम्बद्ध मंत्र दिये गये हैं। इन मंत्रों में सामगान की दृष्टि से प्रत्येक मंत्र की लय स्मरण करनी होती है, जिनका प्रयोग उत्तरार्चिक में होता है। यज्ञों के समय इन मंत्रों का उद्‌गाता गान करता है।

४– अथर्ववेद– निरुक्त और गोपथ ब्राह्मण में 'अर्थवन्' शब्द के दो निर्वचन दिए हैं [1] अथर्वन– गतिहीन या स्थिरता से युक्त योग। निरूक्त के अनुसार 'थर्व' धातु गत्यर्थक है अतः अथर्वन्– गतिहीन या स्थिर। इसका अभिप्राय है जिसमें चित्तवृतियाँ के निरोधरूपी योग का उपदेश है। गोपथ ब्राह्मण में 'अथर्वा' शब्द अथार्वाक् का संक्षिप्त

[1] अथर्वाणोऽथर्वणवन्त. थर्वतिश्चरतिकर्मा, तत्प्रतिषेधः (निरूक्त ११–१८)।

रूप माना है 'अथ'–अर्वाक् त्र अथर्वाक्, अथर्वा। गोपथ ने इसका अभिप्राय दिया है– 'समीपस्थ आत्मा को अपने अन्दर देखना या जिस वेद में आत्मा को अपने अन्दर देखने की शिक्षा है।'[1] अथर्ववेद को अंगिरस वेद, ब्रह्मवेद, क्षत्रवेद, भैषज्यवेद, छन्दोवेद, महीवेद, आदि विविध नामों से जाना जाता है।

महर्षि पतञ्जलि ने महाभाष्य में 'नवधाऽऽथर्वणोवेद वेदः (महा० भा० १) कहकर ६ शाखाओं का उल्लेख किया है। किन्तु इनमें से केवल दो शाखाओं अर्थात् शौनक और पैप्पलाद की ही संहिताएं उपलब्ध हैं।

अथर्ववेद कई दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण है–

१. यह वैदिक दर्शन का सबसे पुष्ट एवं प्रामाणिक स्रोत है। आरण्यक, उपनिषद आदि में प्राप्य दार्शनिक चिन्तन अथर्ववेद का ही विकसित रूप है।
२. सभ्यता और संस्कृति की दृष्टि से अथर्ववेद चारों वेदों में सबसे अधिक उपयोगी है।
३. अथर्ववेद में तत्कालीन सामाजिक और राजनीतिक स्थिति का सबसे सुन्दर वर्णन है।
४. यह सार्वजनिक या जनता का वेद है। यह ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र एवं स्त्रियों आदि के द्वारा समान रूप से सेव्य है।
५. "साहित्य समाज का दर्पण है" इस उक्ति का यह सर्वोत्तम निदर्शन है। अथर्ववेद के ऋषि को "ब्रह्मा" कहा गया है।

वेद में दार्शनिक प्रवृत्तियाँ

ऋग्वेद में जगत् तथा जीवन के रहस्यों को जानने का प्रयास किया गया है। जगत् के निजी स्वरूप को जानने की आकांक्षा वैदिक ऋषियों के स्वभाव का अंग प्रतीत होता है।

[1] अथअर्वाग् एनं — अन्विच्छेति, तद्यद्बृबीद् अथर्वासडेतमेता नमे. तास्वप्वान्विच्छेति तदथर्वाऽभवत्। (गोपथ १–४)

प्रो० एच०पी० सिन्हा ने "भारतीय दर्शन की रूपरेखा" नामक अपनी पुस्तक में लिखा है– "जगत के अतिरिक्त वे विभिन्न देवताओं के बारे में जिन्हें वे पूजते हैं, शंका करना आरम्भ करते हैं इन प्रवृत्तियों के फलस्वरूप दार्शनिक विचार का प्रारम्भ होता है, जिसका पूर्ण विकास उपनिषदों के दर्शन में दीखता है।"

डा० राधाकृष्णन ने ऋग्वेद के सूक्तों को दार्शनिक प्रवृत्ति का परिचायक कहाहै, उन्होंने कहा है– "ऋग्वेद के सूक्त इस अर्थ में दार्शनिक हैं कि वे संसार के रहस्य की व्याख्या किसी अतिमानवीय अन्तर्दृष्टि अथवा असाधारण दैवी प्रेरणा द्वारा नहीं किन्तु स्वतंत्र तर्क द्वारा करने का प्रयत्न करते हैं।"

ब्रह्म के सर्वव्यापी होने की महत्वपूर्ण कल्पना का वर्णन अनेक सूक्तों में मिलता है इसका उल्लेख पुरूष सूक्त (१०/६०) में तथा अदितिसूक्त (१/८६) में मिलता है। वह हजार मस्तक हजार आँखों तथा हजार पैर वाला 'पुरूष' चारों ओर से इस पृथ्वी को घेर कर परिणाम में दस अंगुल अधिक है।

डा० कपिलदेव द्विवेदी ने अपनी पुस्तक संस्कृत सा० का समीक्षा इतिहास में लिखा है कि– "ऋग्वेद में दार्शनिक तत्व पर्याप्त मात्रा में मिलता है इसमें देवों का स्वरूप, ब्रह्म, ईश्वर, जीव, प्रकृति, सृष्टि की उत्पत्ति, पाप–पुण्य, लोक–परलोक, मोक्ष–पुनर्जन्म आदि का वर्णन है। प्राकृतिक तत्व सूर्य, चन्द्र, वायु, मेघ विद्युत आदि का इन्द्र, वरूण, रूद्र, मरूत् आदि नामों से वर्णन किया गया है। कुछ अमूर्त भावों को भी देवता का रूप दिया गया है जैसे काम, श्रद्धा, मन्यु आदि। ईश्वर को एक सर्वोच्च सत्ता माना गया है और इन्द्र, मित्र, वरूण आदि उसी के विविध नाम बताए गये हैं। प्रत्येक देव के कुछ सामान्य गुण एवं विशेषण हैं तथा उनके कुछ विभेदक गुण भी हैं।

सामान्य गुणों के आधर पर– 'एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वामाहुः (ऋ० १/१६४/४६) में एक ईश्वर की सत्ता काप्रतिपादन है।[1]

'बलदेव उपाध्याय' ने अपनी पुस्तक 'भारतीय दर्शन' में लिखा है 'जो कुछ समय वर्तमान है, जो कुछ उत्पन्न हुआ है (भूतकाल में) तथा जो कुछ उत्पन्न होने वाला है (भविष्यकाल में) वह सब पुरूष ही हैं– ''पुरूष एवेदं सर्व यद् भूतं यच्च भाव्यम्।''

वेद में सर्वेश्वरवाद के सिद्धान्त का भी वर्णन है– अदिति सूक्त में वर्णित है कि– अदिति ही आकाश है, अदिति ही अन्तरिक्ष है, अदिति ही माता है, अदिति पिता है, तथा पुत्र है तथा अदिति समस्त देवता है, अदिति पञ्चजन (निषाद सहित चतुर्वर्ण) जो कुछ उत्पन्न है तथा जो कुछ उत्पन्न होने वाला हे वह सब अदिति ही है।[1]

उच्छिष्ट सूक्त में 'उच्छिष्ट' से तात्पर्य– बचा हुआ, शेष पदार्थ। दृश्यप्रपञ्च के निषेध करने के अनन्तर जो अवशिष्ट रहता है वही 'उच्छिष्ट' है अर्थात बाधारहित परब्रह्म। ब्रह्म के इसी स्वरूप की अभिव्यक्ति के उपनिषद में की अभिव्यक्ति के लिये बृहदारण्यक उपनिषद् ब्रह्म को 'नेति–नेति' पुकारता है। यथा– 'अथ आदेशोनेति नेति'– (बृहदाण्यक उपनिषद २/३/११) नेहनानास्ति, किञ्चन – वही, (४/२/२१)

इस नामरूपात्मक जगत के सभी नानाविधि पदार्थ उच्छिष्ट पर अवलम्बित है। इस प्रकार उपनिषदों में ब्रह्मतत्व तथा ब्रह्मात्मैक्यवाद का मुख्येरूप से वर्णन हुआ है। इस विवेचन को पढ़कर गीता के– ''वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः'' तथा ''आदावर्न्ते च मध्ये च हरिः सर्वत्रगीयते'' पुराण के इस वाक्य में किञ्चित सन्देह नहीं रह जाता है। पुरूष सूक्त (ऋ० १०/६०) में विराट पुरूष से सृष्टि की उत्पत्ति का वर्णन है। ऋग्वेद का नासदीय सूक्त (१०/१२६) में भी सृष्टि की उत्पत्ति का वर्णन है। यह सूक्त आध्यात्मिक दृष्टि से अद्वैत भावना को ही पुष्ट करता है। इस सूक्त के ऋषि के सामने

---

[1] डा० कपिलदेव द्विवेदी– संस्कृत सा० का समीक्षा० इतिहास– पृ० ४८

इस विश्व की उत्पत्ति की विषम पहेली विद्यमान थी। यह विश्व कहां से उत्पन्न हुआ है? इसके मूल में कौन सा तत्व विद्यमान था? किस वस्तु की उत्पत्ति सर्वप्रथम हुई? आदि प्रश्नों का समुचित उत्तर देना सरल काम नहीं है परन्तु इस सूक्त में इन्हीं प्रश्नों का उचित उत्तर अन्तर्दृष्टि की सहायता से प्रस्तुत किया गया है।

हिरण्यगर्भ सूक्त (ऋग्वेद १०/१२१) में हिरण्यगर्भ प्रजापति से सृष्टि रचना का वर्णन है। ऋग्वेद में जल से भी जगत् की उत्पत्ति वर्णित है तथा ऋग्वेद (१०–७२, २–३) में असत् से सत् की उत्पत्ति भी बताई गयी है (देवानां पूर्व्ये युगेऽसतः सदजायत, मंत्र २)।

सृष्टि के आदिकाल में न तो असत् ही था और न तो सत् ही था वहां न तो आकाश था, न तो स्वर्ग ही विद्यमान था जो उससे परे है। किसने ढका था? यह कहां था? और किसकी रक्षा में था? क्या उस समय गहन तथा गंभीर जल था, उस समय न मृत्यु थी और न तो अमरत्व ही था उस समय दिन तथा रात का पार्थक्य न था। इतने निषेधों के वर्णन के अनन्तर ऋषि सत्तात्मक वस्तु का वर्णन कर रहा है कि बस एक ही था, जो वायुरहित होकर भी अपने सामर्थ्य से श्वांस ले रहा था। इससे अतिरिक्त अन्य कोई वस्तु थी ही नहीं। इस प्रकार नासदीय सूक्त प्रेरित एकत्व की भावना के लिये और अपने दार्शनिक विचार के कारण विद्वानों में सर्वाधिक प्रशंसित हुआ है–

"नासदासीन्नौ सदासीत् तदानीं नासीद्रजो नो व्योमा परोयत्।
किमा वरीवः कुह कस्य शर्मन्नम्भः किमासीद् गहनं गभीरम्।।
न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि न रात्र्याअह्व आसीतप्रकेटः।
आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यन्न परः किञ्चनास।।"

(ऋ० संहिता १०/१२६)

वैदिक ऋषियों ने उस परमतत्व के लिये "तदेकम्" शब्द प्रयुक्त किया है ऐसा लिंगनिर्धारण करने में असमर्थ होने के कारण किया होगा, तथा उस मूलतत्व के लिये तत् तथा सत् शब्दों का प्रयोग किया है। वही इस जगत का मूलकारण है उसी से इस जड़ जगत की चेतन और अचेतन वस्तुओं की उत्पत्ति हुई है, वह एक है, अद्वैत है, अद्वितीय है, अग्नि, मातरिश्वा, यम आदि देवता उसी के भिन्न रूप को धारण करने वाले हैं, वह एक है, परन्तु कवि लोग उसे भिन्न२ नाम से पुकारते हैं–

'इन्द्रंमित्र वरूणमग्निवाहुरथो दिव्यः स सुपर्णोगरूत्मान्
एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति अग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः।।'

(ऋग्वेद १/१६४/४६)

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि देवताओं का वास्तविक सार एक ही है– 'मद् देवानाम् सुरत्वमेकम्'। वेद में अनेकेश्वरवाद से हीनोथीज्म और फिर एकेश्वरवाद की ओर विकास हुआ है।

वैदिक दार्शनिक विचारधारा में कर्म के सिद्धान्त को स्वीकार किया गया है। अनेक वैदिक मंत्र इस बात का अनुमोदन करते हैं कि शुभ कर्मों के द्वारा अमरत्व को प्राप्त किया जा सकता है। जन्म एवं पुनर्जन्म का कारण भी व्यक्ति के कर्म ही है क्योंकि व्यक्ति जैसा अच्छा या बुरा कर्म करता है उसी के अनुरूप शुभ या अशुभ फल प्राप्त करता है। ऋग्वेद के एक मंत्र के अनुसार पूर्व जन्म के दुष्ट कर्मों के परिणामस्वरूप व्यक्ति पाप कर्म की ओर उन्मुख होता है। (ऋग्वेद ७–८६–६) वैदिक मंत्रों में प्रारब्ध और संचित कर्मों का भी उल्लेख मिलता है। व्यक्ति को अपने पूर्व जन्मों के निम्न कर्मों को भोगने के लिये वृक्ष, लता, स्थावर तथा अन्य जीवों का जीवन भी भोगना पड़ सकता है। वेद के दो खण्ड हैं १–ज्ञानकाण्ड, २– कर्मकाण्ड

ज्ञानकाण्ड में आध्यात्मिक चिन्तन प्रधानरूप से वर्णित है और कर्मकाण्ड में उपासनाओं का विचार निहित है। कर्मकाण्ड में यज्ञ की महत्ता पर बल दिया गया है इसमें अधिकार भेद का भी वर्णन निहित है क्योंकि सभी काम सभी को करने का अधिकार नहीं है और यदि अधिकार के बिना कोई काम किया जाय तो विघ्न उत्पन्न होता है और प्रयत्न सफल नहीं होता है। वेद में तपस्याएं, स्तुतियां पवित्र विचार और अन्तःकरण की शुद्धि को परमतत्व की प्राप्ति के लिये अनिवार्य माना गया है।

वैदिक दर्शन का एक महत्वपूर्ण विद्धान्त- ऋत् का नियम भी है। वैदिक मान्यता है कि जिस प्रकार मानवीय जगत में नैतिक व्यवस्था है उसी प्रकार भौतिक जगत में भी एक प्रकार की नैतिक व्यवस्था है उसी प्रकार भौतिक जगत में भी एक प्रकार की नैतिक व्यवस्था से सम्बन्धित मुख्य नियम को ही 'ऋत् का नियम' कहा गया है।

वेद में 'ऋत्' का विचार अत्यन्त महत्वपूर्ण एवं व्यापक है। 'ऋत्' नैतिक नियम है। देवता ऋत् के नियम का स्वयं पालन करने वाले तथा अन्यों से कराने वाले होते हैं। 'ऋत्' का अर्थ है 'जगत की व्यवस्था'।

ऋत् के नियम को प्राकृत नियम (Natural Law) भी कहा गया है। सूर्य, चन्द्रमा, तारे, दिन–रात इसी नियम से संचालित होते हैं। ऋत् का संचालक वरूण देवता को कहा गया है– "तस्य कर्ता वरूणस्य गोप्ता"। 'ऋत्' के कारण ही स्वर्ग और नरक की वर्तमान स्थिति है। स्वर्ग और नरक के सम्बन्ध में अस्पष्ट विचार मिलते हैं। स्वर्ग के सुखों को पृथ्वी के सुखों से बढ़कर माना गया है– स्वर्ग प्राप्ति से अमरता की प्राप्ति होगी, नरक को अन्धकारमय कहा गया है वरूण पापियों को नरक में ढकेलता है और जीव अपने कर्मों के अनुसार ही स्वर्ग तथा नरक का भागीदार बनता हैं 'ऋत्' के नियम के कारण ही वर्तमान में स्वर्ग तथा नरक की स्थिति है। 'ऋत् के नियम' में कर्म सिद्धान्त का बीज भी अन्तर्भूत है। और कर्म सिद्धान्त की यह मूलभावना है कि जो

जैसा बोता है वैसा काटता है। अर्थात् जो जैसा कर्म करेगा उसी के अनुसार फल की प्राप्ति होगी वेद में कर्म–पुर्नजन्म, बहुदेववाद आदि का वर्णन है। किन्तु वेद में पुनर्जन्म का विचार अस्पष्ट है। वैदिक आर्यों को अपने जीवन से अत्यन्त प्रेम था इसका कारण यह था कि उनका जीवन आनन्दमय एवं सबल था। इसका परिणाम यह हुआ कि जीव के पुर्नजन्म के सम्बन्ध में कोई विशेष विचार की आवश्यकता नहीं महसूस हुई। अतः पुर्नजन्म का सिद्धान्त वेद से दूर प्रतीत होता है।

वेद में बहुदेववाद की उपासना का वर्णन मिलता है यथा– इन्द्र, सोम, वरूण, अग्नि, सविता, पूसन आदि देवता थे और इनकी उपासना के लिये अनेक स्तुतियों का सृजन हुआ है किन्तु देवताओं का व्यक्तित्व स्पष्ट नहीं होता है। वैदिक धर्म मूर्तिपूजक धर्म स्पष्ट नहीं होता है। उस समय मन्दिर नहीं था। वेद में मानव का ईश्वर के साथ सीधा सम्पर्क स्पष्ट होता है देवताओं को मनुष्य का मित्र समझा जाता है।

ब्राह्मण

संहिता के पश्चात के वैदिक साहित्य को ब्राह्मण कहते हैं। वेद के दो प्रमुख अंग हैं– मंत्र, ब्राह्मण मंत्र भाग का कर्मकाण्ड में विनियोग होता है; ब्राह्मण भाग मंत्रों के विनियोग की विधि बताता है। यज्ञों में मंत्रों से ही आहुति दी जाती है और ब्राह्मण भाग उसकी उपयोगिता बताता है। दोनों ही एक–दूसरे के पूरक हैं।

वैदिक साहित्य में ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषदों का भी समावेश है। गौड अर्थ लेते हुये 'मंत्रब्राह्मणयोरवेदानामधेयम्' (आपस्तम्ब) मंत्र और ब्राह्मण को वेद कहते हैं, यह उक्ति प्रचलित है। ये प्रायः गद्य में लिखे गये हैं इसमें यज्ञ की विधियों का वर्णन है यज्ञ के अतिरिक्त अन्य धार्मिक कार्यों के ढंग का भी वर्णन है। मंत्र देवता का स्मारक है। मंत्र बीज रूप है तथा ब्राह्मण वृक्ष रूप है। मंत्र संक्षिप्त तथा ब्राह्मण रूप है। ब्राह्मणों की सहायता के बिना मंत्रों का अर्थ स्पष्ट नहीं हो सकता है। जैसे सूत्रों

का भाष्य के बिना नही हो सकता है। आपस्तम्ब यज्ञ परिभाषा में ब्राह्मण का लक्षण इस प्रकार बतलाया गया है– 'याज्ञिक कर्मों में प्रवृत्त करने वाल ही ब्राह्मण है'– "नास्त्येतद् ब्राह्मणोत्यत्र लक्षणं विद्यतेऽथवा।" इससे स्पष्ट है कि ब्राह्मण विधिरूप या विधायक रूप है क्योंकि यह कर्म में प्रवृत्त करता है। जैमिनी ऋषि के मत में– जो मंत्र नहीं है वही ब्राह्मण है यह ब्राह्मण का लक्षण है– अर्थात् ब्राह्मण और मंत्र दोनों ही वेद है। मंत्र के शेष भाग को 'ब्राह्मण' कहते हैं। 'नास्तीयन्तो वेदभागा इति क्लृप्तेरभावत्। मंत्रश्च ब्राह्मणश्चेति द्वौ भागौ तेन मंत्रतः अन्यद् ब्राह्मणमित्येतद् भवेद् लक्षणम्।।' (जैमिनि न्या० मा० वि० २/१/२४–२५) इस प्रकार मंत्र और ब्राह्मण दोनों का ही सम्मिलित नाम वेद है। उदाहरणार्थ ऋग्वेद का मंत्र है–यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन। ते ह नाकं महिमानः सचन्तयत्र पूर्वसाध्याः सन्तिदेवाः।। (ऋग्वेद १/१६४/५०, १०/६०/१६) इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि ब्राह्मण मंत्रों के भाष्य है ब्राह्मण ग्रन्थों में यज्ञ सम्बन्धी पूर्ण विवेचन प्राप्त होता है। ऋग्वेद के दो ब्राह्मण ग्रन्थ है– ऐतरेय और शांखायन १–ऐतरेय में ४० अध्याय है जो आठ पञ्चकों में विभक्त है इसके रचयिता महीदास ऐतरेय माने जाते हैं। सप्तम पञ्चिका में हरिश्चन्द्र की कथा का वर्णन है। २–शांखायन ब्राह्मण– ऋग्वेद का यह दूसरा ब्राह्मण है यह ३० अध्यायों में विभक्त है इसके रचयिता कौषीतकि माने जाते हैं। ३–शतपथ ब्राह्मण– इसके रचयिता याज्ञवल्क्य ऋषि हैं। यह यजुर्वेदीय ब्राह्मण हैं। इसमें यजुर्वेद की दो शाखाएं हैं– १–माध्यन्दिन तथा २– काण्व शाखा। माध्यन्दिन के अनुसार इसमें एक सो अध्याय १४ काण्डों में विभक्त है। एक सौ अध्याय के कारण ही संभवतः यह शतपथ ब्राह्मण कहलाता है। इसमें सर्वप्रथम जनमेजय का वर्णन है कालिदास के दो प्रसिद्ध नाटकों की समाग्री भी इसमें प्राप्त होती है ये दो हैं– पुरूरवा और उर्वशी (विक्रमोवर्शीय) और शकुन्तला दुष्यन्त के पुत्र भरत का वर्णन है इसमें मनु और मत्स्य की कथा भी पायी

जाती है। ४– तैत्तरीय ब्राह्मण– यह कृष्ण यजुर्वेदीय शाखा का ब्राह्मण है इसमें तीन भाग है जिन्हें काण्ड कहते हैं। इसके प्रथम काण्ड में बाजपेय, सोम, राजसूय आदि यज्ञों का वर्णन है– इसके द्वितीय काण्ड में अग्निहोत्र, उपहोम आदि का विवरण है तृतीय काण्ड में नक्षत्रेष्टि का वर्णन है। पुरूषमेध यज्ञ का भी वर्णन इसमें मिलता है। ५–ताण्डप ब्राह्मण– यह सामवेदीय ब्राह्मण है। सामवेद के ११ ब्राह्मणग्रन्थ प्राप्त होते हैं। इनमें ताण्ड्यशाखा का पंचविश ब्राह्मण मुख्य हैं। इसमें कुल २५ अध्याय हैं। इसका मुख्य वर्णित विषय सोमयाग है। ६–गोपथ ब्राह्मण– यह अथर्ववेद का एकमात्र ब्राह्मण है इसके रचयिता गोपथ ऋषि माने जाते हैं। इसके दो भाग हैं १–पूर्वभाग या पूर्वगोपथ, २–उत्तर भाग या उत्तर गोपथ। पूर्वभाग में पांच प्रपाठक या अध्याय है और दूसरे में छः अध्याय हैं– पूर्वभाग के वर्णित विषय में ओंकार और गायत्री का महत्व, ब्रह्मचारी के कर्तव्य, ऋत्विजों के कार्य, पुरूषमेध, अश्वमेध, अग्निष्टोम आदि का वर्णन उल्लेखनीय है। इसके उत्तर भाग में विविध यज्ञों और उनसे सम्बद्ध आख्यायिकाओं का वर्णन है।

आरण्यक ग्रन्थ

वैदिक साहित्य में ब्राह्मण ग्रन्थों के समान आरण्यकों का भी मुख्य स्थान है। आरण्यक ग्रन्थ उपनिषदों के पूर्वरूप है सायण ने तैत्तरीय और ऐतरेय आरण्यकों के भाष्य में "आरण्यक" का अर्थ किया है– 'जो अरण्य में पढा या पढाया जाय तो उसे आरण्यक कहते हैं।[1]

आरण्यकों को 'रहस्य ग्रन्थ' के नाम से भी जाना जाता है।[2] इसमें आत्मविद्या, तत्व चिन्तन एवं रहस्यात्मक विषयों का वर्णन है। ये आरण्यक उन लोगों के लिये था जो गृहस्थ जीवन से निवृत्त होकर वानप्रस्थ जीवन ग्रहण कर लिये थे। एकतरफ जहां ब्राह्मण ग्रन्थों का प्रतिपाद्य विषय यज्ञ है वहां आरण्यक का मुख्य प्रतिपाद्य विषय

---

[1] अरण्याध्ययनादेतद् आरण्यकमितीर्यते। अरण्येतदधीयींतेत्येवं वाक्यं प्रलक्ष्यते।। (तैत्ति० आ० भा० श्लोक ६)

[2] गोपथ ब्राह्मण (२–१०) और बौधायन धर्मसूत्र भाष्य (२–८–३) में रहस्य ग्रन्थ के नाम से उल्लिखित है।

आध्यात्मिक तत्त्व है। ब्राह्मण ग्रन्थों में यज्ञानुष्ठान तथा कर्मकाण्ड को महत्व दिया गया है। आरण्यक ग्रन्थों में दार्शनिक विचार एवं ज्ञानकाण्ड को महत्वपूर्ण माना गया है। भेद होते हुये भी अभेद मुख्य रूप से है क्योंकि ब्राह्मण ग्रन्थों में केवल कर्मकाण्ड का ही अनुष्ठान नहीं है और आरण्यकों में यज्ञ के अनुष्ठान को निषिद्ध नहीं बतलाया गया है अतः दोनों में अधिक भेद नहीं है। वेद के कर्मकाण्डीय ग्रन्थ बतलाते हैं कि कुछ कृत्य एवं पाठ ग्राम के बाहर वन में ही अनुष्ठेय हैं परन्तु ऐसे पाठ एवं कृत्य केवल आरण्यकों में ही नहीं अपितु संहिता तक में वर्तमान है।

ऋग्वेद के दो आरण्यक ग्रन्थ प्राप्त होते हैं १–ऐतरेय और शांखायन। शुक्ल यजुर्वेद का कोई आरण्यक नहीं प्राप्त होता है। कृष्ण यजुर्वेद के दो आरण्यक मिलते हैं १–तैत्तिरीय आरण्यक, २–मैत्रायिणी आरण्यक।

सामवेद के भी दो आरण्यक् १– तवल्कार और २–छान्दोग्य प्राप्त होते हैं। अथर्ववेद का कोई भी आरण्यक ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है।

उपनिषदों का दर्शन

उपनिषद (संक्षिप्त परिचय)– उपनिषद् वेद के अन्तिम भाग होते हैं इसलिये इन्हें 'वेदान्त' भी कहा जाता है। उपनिषदों में आध्यात्मिक विद्या के गूढतम रहस्यों का विशद् विवेचन किया गया है। हिन्दू दर्शन में तीन प्रस्थान ग्रन्थ हैं– उपनिषद्, गीता, ब्रह्मसूत्र। इसी प्रस्थानत्रयी पर भारतीय वैदिकधर्म तथा दर्शन अवलम्बित है परन्तु गीता तथा ब्रह्मसूत्र के उपनिषदों पर आश्रित होने के कारण उपनिषदों का महत्व सबसे अधिक है।

'उपनिषद' शब्द 'उप' तथा 'नि' उपसर्ग 'सद्' धातु से 'क्विप्' प्रत्यय जोडने पर निष्पन्न हुआ है। 'सद्' का एक अर्थ 'बैठना' होता है अर्थात् 'शिष्य का गुरू के निकट

उपदेश के लिये श्रद्धापूर्वक बैठना'। कई उपनिषदों से यह मालूम होता है कि रहस्यात्मक इसलिये था जिससे कि अपात्र के कान में न पड़ने पाये।

श्री शङ्कराचार्य ने तैत्तिरीय 'उपनिषद्' के भाष्य में 'उपनिषद्' शब्द का अर्थ 'ब्रह्मज्ञान' बतलाते हैं। इस ब्रह्मज्ञान से ही मनुष्य को जन्म और मरण के बन्धन से मोक्ष प्राप्त होता है इस मोक्ष का ज्ञान ही ब्रह्मज्ञान है।

उपनिषद् का सद् धातु तीन अर्थों में प्रयुक्त किया जाता है– १–विशरण– नाश होना, २–गति–प्राप्त होना, ३–अवसादन– शिथिल करना।

'आचार्य बलदेव उपाध्याय' ने भारतीय दर्शन में लिखा है कि ''उपनिषद् का अर्थ अध्यात्मविद्या है। जिस विद्या के अध्ययन से दृष्टानुश्रविक विषयों से वितृष्ण मुमुक्षजनों की संसार बीजभूत अविद्या नष्ट हो जाती है और जो विद्या उन्हें ब्रह्म की प्राप्ति करा देती है तथा जिसके परिशीलन से गर्भवासादि दुःखवृन्दों का सर्वदा शिथिलीकरण हो जाता है, वही अध्यात्मविद्या उपनिषद है''।[1] उपलब्ध उपनिषदों की सूची का विवरण मुक्तिकोपनिषद् से प्राप्त होता है।

साधारणतः उपनिषदों की सं० १०८ तक मानी जाती है। इनमें से लगभग दस उपनिषदें मुख्य हैं– ईश; केन, प्रश्न, कठ, माण्डूक्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय, मुण्डक, छान्दोग्य और बृहदारण्यक। उपनिषद गद्य और पद्य दोनों में है। उपनिषदों का रचयिता कोई व्यक्ति विशेष नहीं है क्योंकि एक ही उपनिषद में कई शिक्षकों का नाम आता है जिससे यह सिद्ध होता है कि उपनिषद् एक लेखक की कृति नहीं है।

उपनिषद् दार्शनिक और धार्मिक विचारों से भरे हैं दार्शनिक पक्ष ही उपनिषद् कीअनमोल निधि है। विषय की दृष्टि से सम्पूर्ण वेदों को तीन भागों में विभाजित किया जाता है– कर्म, उपासना, ज्ञान। कर्म का विषय संहिता और ब्राह्मण है। उपासना का

---

[1] बल्देव उपा०– भा० दर्शन– पृ० ३७

विषय संहिता और आरण्यक है– ज्ञान के विषय का प्रतिपादन करने वाले उपनिषदें हैं यह ज्ञान ब्रह्मज्ञान है या आत्मज्ञान है यही मोक्ष का साधन है। उपनिषदों में अद्वैत श्रुति, विशिष्टाद्वैत श्रुति तथा द्वैत श्रुतियों का सद्भाव है इसे कोई भी विद्वान अस्वीकार नहीं कर सकता है। श्री शङ्कराचार्य ने उपनिषदों पर भाष्य लिखकर उनमें अद्वैत का ही प्रतिपादन किया है। श्री रामानुजाचार्य ने स्वयं उपनिषदों पर भाष्य नहीं लिखा हैं माधवाचार्य के प्रतिपादन का मुख्य तात्पर्य ब्रह्म तथा आत्मा की भिन्नता (द्वैत) के प्रतिपादन में है।

उपनिषद् सभी भारतीय दर्शनों के मूल स्रोत हैं जो भारतीय दर्शन वेद प्रामाण्य को मानते हैं वे सभी उपनिषदों को वेद प्रामाण्य को मानते हैं वे सभी उपनिषदों को वेद प्रामाण्य नहीं मानते हैं। फिर भी उनके दर्शन के मूल उपनिषदों में हैं। कुमारिल भट्ट ने बौद्धदर्शन के विज्ञानवाद, क्षणभङ्गवाद, अनात्मवाद तथा वैराग्यवाद को उपनिषदों से निकला हुआ स्वीकार किया है। चार्वाक दर्शन का भौतिकवाद उपनिषद् के दार्शनिक विरोचन का दर्शन है। जैनदर्शन का सद्दृष्टि, असद्दृष्टि, अवाच्य दृष्टि उपनिषदों में मिलती है। जिसे लेकर जैनियों ने स्यादवाद और अनेकान्तवाद का सिद्धान्त विकसित किया।

एन. के. देवराज ने अपनी पुस्तक भारतीय दर्शन में लिखा है– ''षड्दर्शनों में वेदान्त के सभी सम्प्रदाय उपनिषदों के साक्षात विकास है। 'ततत्वमसि' इस एक वाक्य की व्याख्या विभिन्न वेदान्त सम्प्रदायों ने विभिन्न प्रकार से की है। इस और ऐसे अन्य वाक्यों के व्याख्यानों से इन सम्प्रदायों का प्रार्दुभाव हुआ है। ये सभी सम्प्रदाय ब्रह्मवादी हैं और जीव, जगत तथा ब्रह्म का विवेचन करते हैं। इस विवेचन में ये उपनिषद् के

वाक्यों को प्रमाण रूप में मानते हैं"।[1] भगवान बादरायण का ब्रह्मसूत्र उपनिषदों के दर्शन का सार प्रस्तुत करता है।

सांख्य दर्शन की प्रकृति का उल्लेख श्वेताश्वेतर उपनिषद में "अजाम् एकाम् लोहित शुक्ल कृष्णाम्" मंत्र में आता है जहां स्पष्ट रूप से प्रकृति को सत्व, रज, तम तीनों गुणों से युक्त कहा गया है।

योग दर्शन में 'प्रणव' का वर्णन माण्डूक्य उपनिषद् के 'प्रणव' उपासना का मूल ही है। कठोपनिषद का योग विवेचन पतंञ्जलि के योग सूत्र का मूलस्रोत है। न्यायवैशेषिक दर्शन का ज्ञान सिद्धान्त उपनिषदों की श्रवण प्रक्रिया और मनन प्रक्रिया का विकास है। वैशेषिक परमाणुवाद का बीज भी उपनिषदों में प्राप्त होता है। इस प्रकार सभी भारतीय दर्शन उपनिषद् दर्शन से विकसित हुआ है और जो नहीं निकला है वह दर्शन ही नहीं है।

उपनिषद के दार्शनिकों ने कई विधियों से दार्शनिक विवेचन प्रस्तुत किया है उसमें कुछ विधि अत्यन्त महत्वपूर्ण है जो निम्न है– यथा प्रतीकात्मक विधि– शाण्डिल्य ने छान्दोग्य उपनिषद का प्रतीकात्मक विधि से दार्शनिक विवेचन करते हुये परमतत्व के लिये 'तज्जलान' शब्द प्रयुक्त किया है।[2] इसका तात्पर्य है कि जिससे यह जगत उत्पन्न होता है, जिसमें यह गतिशील है, और जिसमें इस जगत कालय होता है वह ब्रह्म है।

माण्डूक्योपनिषद् में सूत्र विधि से 'ओम्' का दार्शनिक विवेचन किया गया है– अ+उ+म द्वारा ओम् की व्याख्या करते हुये 'ओम्' को चतुष्पाद् आत्मा कहा गया है। उपनिषदों में आख्यायिका विधि के द्वारा भी दार्शनिक विवेचन किया गया है यथा– छान्दोग्य उपनिषद् में– इन्द्र और विरोचन की आख्यायिका वर्णित है।

---

[1] एन. के. देवराज– भारतीय दर्शन– पृ० ६६

[2] तज्जलानिति शान्त उपासीत (छा० उप० ३/१४/१)

उपनिषदों के दार्शनिक विवेचन की निरूक्त विधि भी महत्वपूर्ण है। उपनिषदों में स्वप्न, पुरूष आदि शब्दों की निरुक्तियां दी गयी है– यथा जो सत् से सम्पन्न है या स्वयं को प्राप्त करता है वही स्वप्न है।

छान्दोग्य उपनिषद में आरूणि ने अपने पुत्र श्वेतकेतु को उपमान विधि से "तत् त्वम असि" का उपदेश दिया है। बृहदारण्यक उपनिषद में शास्त्रार्थ विधि से दार्शनिक विवेचन प्राप्त होता है। उपनिषद् दार्शनिक याज्ञवल्क्य ने अनेक दार्शनिकों से शास्त्रार्थ करके अपनी श्रेष्ठता प्रमाणित की। यथा– कठोपनिषद में यम–नचिकेता संवाद, बृहदा० में याज्ञवल्क्य– मैत्रेयी संवाद छान्दो० उपनि० में आरूणि श्वेतकेतु संवाद और नारद सनत्कुमार संवाद मुख्य है।

तैत्तरीय उपनिषद् में "अरून्धती न्याय विधि" से दार्शनिक विवेचन किया गया है। इस उपनिषद् में ब्रह्म को क्रमशः अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय बताया गया है।

इस प्रकार से उपनिषदों में आत्मसंलाप विधि संश्लेषणात्मक विधि, विश्लेषणात्मक विधि, अधिदैवत आदि विधियों से दार्शनिक विवेचन प्राप्त होता है।

उपनिषदों में दार्शनिक विवेचन

वेदों के बाद आरण्यक ग्रन्थों में जो आध्यात्मिक जिज्ञासा की प्रक्रिया विकसित हुई थी उसी का सुव्यवस्थित एवं परिपक्व रूप उपनिषदों में दृष्टिगोचर होता है।

उपनिषद् अनेक विरोधी गुणों का समन्वय प्रस्तुत करता है। इसमें एक ओर यदि ज्ञानमार्ग का वर्णन है तो दूसरी ओर कर्ममार्ग और भक्तिमार्ग का है।

एक ओर यदि "सर्व खल्विदं ब्रह्म" वर्णित है तो दूसरी ओर द्वैत और त्रैत सिद्धान्तों का वर्णन है। इस प्रकार उपनिषदों में विरोधों के साथ समन्वय परिलक्षित होता है। उपनिषदों में दार्शनिक विचारों का अतीव सुन्दर चित्रण किया गया है।

१. वेदान्त में प्रतिपादित "तत्वमसि महावाक्य" का मूल छान्दोग्य उपनिषद् में प्राप्त होता है। इसमें उद्दालक मुनि ने श्वेतकेतु को "तत्वमसि" का उपदेश दिया है– 'स च एषोऽणि मैतदात्म्यमिदं सर्व तत् सत्यं स आत्मा तत्वमसिश्वेतकेतोइति (छान्दो० ६/६/१२–३)

उपनिषदों में मुख्य रूप से ब्रह्म के स्वरूप का प्रतिपादन किया गया है। बृहदा० उपनि० में कहा गया है कि वह न तो स्थूल है, न सूक्ष्म है, न लघु है और न गुरू। उसमें न रस है, न गन्ध न उसके पास आँख है और न ही कान है वह नित्य है उसमें आकाश ओत–प्रोत है। अतः निर्गुण ब्रह्म का निषेधात्मक वर्णन उपलब्ध होता है। 'अस्थूलमनण्वहस्वमदीर्घम् ——— अरसमगन्धमचक्षुष्कमश्रोत्रम्———अस्मिन्नु खल्वेक्षरे गागर्याकाश ओतश्चप्रोतश्च। (बृहदा० ३–८–८ से।।)

उपनिषदों का मुख्य विवेच्य विषय आत्मा या ब्रह्म का स्वरूप है। "ब्रह्म" शब्द 'बृह' धातु से बना है जिसका अर्थ "व्यापक" है। "बृहन्तो हि अस्मिन् गुणा इति ब्रह्म" इस व्युत्पत्ति के अनुसार "ब्रह्म" शब्द से तात्पर्य उस परम सत्ता से है जिसकी सत्ता एवं अनन्त शक्ति पर विश्व के सभी पदार्थों का अस्तित्व एवं संचालन निर्भर है।

कठोपनिषद् के अनुसार– यह एक पुरातन वृक्ष है जिसकी जड़ें ऊपर की ओर हैं और शाखाएं नीचे की ओर जाती है। वह प्रकाश का पुञ्ज उज्जवल ब्रह्म है जो अमर है जगत की सभी चेतन–अचेतन वस्तुएं उसी के अन्दर हैं उसके बाहर नहीं है।

तैत्तरीयोपानिषद् में ब्रह्म को सत्य, ज्ञान एवं अनन्त कहा गया है– 'सत्यंज्ञानमनन्तं ब्रह्म'।(तैत्तिरीयो०– २/१)। उपनिषदों में ब्रह्म के दो लक्षणों का विवेचन किया गया है– १–तटस्थ लक्षण, २–स्वरूप लक्षण।

जगत का कारण होना ब्रह्म का तटस्थ लक्षण है ब्रह्म जगत की उत्पत्ति, स्थिति एवं लय का निमित्त एवं उपादान कारण है। 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' और 'विज्ञानमानन्दं

ब्रह्म" उसका स्वरूप लक्षण है। उपनिषदों में ब्रह्म का वर्णन कहीं[2] 'नेति–नेति' पद्धति से किया गया है। बृहदारण्यको० ब्रह्म का पूर्ण निषेधात्मक वर्णन करता है क्योंकि ब्रह्म में सर्वस्व समाविष्ट है– 'अथातं आदेशः नेति–नेति। नहि एतस्मादिति न इति अन्यत्यपरमस्ति।' उपनिषदों में ब्रह्म के दो रूप मिलते हैं– १– सप्रपञ्च और २– निष्प्रपञ्च।

सप्रपञ्च ब्रह्म को सगुण, अपर ब्रह्म, मूर्त या ईश्वर कहते हैं और निष्प्रपञ्च ब्रह्म को निर्गुण, निर्विशेष, अमूर्त या परब्रह्म कहते हैं। सप्रपञ्च ब्रह्म की अवधारणा धार्मिक है, निष्प्रपञ्च ब्रह्म की अवधारणा दार्शनिक है। व्यवहारिक दृष्टि से ब्रह्म सप्रपञ्च है और परमार्थिक दृष्टि से निष्प्रपञ्च। निष्प्रपञ्च ब्रह्म की धारणा के अनुसार ब्रह्म ही एकमात्र सत् है और इसके अतिरिक्त अन्य वस्तुएं आभासमात्र है, यह ब्रह्मविवर्तवाद है।

बृहदारण्यक उपनिषद् में ईश्वर की महत्ता के विषय में कहा गया है कि ईश्वर विश्व के भीतर निवास करता है और विश्व का शासन करता है। उसे विश्व का अन्तर्यामी सूत्रधार कहा गया है। तैत्तिरीय उपनिषद में कहा गया है कि सृष्टि की उत्पत्ति के समय ईश्वर ने प्रत्येक सृष्ट पदार्थ में प्रवेश किया और तत्पश्चात उसने स्वयं सत्–असत्, विज्ञान–अविज्ञान रूप धारण कर लिया। अतः ईश्वर प्रत्येक वस्तु में व्याप्त है। सम्पूर्ण सृष्टि ईश्वर की शरीर है।

श्वेताश्वतर उपनिषद् में ईश्वर की सर्वव्यापकता वर्णित की गयी है इससे तात्पर्य यह है कि ईश्वर, अग्नि, जल, वनस्पति, वृक्ष आदि विश्व के कण–कण में व्याप्त हैं।

इसी उपनिषद् में एक जगह कहा गया है कि ईश्वर विश्व के परे स्वर्ग में वृक्ष की भाँति अविचल रूप से स्थित है। अतः विश्व के परे है।

इसी उपनिषद् में ब्रह्म को सर्वव्यापी, कर्मों का नियन्ता साक्षी, चैतन्य, अद्वितीय और निर्गुण कहा गया है–

'एको देवः सर्वभूतेषु गूढ़ः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा।

——————— साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च।। श्वेता० ६/११)

छान्दोग्य उपनिषद् में ईश्वर के सम्बन्ध में यहां तक कहा गया है कि इस सृष्टि की रचना उस परम तत्व के ईक्षण से ही होती है— 'तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेयति तत्तेजोऽसृजत ———।[1]

ब्रह्म सर्वशक्तिमान है, जगत को उत्पन्न करने की शक्ति एकमात्र उस परम सत् ब्रह्म में ही है।

तैत्तिरीय उपनिषद् के अनुसार— 'ब्रह्म ही जगत की उत्पत्ति, स्थिति और लय का उत्तरदायी कारण है।' सर्वशक्तिमान शास्वत ब्रह्म वही है जिससे सभी वस्तुओं की उत्पत्ति सभी की स्थिति और जिसमें सभी वस्तुओं का अन्त होता है— 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति तत्प्रयान्ति...तद्ब्रह्मेति।[2]

कठोपनिषद में ब्रह्म को 'प्रकाश पुंज' कहा गया है— सूर्य, चन्द्रमा, तारे, नक्षत्र आदि अपने प्रकाश से प्रकाशित न होकर ब्रह्म की ज्योति से प्रकाशित होते हैं अर्थात् ब्रह्म के प्रकांश से ही सभी प्रकाशमान होते हैं।[3] इस उपनिषद् में भी ब्रह्म को ही एकमात्र सत्य स्वीकार किया गया है और ब्रह्म के अतिरिक्त किसी भी अन्य वस्तु की सत्ता नहीं है।

ब्रह्म के सम्बन्ध में कहा गया है कि जो सम्पूर्ण सृष्टि में एकमात्र तत्व ब्रह्म को देखता है, वही ज्ञानी है, वही अमरत्व को भी प्राप्त होता है। इसके विपरीत जो देखता है वह बारम्बार मृत्यु को प्राप्त होता है, और आवागमन के चक्र में फंसा रहता है।[4]

---

[1] छान्दोग्य उप० (६–२–२–३)

[2] तैत्तिरीय उप० ३/१

[3] नतस्य सूर्यो भांति न चन्द्रारकं नेमां विद्युतो भाति कुतोऽयमाग्नि। तमेव भान्तमनुभाति सर्व तस्य भाषा सर्वमिद विभाति।। (क० उप० ११/५/१५)

[4] मनसैवेदमाप्तव्यं नेह नानास्ति किञ्चन। मृत्यो· स मृत्युं गच्छति य इह नानेव पश्यति।। (क० ३४/११/४/११)

केनोपनिषद् में ब्रह्म को वाणी से परे बताया गया है और कहा गया है कि जो वाणी से प्रकाशित नही होता किन्तु जिससे वाणी प्रकाशित होता है।

शंकराचार्य ने वेदान्त में जिस अद्वैत ब्रह्म का प्रतिपादन किया है उसका बीजरूप हमें माण्डूक्योपनिषद् में प्राप्त होता है। ब्रह्म न अन्तः प्रज्ञ है और न बहिःप्रज्ञ और न उभयप्रज्ञ। वह न ज्ञान, धन है, न प्रज्ञ है, न अप्रज्ञ है। वह अदृष्ट, अग्राह्य, अचिन्त्य और अव्यपदेश्य है। इसमें ब्रह्म की चार अवस्थाएं, पञ्चकोश, कारण, शरीरादि के समष्टि और व्यष्टिरूप और तुरीय शिव अवस्था का प्रतिपादन किया गया है। ब्रह्म में सभी प्रपञ्चों का उपशम हो जाता है वह शान्त, शिव और अद्वैत है।''प्रपञ्चोपशमं शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थ मन्यन्ते स आत्मा स विज्ञेयः।'' (माण्डूक्य उपनिषद ६/७)

वेदान्त में 'माया' का वर्णन श्वेताश्वतर उपनिषद में मिलता है। इसमें प्रकृति को 'माया' और 'पुरूष' (महेश्वर) को मायिन् (माया का स्वामी) कहा गया है– 'मायां तु प्रकृतिं विहान्मायिनं तु महेश्वरम्।' (श्वेताश्वतर ४/१०)

श्वेताश्वतर उपनिषद् में प्रकृति के तीनों गुणों एवं उनके लोहित, शुक्ल एवं कृष्ण रूपों का वर्णन है। सांख्य और योग में वर्णित प्रकृति के तीनों गुणों का बीजरूप में निर्देश है।[१]

वेदान्त में आचार्यशंकर द्वारा उद्धृत 'तत्वमसि' महावाक्य का मूल छान्दोग्य उपनिषद में प्राप्त होता है। इस उपनिषद् में उद्दालक मुनि द्वारा श्वेतकेतु को दिया गया उपदेश वर्णित है।

'स च एषोऽणिमैतदात्म्यमिदं सर्व तत् सत्यं स आत्मा तत्वमसि श्वेतकेतो इति।' (छान्दोग्य ६–६–१२–३)। पुनर्जन्म से सम्बन्धित वर्णन हमें तीन उपनिषदों में मुख्य रूप से मिलता है ये उपनिषद हैं– छान्दोग्य, कठ, बृहदारण्यक। इसमें कहा गया है कि कुछ लोग तो ऐसे होते हैं जिन्हें शुभ कर्मों के परिणामस्वरूप ही अमरत्व की प्राप्ति हो

जाती है और शेष को पुनर्जन्म प्राप्त होता है। कठोपनिषद् में जब नचिकेता यम के द्वार से लौट आता है तब वह पुनर्जन्म की ओर ही इंगित कर रहा है। मुण्डक उपनि० में भी पुनर्जन्म से सम्बन्धित वर्णन है।

बृहदाण्यक उपनिषद में पुनर्जन्म का वर्णन है– 'क्षीर्ण च पुण्ये ततः पुनरावर्तन्ते। ये खलु पृथिव्यां नानायोनिषु जनः प्रपद्यान्ते मनुष्यजातौ जायन्ते।' (बृहदा० ६–२–१५–१६)

गीता में प्रतिपादित निष्काम कर्मयोग का वर्णन, मूल रूप से ईश उपनिषद् में प्राप्त होता है जिसमें कहा गया है कि निष्काम भाव से प्रेरित होकर कर्म करने वाला व्यक्ति कर्म के बन्धन में नहीं बंधता है।

'कुर्वन्नेदेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं् समाः।

एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति, न कर्म लिप्यते नरे।। (ईशोपनिषद्–२)

इस प्रकार ईश उपनिषद में विद्या और अविद्या अर्थात् ज्ञान मार्ग एवं कर्ममार्ग दोनों में समन्वय मिलता है। इसी प्रकार कठउपनिषद में भी श्रेय और प्रेय का समन्वित रूप वर्णित है।

वेद में एक ईश्वर का वर्णन

उपनिषदों में यह सिद्धान्त प्रचलित है कि उपनिषदों का ब्रह्म एक है। आचार्य शंकर के सिद्धान्त पर यदि ध्यान दें तो यह आचार्य ने स्पष्ट किया है कि ब्रह्म ही एकमात्र सत् है, और शेष सभी मायोपहित चैतन्य है। ब्रह्म ही संसार का अभिन्न निमित्तोपादान कारण है। किन्तु यदि उपनिषदों का आधार वेद माना जाये तो परस्पर संगति से ऐसा अर्थात आचार्य शंकर का मत समीचीन प्रतीत नहीं होता है। क्योंकि वेदों के अनेक मंत्र एक ब्रह्म का प्रतिपादन तो करते हैं परन्तु साथ ही आत्मा अर्थात्

---

* अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां वह्वीः प्रजाः सृजमानांसरूपाः। (श्वेता० ४–५)

जीवात्मा और संसार के पदार्थों की सत्ता भी स्वीकार की गई है। इसी प्रकार उपनिषदों में भी वेद मंत्रों को लेकर उसी प्रकार सिद्धान्त प्रतिपादित किया है जैसा कि वेद ने किया है। वेद और उपनिषदों में मुख्य रूप से यह अन्तर दृष्टिगोचर होता है कि वेद एक सागर के समान है जिसमें सभी प्रकार की विधाओं का वर्णन बीजरूप में विद्यमान रहता है, और उपनिषद् वेदों का केवल एक अंग की भाँति है अर्थात् उपनिषदें ज्ञानकाण्ड की अनुभूतिपरक व्याख्याएं प्रस्तुत करती हैं।

वेद और उपनिषदों में ब्रह्म सम्बन्धी मंत्रों में कुछ साम्य दिखाई देता है– जिस प्रकार उपनिषदों में एक ब्रह्म को माना गया है उसी प्रकार वेदों में भी एक ईश्वर का वर्णन है।

१. सृष्टि या जगत् में जो कुछ भी जड़–चेतन रूप है वह समस्त परमेश्वर से ही व्याप्त है।[१]
२. जो सम्पूर्ण जगत का स्वामी, कर्ता, धर्ता है, उसी परम सत्ता का वर्णन परम पुरूष, सृष्टि का अध्यक्ष, देवों के देव तथा ब्रह्म आदि नामों से अनेक मंत्रों में पाया जाता है।
३. ब्रह्म का साक्षात्कार जिज्ञासु कर लेता है तब समस्त भुवनों का साक्षात्कार कर लेता है, क्योंकि वह ब्रह्म सूक्ष्मातिसूक्ष्म है।[२]
४. विद्वान, ब्राह्मण उसी एक ब्रह्म की स्तुति भरी वाणियों से भक्ति करते हैं।[३]
५. उसी एक ईश्वर को अग्नि, वायु, चन्द्रमा, यम, मातरिश्वा आदि नामों से कहा
६.

जाता है।[१]

---

[१] ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।। (यजु० ४०–१–ईशो–१)

[२] यत्र लोकाश्च कोशाश्चापों ब्रह्म जनाविदुः। यसच्च यत्र सच्चान्त स्कम्भतं ब्रूहि कतम. स्विदेव स।। (अथर्व० १०/६/१०)

[३] ब्रह्माणं ब्रह्मवाहमं गोर्भि सखाय मृग्मियम। (गांदो हसेहुवो– ऋ० ६/६/४५/७)।।

७. यजुर्वेद में कहा गया है कि हम सभी लोग अपनी रक्षा के लिये, उस ईश्वर की, जो जंगम और स्थावर सब का स्वामी है, वही बुद्धि का प्रेरक है, उस की प्रार्थना करते हैं।[२]

८. उस परमेश्वर के स्वरूप का वर्णन करते हुये वेद कहता है कि वह शरीर रहित, शुद्ध, नस–नाड़ियों से रहित, पापों से रहित स्वयंम्भू आदि विशेषणों से युक्त है।

पश्चिमी विद्वानों और उनकी विचारधाराओं से प्रभावित कुछ भारतीय विद्वान भी यह मानते हैं कि वेदों में ब्रह्म विद्या नहीं है, ब्रह्म विद्या का विकास वेद के पश्चात वेदान्त अर्थात् उपनिषदों में हुआ है। किन्तु कुछ विद्वान तो इतना अवश्य स्वीकार करते हैं कि ऋग्वेद के अन्तिम में आते–आते एकेश्वरवाद की भावना कुछ पनप गई थी परन्तु दयानन्द तो इस विचारधारा से असहमत होकर यह उद्घोषणा करते हैं कि वेदों का मुख्य तात्पर्य परमेश्वर को ही प्राप्त करने में है। "एवमेव सर्वेषां वेदानाशी श्वरे मुख्ये अर्थे मुख्य तात्पर्यमस्ति।।"

महर्षि दयानन्द अपनी इस बात को सिद्ध एवं प्रमाणित करने के लिये कठोपनिषद् का प्रमाण देते हैं। 'समस्त वेद जिस के गीत गाते हैं वह 'ओऽम्' है।[३] वेदान्त दर्शन भी इस बात को मानता है कि वेदों में 'ब्रह्म' का वर्णन पाया जाता है।[४] वेदों में ब्रह्म को सर्वशक्तिमान, देवों के देव, सर्वज्ञ, व्यापक, सर्वान्तर्यामी आदि विशेषणों से अभिहित किया गया है। इस प्रकार वेदों में एकेश्वरवाद का जितना स्पष्ट और सुन्दर वर्णन किया गया है, वैसा अन्यत्र शायद ही हो। दयानन्द का मानना है कि जो बहुदेववाद या हीनोथीज्म की विचारधारा उत्पन्न हुई उसके पीछे कारण संभवतः यह रहा होगा कि 'देवता' शब्द से अर्थ का अनर्थ किया गया। किन्तु इतना तो स्पष्ट है कि

---

[1] तदेवाग्निस्तदादित्य——————(यजु० ३/२/१)

[2] रूचं ब्राह्मं जनयन्तो देवा अग्रे तदब्रूवन्। यस्तवैवं ब्राह्मणो विद्यात्तस्य देवा असन्वशे।। (यजु० ३१/२१)

[3] क्वचित् साक्षात्क्वचित परम्पराच। अतः परमार्थो वेदानां ब्रह्मैवास्ति। वही पृष्ठ।

[4] सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति – कठो० १/२/१५। तत्तुसमन्वयात् (वेदान्त १/१/४)

देवता शब्द से ईश्वर का ग्रहण नहीं करना चाहिये। अतः वेदों में एक ही ईश्वर की उपासना का विधान है।

उपनिषदों में एकेश्वर का वर्णन

वेदों की भांति उपनिषदों में भी ईश्वर के विविध नाम प्राप्त होते हैं। महर्षि दयानन्द ने ईश्वर का मुख्य नाम 'ओउम्' बतलाया है। यह 'ओउम्' नाम उपनिषदों में भी प्राप्त होता है। जो ईश्वर का पर्यायवाची नाम के रूप में है। ईश्वर को ब्रह्म, मायाविन आदि नामों से भी वर्णित किया गया है। उपनिषदों में ईश्वर के जिन विशेष नामों की व्याख्या की गयी है ने सब वेदों के ही अनुसार है। वेदों की ही तरह उपनिषदों में भी कहा गया है कि वह परम ब्रह्म विभिन्न नामों से जाना जाता है। उदाहरणतया– श्वेताश्वेतरोप० में कहा गया है कि उसी को अग्नि, उसी को आदित्य, वायु, चन्द्रमा, आप आदि विभिन्न ये नाम ईश्वर के ही नाम है। 'तदेवाग्निस्तदादित्य– (श्वेता० ४/२)।

कठोपनिषद् में कहा गया है कि यह 'ओऽम' ही अविनाशी ब्रह्म है और यही सब का आलम्बन है। 'एतध्येवाक्षरं ब्रह्म एत ध्यमेवाक्षरं परम्।'

इस ओंकार का जप करने से ही परमानन्द की प्राप्ति हो जाती है। यह 'ओऽम्' ही सम्पूर्ण जगत में व्याप्त है यह ओउम् त्रिकालातीत है अर्थात् भूत, वर्तमान और भविष्यत् में यह ओङ्कार ही है। 'य आमित्येतदक्षरमिदोसर्वं' प्रश्नोपनिषद् में ओंकार का वर्णन करते हुये लिखा गया है कि हे सत्काम निश्चित है कि यह ओंकार ही ब्रह्म है इसी को दोनों रूपों में परब्रह्म और अपरब्रह्म भी कहते हैं।

'एत द्वै सत्यकाम परं चापरं च ब्रह्मयदो ओंकार' (प्रश्नोपनिषद्– ५/२)।

मुण्डकोपनिषद् में यह कहा गया है कि दो सुन्दर परों वाले पक्षी ही प्रकृति रूपी वृक्ष पर विराजमान हैं उसमें से एक फलों का आस्वाद लेता है और दूसरा तटस्थ भाव

से देखता रहता है।[1] इस उदाहरण से यह स्पष्ट होता है कि इन जीव और ब्रह्म में से एक जो जीव हैं वह वृक्षरूपी संसार में पाप–पुण्य, शुभ–अशुभ रूप फलों को सुचारू रूप से भोगता है और इसके विपरीत दूसरा परमात्मा कर्मों के फलों को न भोगता हुआ अपने चारों ओर अर्थात् भीतर बाहर सर्वत्र प्रकाशमान हो रहा है। इससे स्पष्ट होता है कि उपनिषदों में भोक्ता रूप में जीवात्मा और भोग्या प्रकृति तथा इन पर शासन करने वाला 'ब्रह्म' का वर्णन पाया जाता है।

उपनिषदों में भी ब्रह्म को सर्वत्र विभु, सर्वशक्तिमान सृष्टि रचयिता, पालनकर्ता एवं संहर्ता के रूप में उद्धृत किया गया है। इसके विपरीत जीवात्मा अल्पशक्ति वाल अणु तथा परिच्छिन्न है। जीवात्मा कर्म करने में तो स्वतंत्र है किन्तु कर्म का फल भोगने में परतन्त्र है।

उपनिषदों में द्वैतवाद का समर्थन जो श्रुतियां करती है उनको अद्वैतवादी यह कहकर प्रबल रूप से समर्थन करते हैं कि ये व्यवहारकाल की श्रुतियां हैं। उपनिषदों में इस तरह का संकेत नहीं है।

जिज्ञासा होने के कारण यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि क्या उपनिषदों में सृष्टिरचना का वर्णन नहीं है। यदि सृष्टि का वर्णन है तो मिथ्या क्यों कहा जाय। इसके बाद फिर परमार्थ और व्यवहार का भेद क्यों माना जाय। आचार्य शंकर ब्रह्म को समझाने के लिये इस जगत का सहारा लेते हैं और फिर बाद में कहते हैं कि संसार मिथ्या है और ब्रह्म सत्य है, यह कैसे हो सकता है। अर्थात् मिथ्या जगत से परमार्थिक सत्ता कैसे सिद्ध की जा सकती है? वस्तुतः व्यवहारिक स्तर पर जो अद्वैतवादी भेद मानते हैं उससे दयानन्द की यथार्थवादी विचारधारा को ही सहारा (बल) मिलता है।

---

[1] द्वा सुपर्णा सुयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्व जाते। तयोरन्य पिप्पलंस्वाद्वगत्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति।। (मु० उ० ३/१/१)

महर्षि दयानन्द यह मानते हैं कि उपनिषदों में ब्रह्म को संसार का रचयिता कहा गया है। इसी ब्रह्म से समस्त महाभूत उत्पन्न होते हैं और उत्पन्न होकर उसी में तिरोहित हो जाते हैं। अर्थात् प्रलयावस्था में नष्ट होकर ब्रह्म के गर्भ में अव्यक्तावस्था में चले जाते हैं।

'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते.... यत्प्रयत्यभिसंविशान्ति।' (तैत्तिरीय उपनिषद) सत्य तो यह है कि उपनिषदों में सृष्टिरचना का वर्णन जिस रूप में किया गया है वह विशुद्ध यथार्थवादी है। महर्षि दयानन्द के अनुसार आचार्य शङ्कर के मायावाद का सिद्धान्त उपनिषदों में प्राप्त नहीं होता है किन्तु जो 'माया' शब्द उपनिषदों में आया है वह आचार्य शंकर की माया नहीं है बल्कि (यहा) 'माया' का अर्थ– 'प्रकृति' है। श्वेताश्वेतरोपनिषद में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि 'माया को प्रकृति ही जानों।'[1]

सांख्यदर्शन में वर्णित 'प्रकृति' और उपनिषदों की 'माया' एक ही प्रतीत होती है। यही कारण है कि सांख्य दर्शन प्रकृति परिणामवाद को हमेशा श्रुतिसम्मत बतलाता है– 'श्रुतिरपिप्रधानकार्यत्वस्य' (सां० सू० ५/२) परन्तु इतना अवश्य कहा है कि ब्रह्म नित्यों का नित्य है अर्थात् जीव और प्रकृति इन नित्य तत्वों का जो स्वामी है वह अनादि ब्रह्म है।[2] इस प्रकार उपनिषदों में एकेश्वरवाद का ही मुख्य रूप से प्रतिपादन किया गया है।

उपनिषदों द्वारा वेदों को ही प्रमाण मानना– सभी उपनिषदें वेद को ही प्रमाण रूप में स्वीकार करती हैं न कि वेदों का खण्डन करती हैं। क्योंकि कठोपनिषद में कहा गया है कि 'जिस अक्षर पर ब्रह्म को प्राप्त करने का सभी वेद उपदेश देते हैं उसी ब्रह्म को जानों'– 'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति'। (कठोपनिषद् २/१५)। मुण्डकोपनिषद् में कहा गया है कि उस परमात्मा का मुख अग्नि है, चन्द्रमा और सूर्य उस परमात्मा के दो चक्षु हैं श्रोत दिशाएं हैं तथा ऋग्वेदादि चारों उस परमात्मा की वाणी हैं। वेदों के विषय में

---

[1] मायां तु प्रकृति विहान्मायिनं तु महेश्वरम्। तस्यावयव भूतैस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जगत।। (श्वेता० ४/१०)

[2] नित्यो नित्यानां चेतनाश्वेतंनानामेको बहूनां यो विदयतिकामान्। (श्वेता० ६/३)

यह भी कहा गया है कि ये वेद परमात्मा के निःश्वास से प्रभूत है तथा उसी परमात्मा के द्वारा प्रकाशित ज्ञान है। इस प्रकार उपनिषदों का अध्ययन करने के बाद यह स्पष्ट होता है कि कुछ मंत्रों को छोड़कर अन्यत्र वेदों के मंत्रों को ज्यों का त्यों उपनिषदों में ग्रहण किया गया है। ब्राह्मण वेद के स्वाध्याय द्वारा उसी परमात्मा को जानने की इच्छा करते हैं[1]। इस प्रकार उपनिषदें वेदों के विरूद्ध नहीं अपितु वेदों को प्रमाणरूप में प्रस्तुत करती है।

वेद में प्रलयावस्था की स्थिति में प्रकृति का निरूपण

सृष्टि की रचना होने से पूर्व प्रकृति प्रलयकाल में किस स्थिति में थी, उसका क्या आकार था, इस सृष्टि की रचना किसने किया या यह प्रकृति थी भी या नहीं थी? आदि प्रश्नों का उत्तर वेदों में गंभीरता से दिया गया है। इस दार्शनिक समस्या का समाधान सबसे ज्यादा ऋग्वेद के नासदीय सूक्त में वर्णित है। नासदीय सूक्त के विषय में मैक्समूलर (पश्चिमी विद्वान) का विचार है कि इस सूक्त को ईश्वर ने ऋषियों के लिये ही अवतरित किया है। जैसा कि इस सूक्त के कुछ मंत्रों के विवेचन से प्रतीत होता है–

१– उस समय (प्रलयकाल) में न असत् था न सत् था और न ही परमाणुओं से भरा अन्तरिक्ष भी था, उस समय कहां क्या आच्छादित था? प्रकृति किसके आश्रय में थी, क्या उस समय बहुत अधिक गंभीर जल (बल) था।[2]

२– तब उस समय न मृत्यु थी तथा न किसी प्रकार का जीवन था, रात्रि और दिवस भी नहीं था, उस समय वह परमात्मा अपनी शक्ति से स्वधा–प्रकृति के साथ बिना किसी प्राणवायु के प्रणयन कर रहा था उससे परे श्रेष्ठ कुछ भी नहीं था[3]

---

[1] तथा तमेतं वेदांनुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति। (बृहदारण्यक ४/४/२२)

[2] नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं द्रजोनो व्योमाड़परोयत। किमारीव कुहकस्य शर्म्मन्नम्भ किमसीदगहनं गंभीरम्।। (ऋ० १०/१२६/१)

[3] न मृत्युरासीदमृतं न तर्हिनरात्या अह्न आसीत् प्रकेटः। ऋ० (१०/१२६/२)।

३. उस समय अन्धकार से व्याप्त अव्यक्त प्रकृति थी और यह सब अज्ञेय अवस्था में जल के समान एकाकार था जो तुच्छ था (ब्रह्म के सम्मुख प्रकृति तुच्छ है) वह परमात्मा के तप से एक अर्थात व्यक्त सी होने लगी।[1] इसी उपर्युक्त बात की व्याख्या महर्षि दयानन्द ने भी इसी प्रकार से ही की है।

४– वस्तुतः कौन जानता है और कौन कह सकता है, कहां से निर्माण हुआ और कहां से विविध प्रकार की सृष्टि हुई है, देव भी वाद में ही बने हैं अब कौन यह कह सकता है कि यह सृष्टि कहां से निर्मित हुई।[2]

५– जिससे यह विविध प्रकार की सृष्टि उद्‌भूत हुई है वही इसको धारण करता है। यदि न करे तो सृष्टि विनष्ट हो जाय। जो परम व्योम है इसका वह अध्यक्ष है। हे मित्र! उसको जान, यदि उसको न जानेगा तो महती हानि होगी।[3]

कुछ आधुनिक विद्वान जो शङ्कर के अद्वैतवाद से प्रभावित हैं वह आचार्य शङ्कर के अद्वैतवाद सिद्धान्त का मूल इसी सूक्त में ढूंढने का प्रयास करते हैं– किन्तु यहां यह विचारणीय है कि सर्वप्रथम मंत्र में सत् और असत् दोनों का ही उस अवस्था में होने को खण्डन किया गया है। यदि इस मंत्र में केवल यह इतना ही स्पष्ट रूप से कहा गया होता कि सृष्टि के पूर्व केवल सत् ही था और कुछ भी नहीं था तब तो आचार्य शङ्कर के सिद्धान्त का प्रतिपादन समुचित जान पड़ता। क्योंकि आचार्य शङ्कर का भी यह मन्तव्य है कि सत् का कभी वाध नहीं होता है यह त्रिकालाबाधित सत् होता है। किन्तु वेद न तो सत् को मानता है और न ही असत् को ही मानता है। इससे यह तात्पर्यतः अर्थ निकलता है कि 'सत्' का अर्थ यह कार्यरूप जगत् नहीं था। और असत् का अर्थ है अभाव। अर्थात् पूर्णतः अभाव भी नहीं था अपितु कारण प्रकृति

---

[1] तम आसीतमसा गूढ़लमग्रेअप्रकेतः सलिलं सर्वमाइदम। तुच्छयेनाम्बपिहितं.. जार्यतकम्।। (ऋ० १०/१२६/३)

[2] को अद्धावेद क इह प्रवोचत्कुत अजाता कुत इयं विसृष्टि। अर्वाग्देव स्य विसर्जनेनाथा को वेद यत आ बभूव।। (ऋ० १०/१२६/६)

[3] इयं विसृष्टि आबभूव यदि वा दधेवाम। (ऋ० १०/१२६/७)

अव्यक्तावस्था में थी। ईश्वर अपनी ईक्षणशक्ति से ही उसमें गति उत्पन्न कर क्षोभ पैदा कर देता है। वेदों में सृष्टिरचना का वर्णन बहुत ही दार्शनिक विधि से किया गया है– 'द्वा सुपर्णा सुयुजा सखाया'[1] यह मंत्र ऋग्वेद में भी आता है और यह मंत्र उपनिषदों में भी प्राप्त होता है इस मंत्र में प्रकृति की उपमा वृक्ष से दी गयी है।

उपनिषदों की दार्शनिक व्याख्या वही समुचित हो सकती है जो वेदों की व्याख्या से भी सहमति रखती हो इस प्रकार से वेदों में स्पष्ट रूप से यथार्थवाद का निरूपण किया गया है।

निष्कर्ष (समालोचना)

वेद ईश्वर से उद्भूत है अतेव यह अपौरूषेय कृति है तथा अलौकिक है। इस मत को आचार्य शङ्कर, रामानुज, दयानन्द तीनों ही मानते हैं। दयानन्द ने वेदों का भाष्य यथार्थवादी युग में किया है जकि आचार्य शङ्कर ने अपने दर्शन का प्रारम्भ बौद्ध दर्शन के खण्डन से प्रारम्भ किया है क्योंकि उस समय वैदिक मान्यताएं ब्रह्म का महत्व समाप्त हो रहा था इस दिशा में बौद्ध दार्शनिक प्रयत्न कर रहे थे इसलिय सभवतः आचार्य शंकर ने इस प्रतिक्रिया में ब्रह्म को ही सब कुछ कहा– 'सर्वखल्विदंब्रह्म', नेहनानास्ति किञ्चन जगत्। और प्रकृति का खण्डन किया जो उस समय उस युग की जरूरत थी।

स्वामीदयानन्द का प्रादुर्भाव यथार्थवादी प्रादुर्भाव के साथ ही हुआ है। दयानन्द ने वेद के भाष्य के द्वारा भारतीय संस्कृति को विश्व के सम्मुख चमत्कृति रूप में रखा है। स्वामी दयानन्द के प्रभाव से ही सकल भारतीय वाङमय जो परस्पर विरोधी सा प्रतीत होता था आज उसमें समन्वय दृष्टिगोचर होता है।

---

[1] ऋग्वेद (१/१६४/२)

आचार्य शङ्कर भी अपने युग के प्रतिनिधि दार्शनिक हैं और उनके दार्शनिक विचारों की सूक्ष्मता दर्शनजगत को अत्यधिक प्रभावित करती है। दर्शन के क्षेत्र में आचार्य शङ्कर का योगदान किसी दार्शनिक से कम नहीं है।

श्रीमद्भगवद्गीता

विश्व दर्शन के क्षेत्र में गीता का विशिष्ट स्थान है। यह दार्शनिक जगत को भारत की अद्भुत देन है। प्राचीन भारत के दर्शन का एक अत्यन्त लोकप्रिय काव्यात्मक प्रतिपादन भगवद्गीता में हुआ है जो महाभारत महाकाव्य का एक अंग है। यह महाभारत के भीष्म–पर्व के अन्तर्गत है।

कुरूक्षेत्र के युद्ध में अपने बन्धु–बान्धवों की हत्या तथा युद्ध की भयानकता से त्रस्त पाण्डव वीर अर्जुन को श्रीकृष्ण ने कर्म के लिये जो प्रेरणा दी, वही भगवद्गीता में निरूपित है। भगवद्गीता महर्षि वेद व्यास द्वारा रचित संस्कृत ग्रन्थ है। इसके अठ्ठारह अध्यायों में संदेह में निमग्न अर्जुन को कृष्ण ने लम्बा दार्शनिक उपदेश दिया है। एक क्षत्रिय के रूप में अपने शत्रुओं का संहार करना अर्जुन का कर्तव्य था, किन्तु ये शत्रु कोई और नहीं बल्कि उनके सगे सम्बन्धी थे। इसलिये अर्जुन उनकी हत्या करने में नैतिक रूप से विचलित हो उठे– इनमें तो "मेरे आचार्य, मामा और दादा, मेरे श्वसुर और शुभचिंतक हैं।[१] इस प्रकार गीता के प्रथम अध्याय में अर्जुन के शोक एवं मोह का वर्णन है और दूसरे अध्याय का विषय सांख्य–योग एवं निष्काम कर्मयोग है। तीसरे और चौथे अध्याय में क्रमशः कर्मयोग तथा ज्ञान–कर्म–सन्यास योग का वर्णन है। छठे अध्याय में आत्मसंयम का वर्णन है और सातवें में ज्ञान–विज्ञान योग का वर्णन किया गया है। इसी प्रकार बाकी के अध्यायों में भी विभिन्न पहलुओं का विवेचन किया गया है अन्तिम अठारहवें अध्याय में मोक्ष–सन्यास योग का वर्णन है। स्वामी विवेकानन्द ने

---

[१] श्रीभगवद्गीता– १, २६–२७।

अपने ग्रन्थ भगवान श्रीकृष्ण और भगवद्गीता में लिखा है कि–"एक अन्य बात यह है कि साधारण जनता को गीता के विषय में तब तक अधिक जानकारी नहीं थी जब तक शंकराचार्य ने उस पर अपना महान भाष्य लिखकर उसे महान नहीं बना दिया। बहुतों का कहना है कि उससे बहुत पहले उस पर बोधायन का भाष्य प्रचलित था। यदि यह सिद्ध हो सके तो निःसन्देह गीता की प्राचीनता और व्यास का उसका लेखक होना काफी हद तक मान्य हो सकता है। किन्तु भारत भर में भ्रमण करते समय मुझे वेदान्त सूत्र पर बोधायन के भाष्य की कोई प्रति नहीं मिली।[1]

रामानुज ने उससे अपना श्रीभाष्य संकलित किया, शङ्कराचार्य ने उसका उल्लेख किया है और स्वयं अपने भाष्य में यत्र–तत्र उसे अंशतः उद्धृत तक किया है और स्वामी दयानन्द ने उसकी बड़ी चर्चा की है। कहा जाता है कि रामानुज तक ने कीड़ों–मकोड़ों से खायी हुयी एक हस्तलिखित प्रति से, जो संयोग से उन्हें मिल गयी थी, अपने भाष्य को संकलित किया। जब वेदान्त सूत्र पर लिखा गया बोधायन का यह महान भाष्य भी अनिश्चितता के अन्धकार में इतना ढका हुआ है तब गीता पर बोधायन भाष्य के अस्तित्व को प्रमाणित करने का प्रयास व्यर्थ है। कुछ लोग यह निष्कर्ष निकालते हैं कि गीता के लेखक शंकराचार्य थे और उन्होंने ही उसे महाभारत के बीच में प्रक्षिप्त कर दिया।

भगवद्गीता में कृष्ण के व्यक्तित्व के विषय में भी संदेह की स्थिति है। छान्दोग्य उपनिषद् में एक जगह हमें देवकी के पुत्र कृष्ण का उल्लेख प्राप्त होता है, जिन्होंने घोर नामक योगी से आध्यात्मिक शिक्षा ग्रहण की थी। महाभारत में कृष्ण का द्वारकाधीश के रूप में वर्णन मिलता है और विष्णुपुराण में गोपियों के साथ रास–लीला करते हुये कृष्ण का वर्णन है। भागवत में व्यापक रूप से रासलीला का वर्णन है।

[1] भगवान श्रीकृष्ण और श्रीभगवद्गीता– पृ० २२।

प्राचीनकाल में हमारे देश में ऐतिहासिक शोध द्वारा सत्य का पतालगाने की प्रवृत्ति बहुत कम थी। अतएव समुचित तथ्यों और प्रमाणों द्वारा सिद्ध किये बिना ही, जिसके विचार में जो उचित जान पड़ता वह कह डालता था। इसलिये प्रायः यह हुआ कि किसी आदमी ने कोई ग्रन्थ रचा और अपने गुरू या किसी अन्य के नाम से उसे प्रचलित कर दिया। ऐसे विषय में ऐतिहासिक तथ्यों का अनुसंधान करने वाले के लिये सत्य तक पहुंचना बड़ा जोखिम का काम था। अतः कृष्ण के विषय में सही निष्कर्ष पर पहुंचना प्रायः असंभव है। यह मनुष्य का स्वभाव होता है कि वह किसी भी महान पुरूष के स्वभाव में विभिन्न रूप की काल्पनिक अतिमानवीय विशेषताएं जोड़ देता है। कृष्ण के विषय में भी ऐसा ही हुआ होगा किन्तु यह संभव प्रतीत होता है कि वह एक राजा थे। किन्तु एक बात ध्यातव्य है कि गीता का लेखक चाहे जो भी व्यक्ति रहाहो, हमें उसमें वही शिक्षाएं मिलती हैं जो समस्त महाभारत में है। निश्चित रूप से यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि महाभारत काल में किसी महान–पुरूष का अभ्युदय हुआ, जिसने तत्कालीन समाज को इस नये परिधान में ब्रह्मज्ञान का उपदेश दिया। यह भी कारण था कि प्राचीन समय में जब एक धर्म सम्प्रदाय के पश्चात् दूसरे धर्मसम्प्रदाय का अभ्युदय होता था, तब किसी न किसी नये धर्मशास्त्र का भी प्रणयन होता था और वह उनमें व्यवहृत होने लगता था। यह भी होता था कि समय व्यतीत होने पर धर्म सम्प्रदाय का अस्तित्व मिट गया किन्तु धर्मशास्त्र बचा रह गया। इस प्रकार यह बिल्कुल संभव है कि गीता किसी ऐसे धर्म सम्प्रदाय का शास्त्र रही हो जिसने अपने उच्च्व एवं श्रेष्ठ विचारों को इस पवित्र ग्रन्थ में समाविष्ट किया हो।

स्वामी विवेकानन्द अपने ग्रन्थ भगवान श्रीकृष्ण और भगवद्गीता में लिखते हैं कि "अब हमें यह देखना चाहिये कि गीता में क्या है? उपनिषदों का अध्ययन करे तो देखते हैं कि बहुत से असम्बद्ध विषयों की भूल–भूलैय्या में भटकने पर सहसा किसी

महान सत्य की चर्चा छिड़ जाती है, ठीक वैसे ही जैसे किसी विशाल वीरान प्रदेश में किसी यात्री को अकस्मात् यत्र–तत्र अति सुन्दर गुलाब मिल जाता है, जिसकी पत्तियां, कांटे, जड़ें सभी परस्पर उलझी हैं। उनकी तुलना में गीता इन सत्यो के सदृश हैं जो सुन्दर ढंग से यथास्थान व्यवस्थित हैं। वह एक सुन्दर पुष्पमाला के या सर्वोत्तम चुने हुये फूलों के एक गुलदस्ते के समान हैं। उपनिषदों में कई स्थलों पर श्रद्धा की विस्तृत विवेचना की गयी है, किन्तु भक्ति का उल्लेख अल्प ही है। दूसरी ओर गीता में भक्ति की वार[2] विवेचना ही नहीं की गयी है वरन् उसमें भक्ति की अर्न्तनिष्ठ भावना चरम उत्कर्ष तक पहुंच गयी हैं।[1]

अब प्रसंग यह है कि गीता की मौलिकता किस बात में है, जिससे पूर्ववर्ती अपने सभी शास्त्रों से अलग विशेषता रखती है। यद्यपि गीता के अविर्भाव के पूर्व भी योग, ज्ञान, भक्ति आदि सभी के दृढ़ अनुयायी थे तथापि वे सब आपस में विवाद करते थे क्योंकि वे सब अपने अपने द्वारा अपनाये गये मार्गों की सर्वोत्कृष्टता का दावा करते थे। इन सभी पृथक[2] मार्गों में समन्वय स्थापित करने का कभी किसी ने प्रयास ही नहीं किया। गीता के रचयिता ने ही सर्वप्रथम उसमें समन्वय लाने का प्रयास किया। तत्कालीन प्रचलित सभी धर्मसम्प्रदायों के सर्वोत्तम तत्वों को उन्होंने लिया और गीता में सूत्रबद्ध कर दिया।

महाभारत में बतलाया गया है कि भगवान् श्रीकृष्ण ने महाभारत रूपी समुद्र का मन्थन कर उसके सार 'गीतामृत' को अर्जुन के मुख में होम किया–

भारतामृत सर्वस्व गीता या मथितस्य च।
सारमुदाधृत्य कृष्णेन अर्जुनस्य मुखे हुतम्।।

(महाभारत भीष्म पर्व ४३/५)

---

[1] स्वामी विवेकानन्द भगवान श्रीकृष्ण और श्रीभगवद्गीता, पृ० २६

महाभारत के शान्ति पर्व में बतलाया गया है कि यह गीता धर्म, विवस्वान, मनु और इक्ष्वाकु आदि की परम्परा से लोक में प्रसिद्ध हुआ। गीता के चतुर्थ अध्याय में बतलाया गया है कि सर्वप्रथम भगवान ने गीता धर्म का उपदेश विवस्वान को दिया।[1] इसके बाद विवस्वान ने मनु को और मनु ने इक्ष्वाकु को दिया यह ग्रन्थ गोपालनन्दन श्रीकृष्ण द्वारा अर्जुन को बछड़ा बनाकर उपनिषद रूपी गायों से दुहा गया अमृतमय दूध है जिसे सुधीजन पीते हैं।[2]

अध्यात्मतत्व का विवेचन गीता में बड़े ही सुन्दर ढंग से किया गया है। किन्तु इन सब का समन्वय कर एक निश्चित सिद्धान्त स्थापित करना कुछ दुष्कर कार्य है। इसलिये आचार्य शंकर ने गीता को दुर्विज्ञेयार्थ बतलाते हैं– "तदिदं गीताशास्त्रं समस्त वेदार्थ सार संग्रह भूतं दुर्विज्ञेयार्थम्।"

गीता में ब्रह्म के सगुण तथा निर्गुण दोनों रूपों का वर्णन किया गया है किन्तु वास्तव में ये दोनों रूप आपस में अभिन्न है।

सर्वोन्द्रिय गुणाभासं सर्वेन्द्रिय विवर्जितम्।
असक्तं सर्वभूच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च।। (१३/१४)

इस प्रकार गीता यह भी मानती है कि ब्रह्म जगत् की उत्पत्ति स्थिति और लय का अभिन्न निमित्तोपादान कारण है। वह शुद्ध चैतन्य और अखण्ड आनन्द है वह निर्विकल्पक, निरूपाधि और विश्वातीत है। अन्तर्यामी रूप में वह सारी प्रकृति और समस्त प्राणियों में वास करता है जिस प्रकार सूत्र में मणि पिरोयी रहती है उसी प्रकार उस पर ब्रह्म में यह सारा जगत् अनुस्यूत है।[3]

गीता में कहीं–कहीं ईश्वर के विषय में उपनिषदों की निष्प्रपञ्चवादी विचार भी

---

[1] महा० शा० पर्व– ३४८/५१–५२
[2] सर्वोपनिषदों गावोदोग्धा गोपालनन्दनः। पार्थोवत्स सुधीभोक्ता दुग्धं गीतामृतम् महत्।।
[3] मयिसर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव।– गीता ७/७

मिलते हैं तथापि इसमें उपनिषदों की सप्रपञ्चवादी ब्रह्म की अवधारणा तथा भागवत धर्म के ईश्वरवाद का प्रभाव अधिक दिखाई देता है। वस्तुतः गीता में इन दोनों विचारधाराओं में समन्वय करने का प्रयास किया गया है। गीता में उपनिषदों का परब्रह्म भागवत धर्म के प्रभाव में शरीरधारी (सगुण) ईश्वर बन जाता है। यह शिव, विष्णु आदि नामों से जाना जाता है। गीता एक ऐसी अनन्त शक्ति में विश्वास करती है जो सभी सीमित, आदि वस्तुओं में जीवन का संचार करता है। गीता में ईश्वर को सब का पिता, माता, मित्र एवं सखा भी माना गया है। गीता में ईश्वर के दो रूपों अर्थात् व्यक्त एवं अव्यक्त का वर्णन किया गया है। परमात्मा के अव्यक्त रूप को शुद्ध, निर्गुण, अव्यक्त, अनादि आदि रूपों में वर्णित किया गया है। ये भेद हैं– सगुण, सगुण–निर्गुण तथा निर्गुण। परमात्मा के इस अव्यक्त रूप को प्रतिपादित करने वाली गीता का एक कथन इस प्रकार है, "यह परमात्मा अनादि, निर्गुण, तथा अव्यक्त है, इसलिये शरीर में स्थित रहकर भी न तो कुछ करता है और न लिपायमान होता है" (गीता १३/३१)। गीता में कुछ कथन भी है जो परमात्मा के व्यक्त रूप की ओर संकेत करते हैं– जैसा कि कहा गया है।

'प्रकृति ही मेरा स्वरूप है' (गीता ९/८) तथा 'जीवात्मा ही मेरा सनातन अंश है' (गीता १५/७)। इन दोनों रूपों में व्यक्त और अव्यक्त में अव्यक्त को ही श्रेष्ठ माना गया है तथा इसे ही परमात्मा का सच्चा स्वरूप माना गया है। गीता में ईश्वर की परा और अपरा दो शक्तियों का विवेचन प्राप्त होता है ईश्वर की परा प्रकृति सीमित तथा सशरीर आत्माओं अर्थात् जीवात्माओं की नियामक हैं और साथ ही यह चेतन है। यह उच्चश्रेणी की है। इसके साथ अपरा प्रकृति जड़ एवं अचेतन है तथा निम्न श्रेणी की है। अपरा प्रकृति के आठ भेदों का भी उल्लेख है– पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, मन, बुद्धि, अहंकार अपरा प्रकृति के आठ भेद हैं।

गीता में ईश्वर को विश्व का रचयिता माना गया है ईश्वर अपनी माया से इस जगत की सृष्टि करता है। 'माया' ईश्वर की शक्ति है। ईश्वर ही इस जगत का पालक तथा संहारक दोनों है। गीता के ६/१४/३५ में कहा गया है कि "सम्पूर्ण जगत् का धाता अर्थात् धारण–पोषण करने वाल मैं ही हूं। सबका नाश करने वाला भी मैं ही हूँ।" गीता और उपनिषदों में ईश्वर सम्बन्धी विचार को लेकर कुछ मतभेद अवश्य हैं– क्योंकि जहां उपनिषदों में ब्रह्म के निर्गुण रूप को प्रधानता दी गयी है। वहॉ गीता में सगुण ब्रह्म को श्रेष्ठ ठहराया गया है। ब्रह्म के निर्गुण स्वरूप को भी गीता मानती है। 'सारी विभक्त वस्तुओं में जो अविभक्त होकर वर्तमान है, जिसे न सत् कहा जा सकता है और न ही असत्, जो सूक्ष्म एवं दुर्जेय है, जो ज्योतियों की भी ज्योंति है एवं अन्धकार से परे है जो ज्ञाता और ज्ञेय है"।[1]

दसवें अध्याय में तथा सातवें और नवें अध्यायों के कुछ स्थलों में भगवान की विभूतियों का वर्णन है। संसार के सभी सत्–असत् पदार्थ भगवान् ही हैं।" पृथ्वी में मैं गन्ध हूँ और सूर्य तथा चन्द्रमा में प्रकाश। मैं सब भूतों का जीवन हूँ और तपस्वियों का तप।' (७/६)।

गीता के ग्यारहवें अध्याय में विश्वरूप दिखलाकर 'भगवान ने अर्जुन को अपनी विभूतियों और संसार का अपने ऊपर अवलम्बित होने का प्रत्यक्ष अनुभव करा दिया। साथ ही अर्जुन को यह उपदेश भी दिया कि सब कुछ भगवान के ऊपर छोड़कर उन्हीं के उद्देश्य की पूर्ति के लिये कर्म करना चाहिये। इस प्रकार गीता ने अपने तत्व दर्शन के सिद्धान्त में सांख्यों के प्रतिवाद, उपनिषदों के ब्रह्मवाद, और भागवतों के ईश्वरवाद तीनों का समन्वय कर दिया।

गीता और योग–विचार

---

[1] गीता, १३/१५, १६, १७।

गीता में 'योग' की परिभाषा अनेक प्रकार से की गयी है– "समत्व का ही नाम योग है।" कर्मों में कुशलता को ही 'योग' कहते हैं– "(योगः कर्मसु कौशलम्)" आदि।

गीता में 'योग' शब्द का सामान्य अर्थ अपने को लगाना या 'जोड़ना' है। इस प्रकार कर्मयोग का अर्थ हुआ 'अपने को सामाजिक कर्तव्यों की पूर्ति में लगाना। योग शब्द सम्बन्धवाचक हैं– आत्मा और परमात्मा के सम्बन्ध, जीव और शिव के समन्वय का सिद्धान्त ही योग कहलाता है। जीव और ईश्वर में सम्बन्ध के लिये तीन साधन बताये गये हैं– कर्मयोग, भक्तियोग, और ज्ञानयोग। विभिन्न महात्माओं ने अपने मनीषा के अनुसार गीता में भिन्न–भिन्न अर्थ का प्रतिपादन किया है। श्री शङ्करचार्य निवृत्ति मार्ग के पक्षपाती थे। अतः उन्होंने गीता में ज्ञानयोग का प्रतिपादन किया। भगवद् भक्ति को ही सर्वश्रेष्ठ साधन मानने वाले श्री रामानुजाचार्य ने भक्तिमार्ग को श्रेष्ठ बतलाया।

लोकमान्यतिलक प्रभृति विद्वानों ने कर्मयोग को ही श्रेष्ठ बतलाया। तात्पर्य यहां है कि गीता में इन तीनों का संगम है। पृथक–पृथक वर्णन तो किसी भी शास्त्र में प्राप्त होते हैं किन्तु एक साथ समन्वय तीनों मार्गों का केवल गीता में ही मिलता है यह गीता की महान विशेषता है।

गीता में मोक्ष प्राप्ति के लिये ज्ञान योग को भी एक साधन के रूप में वर्णित किया गया है। गीता की मान्यता है कि बन्धन का कारण अज्ञान है अतः बन्धन से मुक्त होने के लिये ज्ञान अनिवार्य है। गीता में दो प्रकार के ज्ञान का वर्णन है– (१) तार्किक ज्ञान, (२) आध्यात्मिक ज्ञान। इस जगत की वस्तुओं के बाह्य स्वरूप को देखकर ज्ञान प्राप्त करना तार्किक ज्ञान है। इसमें ज्ञाता तथा ज्ञेय के बीच द्वैत बना रहता है। इसको एक अन्य नाम विज्ञान से भी जाना जाता है। दूसरा अर्थात् आध्यात्मिक ज्ञान को केवल 'ज्ञान' कहा गया है– इस आध्यात्मिक ज्ञान द्वारा मनुष्य यह देखने का प्रयास करता है कि सभी वस्तुओं में एक ही सत्य व्याप्त है। इस ज्ञान

की स्थिति में ज्ञाता और ज्ञेय का द्वैत समाप्त हो जाता है। गीता में आध्यात्मिक ज्ञान को ज्यादा महत्व दिया गया है– गीता में कहा गया है– 'जो ज्ञाता है अर्थात् ज्ञानवान है वह हमारे सभी भक्तों में श्रेष्ठ है' इस संसार में ज्ञान के समान पवित्र करने वाला कुछ भी नहीं है।

गीता में भक्ति मार्ग का भी महत्वपूर्ण स्थान है। मोक्ष प्राप्ति के लिये भक्तियोग को अपनाया गया है। यह मार्ग अमीर–गरीब, ऊँचे–नीचे सभी लोगों के लिये सुलभ मार्ग है। इस मार्ग का सम्बन्ध व्यक्ति के संवेगात्मक और भावात्मक पक्ष से होता है।

भक्ति के अन्तर्गत व्यक्ति का ईश्वर के प्रति पूर्ण समर्पण होता है। भक्तिमार्ग को अपनाने के लिये ईश्वर के सगुण रूप की परिकल्पना अनिवार्य है। क्योंकि निर्गुण का ईश्वर भक्ति के लिये उपयुक्त नहीं होता है।

गीता के १८वें अध्याय में भक्तियोग का वर्णन किया गया है भगवान कहते हैं कि 'सभी धर्मों को छोड़कर तू मेरे ही शरण में आओं मैं तुझे सम्पूर्ण पापों से मुक्त कर दूंगा, तू शोक मतकर।'

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं ब्रज।
अहं त्वां सर्व पापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः।।

(गीता– १८/६६)

श्री रामानुजाचार्य भगवत्प्राप्ति रूप लक्ष्य के लिये भक्ति को ही सर्वश्रेष्ठ बतलाते हैं उनके मत में गीता का सारांश ज्ञान दृष्टि से विशिष्टाद्वैत तथा आचारदृष्टि से वासुदेव भक्ति ही है। वे भी कर्मसन्यास के ही समर्थक माने जा सकते हैं क्योंकि कर्म आचरण से चित्तशुद्धि के सम्पन्न हो जाने पर प्रेमपूर्वक वासुदेवभक्ति में तत्पर रहने से सांसारिक कर्म का निष्पादन संभव नहीं होता है।

कर्मयोग का गीता में महत्वपूर्ण स्थान है। लोकमान्य तिलक प्रभृति गीता को कर्मयोग शास्त्र ही मानते हैं, भगवान श्रीकृष्ण ने गीता में अर्जुन को कर्मयोग का ही उपदेश दिया है। अतेव कर्मयोग ही गीता का मुख्य विषय है। अर्जुन को उपदेश देते समय स्वयं भगवान ने कहा है कि यह कर्मयोग का रहस्य बड़ा कठिन है। (गहना कर्मणोगतिः) (४/१७)। और अन्त में भगवान के उपदेश से प्रभावित होकर अर्जुन युद्ध के लिये तैयार हुये। अर्जुन के माध्यम से श्रीकृष्ण ने सभी लोगों को कर्मयोग का पाठ पढ़ाया है। गीता से बहुत पूर्व मीमासकों ने कर्म के महत्व को समझा। मीमांसकों के अनुसार वेद का कर्मकाण्ड ही उपयुक्त है और ज्ञानकाण्ड अनुपयुक्त है। जैमिनी ने स्पष्ट रूप में कहा कि– आम्नाय (वेद) का मुख्य प्रयोजन कर्म का प्रतिपादन है अतः उससे भिन्न ज्ञानप्रतिपादक वाक्य निरर्थक है। 'आम्नायस्य क्रियार्थत्वाद् आनर्थक्यम तदर्थानाम्।' (मीमांसा सूत्र १/२१) गीता में कर्मयोग को ही श्रेष्ठ माना गया है। डा० राधाकृष्णन के अनुसार 'कर्मयोग ही गीता का मुख्य मौलिक उपदेश है।'

गीता यह मानती है कि ईश्वर स्वयं कर्मठ है अतः ईश्वर से मिलने के लिये कर्ममार्ग को अपनाया जा सकता है। कर्म से आशय व्यक्ति के शुभ आचरण से है। शुभआचरण से मुक्ति प्राप्त की जा सकती है। गीता में मनुष्य को कर्म के प्रति सचेत किया गया है किन्तु कर्मों के फल की चिन्ता से पूर्णतया मुक्त रहने का आदेश दिया गया है।

ईश्वर के प्रति सभी कर्मों को अनासक्त हो करना ही कर्मयोग है। अर्थात् आसक्ति रहित कर्म का उपदेश गीता में श्रीकृष्ण ने दिया है। आसक्ति रहित कर्म का अर्थ लोग कई तरह से करते हैं। कुछ लोगों के अनुसार अनासक्त होने का अर्थ है निरभिप्राय हो जाना। यदि यह अर्थ स्वीकार भी कर लिया जाय तो हृदयहीन पशु और दीवारें निष्काम कर्म के सम्पादन के सबसे बढ़िया उदाहरण हैं। किन्तु सत्य तो यह है

कि सच्चे निष्काम कर्मी को न तो पशु बनना है, न जड़, न हृदयहीन। वह तामसिक नहीं बल्कि विशुद्ध सात्विक होता है। उसका हृदय प्रेम और सहानुभूति से इतना ओत–प्रोत होता है कि वह अपने प्रेम से समूचे विश्व को एक सूत्र में बाँध सकता है।

धर्म के विभिन्न मार्गों का समन्वय और निःस्पृह या निष्काम कर्म ये गीता की दो प्रमुख विशेषताएं हैं। कर्मयोगी के लिये स्वकर्म ही स्वधर्म है। भगवान कृष्ण ने कहा है कि सभी वर्णों के कर्म निश्चित हैं। ईश्वर सभी कर्मों से आसक्त नहीं है फिर भी इस प्रकार का कथन (वक्तव्य) करने के बावजूद समाज के वर्ग विभाजन को पवित्र करने के लिये ईश्वर का आह्वान किया गया है। "चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टि गुण कर्म विभागशः।" अपने जन्म के अनुसार मनुष्य को जो कर्तव्य पूरे करने हैं उससे मनुष्य को कभी भागना नहीं चाहिये। भले ही इसके लिये हिंसा अथवा अप्रिय कार्यों का मार्ग अपनाना पड़े। क्षत्रिय का कर्तव्य जहां युद्ध करना निश्चित किया गया है वहां शूद्रों का कर्तव्य ब्राह्मण और क्षत्रियों की सेवा करना था। गीता का अध्ययन करने से पता चलता है कि तत्कालीन चातुर्वर्ण्य व्यवस्था वर्गहीन, आदिम, कबीली समाज से आगे बढ़ा हुआ कदम था। बर्बरता से सभ्यता की ओर समाज को आगे बढ़ाने वाली ऐतिहासिक आकांक्षा को ही गीता ने स्वयं परमात्मा द्वारा प्रणीत बताकर, उसे आदर्शपूर्ण बना दिया। यह शायद उस समय के समाज की महती आवश्यकता भी थी। कारण यह कि आदिम वर्गहीन समाज से वर्गवाले समाज में रूपान्तरण तथा वर्णाश्रम व्यवस्था के सुदृढ़ीकरण को शक्तिशाली प्रतिरोध का सामना करना पड़ रहा था।

निष्काम कर्म ही कर्मयोग है, कर्म सकाम और निष्काम के भेद से दो प्रकार का है। सकाम कर्म जो है इसके करने से बन्धन उत्पन्न होताहै। निष्काम कर्म करने से बन्धन का उच्छेद होता है। सकाम कर्म फलाकांक्षा के वशीभूत होकर करते हैं और उसी के अनुसार शुभ और अशुभ परिणाम को भोगता है। तथा श्वेता० में इस प्रकार के

सकाम कर्म को नाना पोतियों में भ्रमण का कारण माना गया है। निष्काम कर्म करने से बन्धन नहीं होता है। गीता का उपदेश है कि मानव का अधिकार केवल कर्म करने में है उसके फल में नहीं। फल की आकांक्षा से कभ कर्म मत करो। तथा अकर्म में– कर्म के न करने में कभी तुम्हारी इच्छा न होनी चाहिये।

कर्मण्येवाधिकरस्ते मा फलेषु कदाचन्।

मा कर्मफल हेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि।।

(गीता २/४७)

इस श्लोक को कर्मयोग का महामंत्र कहा जाता है। आचार्य बल्देव उपाध्याय ने लिखा है कि इस श्लोक के चारों पदों को हम कर्मयोग की 'चतुःसूत्री' कह सकते हैं।'

गीता यह उपदेश नहीं देती है कि प्राणी को कर्म का त्याग करना चाहिये प्रत्युत् यह उपदेश देती है कि कर्म के फल का त्याग करना चाहिये। कोई भी व्यक्ति बिना कर्म किये एक क्षण भी नहीं रह सकता है। यदि कोई ऐच्छिक कर्म नहीं करता है तो उससे स्वतः ही अनैच्छिक कर्म होते रहते हैं– इसलिये कर्मयोग अकर्मण्यता की शिक्षा नहीं देता है– <u>काम्य कर्मों के त्याग को सन्यास कहते हैं–</u>

काम्यानां कर्मणां न्यासं सन्यासं कवयो विदुः।

सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः।। (गीता १८/२)

ईश्वरीय कर्म ही अनासक्त कर्म है जिस मनुष्य में आसक्ति का अभाव है, वह पुरूष कर्म करता हुआ भी जल में कमल के पत्ते के समान पाप से लिप्त नहीं होता है।

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गा त्यक्तवा करोति यः।

लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा।। (गीता ५/१०)

अनासक्त भाव होकर अपने कर्तव्य को पूरा करने वाला साधक ही सच्चा कर्मयोगी होता है जो परमात्मा को प्राप्त करता है।[1]

गीता (९/२७) में श्री कृष्ण द्वारा स्पष्ट कहा गया है कि– 'जीव जो कुछ करे, खाये, आहुति दे दान करे या तपस्या करे, उन सबको भगवान् को समर्पण कर दे। इसका फल यह होगा कि, कर्मबन्धन शुभाशुभ फलों से मुक्त हो जायेगा। इस प्रकार कर्मयोग की निष्पत्ति होती है।

निष्काम कर्म का आचरण ही स्वकर्म है और यही स्वकर्म स्वधर्म है इस स्वकर्म या स्वधर्म के आचरण से मानव को सिद्धि प्राप्त होती है– 'स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः'। ज्ञानी पुरूष आसक्ति से रहित होकर कार्यों का आचरण कर्तव्यबुद्धि से 'लोकसंग्रह' हेतु करता है (३/२५)। कोई भी अच्छा काम ऐसा नहीं होता कि जिसमें बुराई का कुछ न कुछ सम्पर्क न रहता हो। जैसे अग्नि धूएं से आवृत्त रहती हैं, उसी प्रकार कर्म में कोई न कोई दोष लगा ही रहता है। हमें ऐसे कार्यों को ही करना चाहिये जिसमें बुराई कम हो और अच्छाई ज्यादा हो। अर्जुन ने भीष्म और द्रोण का वध किया। यदि यह वध अर्जुन द्वारा न किया जाता तो दुर्योधन पर विजय प्राप्त नहीं होती। तब अच्छाई पर बुराई की शक्ति जीत जाती और देश पर संकट के काले बादल छा जाते और देश की जनता पर दुर्भाग्य की कालिमा फेल जाती।

इसी से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रत्येक कर्म में कुछ न कुछ दोष अवश्य रहता ही है जो अपना क्षुद्र अहं भाव भुलाकर कार्य करता है उन पर इन दोषों का प्रभाव नहीं पड़ता है क्योंकि वे सम्पूर्ण भलाई के लिये कार्य करते हैं। गीता में भगवान श्रीकृष्ण ने कर्मयोग के इसी रहस्य की शिक्षा दी है।

---

[1] तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचार। असक्तो ह्याचरन् कर्म परमाप्नोति पुरूषः।। (गीता ३/१९)

स्वामी विवेकानन्द अपनी पुस्तक में लिखते हैं कि 'भगवदगीता में हमें इस बात का बारम्बार उपदेश मिलता है कि हमें निरन्तर कर्म करते रहना चाहिये। कर्म स्वभावतः सत्–असत् से मिश्रित होता है। हम ऐसा कोई भी कर्म नहीं कर सकते हैं, जिससे कहीं कुछ भला न हो और ऐसा भी कोई कर्म नहीं है जिससे कहीं न कहीं कुछ हानि न हो। प्रत्येक कर्म अनिवार्य रूप से गुण–दोष से मिश्रित रहता है परन्तु फिर भी शास्त्र हमें सततकर्म करते रहने का ही आदेश देते हैं। सत् और असत् दोनों का अपना अलग–अलग फल होगा। 'सत् कर्मों का फल' सत् होगा और असत् कर्मों का फल असत्। परन्तु सत् और असत् दोनों ही आत्मा के लिये बन्धन स्वरूप हैं। इस सम्बन्ध में गीता का कथन है कि यदि हम अपने कर्मों में आसक्त न हो तो हमारी आत्मा पर किसी प्रकार का बन्धन नहीं पड़ सकता है।"[1]

गीता में कहा गया है कि दुःख का एकमात्र कारण यह है कि हम आसक्त हैं हम बद्ध हो जा रहे हैं। इसलिये गीता में उपदेश है कि निरन्तर कर्म करते रहो, पर आसक्त मत होओ। बन्धन में मत पड़ो। प्रत्येक वस्तु से अपने आपको स्वतंत्र बना लेने की शक्ति स्वयं में संचित रखो। वह वस्तु तुम्हें बहुत ज्यादा प्यारी ही क्यों न लगे तुम्हारा प्राण उसके लिये चाहे जितना ही लालायित क्यों न हो फिर भी इच्छानुसार उसका त्याग करने की अपनी शक्ति मत खो बैठो।[2]

श्रीकृष्ण अर्जुन के मोह का निराकरण करते हुये कहते हैं कि "नैतत्त्वयुपपद्यते" यह तुम्हारे योग्य नहीं है। तुम अविनाशी आत्मा हो, सब दोषों से परे हो। अपनी सत्य प्रकृति को भूलकर और अपने को पापी समझकर, तुमने अपने को वैसा बना लिया है जैसा कि कोई शारीरिक पापों तथा मानसिक शोक से पीड़ित हो– यह तुम्हारे योग्य नहीं है। भगवान इस प्रकार कहते हैं–"क्लैव्यं मा स्म गमः पार्थ" हे पृथा पुत्र!

---

[1] स्वामी विवेका० भगवान श्रीकृष्ण और भगवद्गीता। पृ०–६३

[2] स्वामी विवेकानन्द भगवान श्रीकृष्ण की भगवद्गीता।

नपुंसकता को न प्राप्त हो। दुनियाँ में न तो पाप है, न दुःख है, न रोग है, न शोक है यदि दुनियाँ में कोई ऐसी वस्तु है जिसे पाप कहा जा सकता है तो वह है भय। अपने अन्दर से भय को निवृत्त कर देना चाहिये।

गीता का दार्शनिक सिद्धान्त

गीता का प्रमुख दार्शनकि सिद्धान्त है कि जो असत् है उसका भाव नहीं हो सकता और जो सत् है उसका अभाव नहीं हो सकता है–

'नासतो विद्यते भावः नाभावो विद्यते सतः'। (गीता- २/१६)

सत् से तात्पर्य है कि जो त्रिकाला बाधित सत् हो अर्थात् जो भूत, वर्तमान, भविष्य तीनों कालों में सर्वदा, सदा, नित्य, एक रस और अपरिवर्तनशील रहे। यह लक्षण शुद्ध आत्मतत्व या ब्रह्म का है और वही 'सत्' है। गीता में आत्मतत्व के लिये नित्य अविनाशी, अज, अव्यय, सर्वगत, अचल, सनातन, अव्यक्त, अचिन्त्य आदि शब्द प्रयुक्त किये गये हैं।[1]

आत्मा ही नित्य है उसी आत्मा के अतिरिक्त सभी अन्य नश्वर है। जिस प्रकार कोई व्यक्ति पुराने जीर्ण वस्त्रों को उतारकर दूसरे नये वस्त्रों को पहन लेता है उसी प्रकार आत्मा पुराने शरीर को छोड़कर नये शरीर को धारण करता है यथा– 'नवानि देही २/२२

आत्मा को अमर माना गया है शरीर नाशवान है इस स्थिति में आत्मा की अमरता को सिद्ध करने के लिये पुनर्जन्म की धारणा प्रस्तुत की गयी है। इस आत्मा को शस्त्र काट नहीं सकते हैं और इसको आग जला नहीं सकती है इसको पानी भिगा या गला नहीं सकता और वायु सुखा भी नहीं सकती है।[2]

---

[1] गीता २/२०
[2] गीता

गीता में मोक्ष प्राप्त करने अथवा पुनर्जन्म के चक्र से मुक्त होने के उपायों का भी वर्णन किया गया है। मो क्ष की प्राप्ति तभी हो सकती है जब जीवात्मा अपने इन्द्रियों पर नियंत्रण रखे। गीता में इन्द्रियों को नियंत्रित करने का ही उपदेश है इन्द्रिय निग्रह का नहीं है। मोक्ष के लिये गीता में बताये गये तीनों मार्गों में से कर्म–ज्ञान–भक्ति में से किसी एक मार्ग को अपनायाजा सकता है।

समालोचना

गीता में यह बात ध्यातब्य है कि भगवद्गीता का आदर्शवाद यद्यपि अवैज्ञानिक और एक पक्षीय है तो भी संसार से पलायन पर नहीं वरन् साहस के साथ जीवन की समस्याओ का सामना करने पर आधारित है। उसमें अन्धविश्वास पूर्ण कर्मकाण्डों अथवा मन की निष्क्रियता का समर्थन नहीं किया गया है। श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा है कि कोई भी व्यक्ति इस संसार से विमुख होकर पूर्णता नहीं प्राप्त कर सकता है। कर्म का त्याग नहीं वरन् निष्काम भाव से किया गया कर्म ही सुख प्रदान करता है।

निष्काम कर्म के इस सिद्धान्त को सत्तारूढ़ वर्गों ने तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था को कायम रखने के लिये प्रयुक्त किया जब कि समाज के कुछ प्रगतिशील अंगों ने इसका ही एक नई सामाजिक व्यवस्था की स्थापना के संघर्ष के लिये इस्तेमाल किया।

गीता नास्तिक व्यक्तियों में अनेक दुर्गुणों को गिनाती है जैसे पाखण्ड, घमण्ड, कोध, अदम्य वासना और अज्ञान। कृष्ण इन तामसी गुणों को उन्मूलन करने का और दैवी गुणों को विकसित करने का उपदेश देते हैं। गीता ऐसे वैयक्तिक गुणों को समाज की नैतिक आवश्यकताओं और नीति सम्बन्धी नियमों के साथ सम्बद्ध करती है।

केo दामोदरन ने अपनी पुस्तक 'भारतीय चिन्तन परम्परा'' में लिखा है कि 'गीता ने किसी नये सिद्धान्त अथवा किसी नई दार्शनिक विचार प्रणाली का प्रतिपादन नहीं

किया। यह उस समय प्रचलित विभिन्न विरोधी विचारों को एक ही दार्शनिक प्रतिज्ञापत्र में बांधने की कोशिश थी।'

अतः इसकी रचना में विभिन्न सम–सामयिक विचारों के प्रभाव को देखा जा सकता है। वेदान्त सिद्धान्त के साथ–साथ सांख्य अवधारणाओं कर्म के सिद्धान्त के साथ ही ज्ञान, भक्ति और सन्यास सबको ही कृष्ण ने अर्जुन के संदेहों का निवारण करने के लिये इस्तेमाल किया। परन्तु इसमें सबसे महत्वपूर्ण स्थान सांख्य को दिया गया गीता में भृगु को जहां सबसे बड़ा ऋषि माना गया है वहां कपिल को श्रेष्ठ सिद्ध माना गया है। इस प्रकार गीता, जो स्वामी विवेकानन्द के शब्दों में, 'उपनिषदों से संगृहीत आध्यात्मिक सत्यों के मनोरम पुष्पों का सुन्दर पुष गुच्छ है।'

तृतीय–अध्याय

शंकर पूर्व वेदान्त

खण्ड–(क)

योग वासिष्ठ (संक्षिप्त परिचय)

शङ्कराचार्य का समय ८ वीं सदी माना जाता है, किन्तु शङ्कराचार्य से पूर्व भी वेदान्त के अनेक आचार्य हुये हैं जिनके नामों का स्पष्ट उल्लेख मिलता है किन्तु कृतियाँ उपलब्ध नहीं है।

'वसिष्ठ मुनि' के '<u>योगवाशिष्ठ</u>' नामक दार्शनिक ग्रन्थ से ज्ञात होता है कि शंकराचार्य के पूर्व ही वेदान्त मत का साधारण विवेचन इस ग्रन्थ में हो चुका था। यह इस बात से भी प्रमाणित हो जाता है कि वेदान्त के विद्यारण्य जैसे परवर्ती लेखकों ने अपनी कृतियों में इस ग्रन्थ के श्लोकों को यत्र–तत्र उद्धृत किया है। यथा 'विद्यारण्य' नें अपनें ग्रन्थ 'पञ्चदशी' में जीवन <u>मुक्ति विवेक प्रकरण</u> में इस ग्रन्थ के ३५३ श्लोक उद्धृत किये हैं।

प्राचीन वेदान्त के प्रमुख ग्रन्थों में योगवाशिष्ठ का प्रमुख स्थान है। यद्यपि योगवाशिष्ठ के रचना काल के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है, क्योंकि संस्कृत साहित्य के लेखक एवं मनीषीगण अपने विषय में सर्वथा मौन ही हैं। भारतीय भाषा के लेखक इतने से ही संतुष्ट रहते हैं कि उनकी रचना ही उनको भारतीय सिद्ध करनें के लिये पर्याप्त है।

<u>डा० भीखनलाल आत्रेय</u> इसका रचनाकाल ५०० ई० से लेकर ६५० ई० तक के बीच का समय मानते है। उनके मत के अनुसार यह शंकराचार्य के पूर्व का ग्रन्थ है। डा० एस० एन० दास गुप्ता इसको ७०० से ८०० की कृति स्वीकार करते हैं।

डा० एस० दीवान जी इसका रचनाकाल ८८५ से ६७५ ई० के मध्य का बतलाते हैं। एस० पी० खट्टाचर्य १००० से १२०० ई० तक के बीच का इसका समय मानते हैं और वी० राघवन ११०० से १२५० ई० तक का मानते हैं।

योगवाशिष्ठ के रचनाकाल निर्धारण के मतभेद को निम्न तथ्यों के आधार पर दूर किया जा सकता है–

१. काश्मीर के अभिनन्द गौण नें योगवासिष्ठ का संक्षिप्त संस्करण ६वीं शताब्दी में तैयार किया था जिसका नाम 'लघुयोगवासिष्ठ' है। अतः योगवासिष्ठ की रचना इसके पूर्व अवश्य हुई होगी।

२. प्रो० एस० पी० भट्टाचार्य ने योगवासिष्ठ के ऊपर कश्मीरी शैवमत के त्रिक सम्प्रदाय का प्रभाव परिलक्षित हुआ माना है।

योगवासिष्ठ में मायावाद को स्वीकार नहीं किया गया। आभासवाद, कल्पनावाद, क्रियाशक्तिवाद, स्पन्दवाद तथा काश्मीर शैवमत के ३६ (छत्तीस) तत्त्वों की स्वीकृति आदि त्रिक सम्प्रदाय के मतों को स्वीकार किया है।

३. पी० सी० दीवान ने रचनाकाल के निर्धारण के विषय में कहा है कि सर्वज्ञात्मुनि के संक्षेप शारीरिक के द्वितीय अध्याय के १८२वें श्लोक में योगवाशिष्ठ का संकेत किया गया है। इस संस्करण से यह निश्चित होता है कि इसकी रचना "संक्षेपशारीरिक" के पूर्व हुई होगी।

४. जर्मन विद्वान डा० विन्टर नित्स नें लिखा है कि योगवासिष्ठ के एक सारग्रन्थ की रचना 'गौड़ अभिनन्द' नें ६वीं सदी के मध्य की थी। अतः यह स्पष्ट होता है कि योगवासिष्ठ की रचना इससे पूर्व हो चुकी थी। आचार्य शङ्कर ने इसकी चर्चा नही की है इसलिए योगवासिष्ठ शङ्कराचार्य के किसी समकालीन लेखक ने की होगी" अतएव इसके रचनाकाल के विषय में एस० एन० दास गुप्त का मत अधिक

समीचीन है। इस प्रकार विद्वानों का एक बड़ा वर्ग इसे शङ्कराचार्य के पूर्व का ग्रन्थ मानता हैं। योगवासिष्ठ के काल निर्धारण के विषय में जो कठिनाई है। उसका मुख्य कारण है कि उसके कई संस्करण निकले थे। जो सबसे प्राचीन संस्करण है उसका नाम है 'मोक्षोपाय' है–मोक्षोपायाभिधानेयं संहिता सारसंमिता 'त्रिंशदेद्वेव च सहस्राणि ज्ञाता निर्वाणदायिनी'।। (यो० वाशिष्ठ २।१७।६)

योगवासिष्ठ का रचनाकाल संदिग्ध तो है ही। लेखक भी दोलायमान है। वस्तुतः ज्ञानालोक की कसौटी पर इसको देखा जाय तो यही कहना पड़ेगा कि इसकी विषय वस्तु शाश्वत सनातन है और नवपरिधान काल और व्यक्तिविशेष की देन है।[1] योगवाशिष्ठ को कई अन्य नामो से भी जाना जाता है यथा– वासिष्ठ, वासिष्ठ रामायण, योगवासिष्ठ रामायण, महारामायण, आर्षरामायण, ज्ञानवाशिष्ठ और मोक्षोपाय। इसको माहारामायण कहने का कारण है कि यह रामायण से आकार में यह बहुत बड़ा है। यह सिद्धावस्था का ग्रन्थ है। स्वामी रामतीर्थ ने इसे वेदान्त के सभी ग्रन्थों का शिरोमणि कहा है।

आचार्य वलदेव उपाध्याय ने लिखा है– "इस प्रकार ग्रन्थ के उपक्रम और उपसंहार के द्वारा सिद्ध होता है कि इसके लेखक वाल्मीकि हैं। किन्तु यहां वाल्मीकि रामायणकार वाल्मीकि नहीं हैं। वे कालिदास के पूर्ववर्ती हैं और योगवासिष्ठकार कालिदास के उत्तरवर्ती हैं। फिर चाहे योगवासिष्ठ के जो भी लेखक हों इसको वासिष्ठ का दर्शन माना जाता है। अद्वैत वेदान्त की गुरु परम्परा में वसिष्ठ का नाम ब्रह्मसूत्रकार व्यास के पहले आता है। योगवासिष्ठ के विचारों को उन्हीं पर आरोपित

---

[1] संस्कृत वाड्मय का बृहद् इतिहास (दशमखण्ड), प्रधान संपादक आचार्य वलदेव उपाध्याय– पृ०– ५५७, प्रकाशन– उत्तर–प्रदेश संस्कृत संस्थान लखनऊ।

किया जाता है।"[1] योग वासिष्ठ में ३२ हजार श्लोक हैं जो छः प्रकरणों में बंटा है। ये प्रकरण हैं– १. वैराग्य २. मुमुक्ष व्यवहार ३.उत्पत्ति ४. स्थिति ५. उपशम और ६. निर्वाण

इहवैराग्यमुमुक्षुव्यवहारोत्पत्तिकास्थितयः।

उपशमनिर्वाणाख्ये वासिष्ठेषट्प्रकरणानि।।[2] (लघुयोगवासिष्ठ– ६।१८।८४)

योगवासिष्ठ की रचना शैली पुराणों की तरह मिलती जुलती है, किन्त पुराणों के पञ्चलक्षण नहीं मिलते हैं। वैसे उसमें ज्ञानमार्ग और समाधि अवस्था के वर्णन आख्यानों द्वारा श्लोकों में किये गये हैं। डा० भीखन लाल आत्रेय ने अपने 'ग्रन्थ फिलासफी आफ योगवाशिष्ठ' से अपने वचनो को उधार लिया है। इस प्रकार सिद्ध होता है कि योगवासिष्ठ एक वेदान्त ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ के कल्पनावाद और अजातिवाद शब्द गौणपाद कारिका से साम्य रखते हैं। किन्तु मुख्य अन्तर है कि यह ग्रन्थ किसी एक सम्प्रदाय विशेष की तरफ संकेत नहीं करता है। इस प्रकार यह ग्रन्थ सातवीं शताब्दी में लिखा गया होगा ऐसा विद्वानों का मत है।

टीकाएँ– योगवासिष्ठ पर कई टीकाएँ हैं जिनमें निम्नलिखित मुख्य हैं।

१. गंगाधरेन्द्रसरस्वती के शिष्य आनन्दबोधेन्द्र सरस्वतीकृत 'तात्पर्यप्रकाश' (१८५ ई० में लेखक ने इसे लिखा था)

२. नरहरि के पुत्र अइयारण्यकृत 'वासिष्ठरामायण चन्द्रिका'।

३. माधव सरस्वती कृत 'पदचन्द्रिका'।

४. रामदेवकृत 'योगवासिष्ठ व्याख्या'।

६. 'योगवासिष्ठतात्पर्यसंग्रह' (अज्ञातकर्त्तृक)

इसके अतिरिक्त अन्य ग्रन्थ भी प्रसिद्ध है यथा– बृहद्योगवासिष्ठ, लघुज्ञानवासिष्ठ, योगवासिष्ठ, गौड़कृतअभिनन्दकृत लघुयोगवासिष्ठ (६वीं शदी)

---

[1] योगवासिष्ठ – डा० महाप्रभुलाल गोस्वमी– पृ० ११

[2] आभिनन्दगौणकृत लघुयोगवासिष्ठ, प्रेस निर्णयसागर बम्बई १९३७।

योगवासिष्ठसार, रामानन्दतीर्थकृत वासिष्ठसार, आत्मसुखकृत चन्द्रिका, मुमुक्षुदेवकृत संसारतरिणी आदि।

दार्शनिक सिद्धान्त

१. परमसत् का स्वरूप

योगवासिष्ठ सत् को एक और अद्वितीय मानता है। सभी की आत्मा होने के कारण वह सर्वात्मा सर्वव्यापी सत् है। वह स्वतः स्थित है। अर्थात् वह निरपेक्ष सत् है सभी उसका अनुभव करते हैं–

दिक्कालाद्यनवच्छिन्नः परमात्मास्ति केवलः।

सर्वात्मत्वात्स सर्वात्मा सर्वानुभवतः स्वतः।।(योगवसिष्ठ ३।८।८१)

आत्मा अवाङ्गमनसगोचर है। इसके विभिन्न नाम है, यथा– आत्मा, पुरुष, ब्रह्म, विज्ञान, शून्य आदि सब कल्पित हैं। अर्थात् वह अनाम है। योगवासिष्ठ में परमब्रह्म को जगत की उत्त्पत्ति और लय का कारण बतलाया गया है।

यतः सर्वाणि भूतानि प्रतिभान्ति स्थितानि च।

यत्रैवोपशमं यान्ति तस्मै सत्यात्मने नमः।। (योग वासिष्ठ १/१/१)

परमशुभ या निःश्रेयस होने के कारण ब्रह्मको शिव कहा जाता है। चित् ही शिव है। उसकी शक्ति ही स्पन्द है। वह सत्, चित्, आनन्द स्वरूप है। उसका ज्ञान केवल अनुभव जन्य है, ब्रह्म का वर्णन संभव नही है, वह न चेतन है और न जड है। उसे न तो सत् कहा जा सकता है और न जड़ है। उसे न तो सत् कहा जा सकता है और न असत् 'न चेतनो न च जडो न चैवासन्नसन्मयः'। एन० के० देवराज ने अपनें ग्रन्थ भारतीय दर्शन में आत्मा से सम्बन्धित योगवासिष्ठ का उदाहरण दिया है कि– "आत्मा ही आत्मा का प्रिय मित्र है और आत्मा ही आत्मा का वैरी है। यदि आत्मा ही आत्मा की

रक्षा करता तो दूसरा कोई उपाय नहीं है।[1] अतः आत्मज्ञान की प्राप्ति के लिए परमपुरुषार्थ करना चाहिये।

आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः।

आत्मात्मना न चेतत्रातस्तदुपायोऽस्ति नेतरः।।

योगवासिष्ठ में परमसत् से सम्बन्धित श्लोकों के विषय में कुछ विद्वानों का कथन है कि योगवासिष्ठ वेदान्त प्रच्छन्न या प्रकट बौद्धमत है, क्योंकि उसने ब्रह्म, शून्य और विज्ञान का अभेद किया है। परन्तु यह योगवासिष्ठ की उक्ति तथा युक्ति का अनर्थ है। उसनें केवल एक समन्वय दर्शन दिया है जिसमें बौद्ध ही नहीं अपितु सांख्य, न्याय, मीमांसा आदि का भी समन्वय है। यद्यपि योगवासिष्ठकार पर बौद्ध मत का प्रभाव है तथापि वह प्रच्छन्न बौद्ध नहीं है। वह शुद्ध निर्विशेष ब्रह्मवादी है।

जगत

योगवसिष्ठ में जगत को केवल कल्पना मात्र कहा जाता है। जगत् के समस्त भौतिक पदार्थ शशश्रृंग के समान असत् है। इसका वाह्य अस्तित्व न होकर द्रष्टा के भीतर भी होता है। जाग्रत और स्वप्नावस्था में कोई अन्तर नहीं है, बल्कि तादात्म्य है, जिस प्रकार स्वप्न का अनुभव होता है। उसी प्रकार जगत का भी होता है।[२] जगत के समस्त दृश्य जड़ पदार्थ स्वयं द्रष्टा भी हैं। जीव ही समस्त पदार्थों का अनुभव करता है। क्योंकि संसार के सभी पदार्थ ब्रह्ममय है। जगत और द्रष्टा एक एक दूसरे से भिन्न नहीं नहीं है। क्योंकि नियम है कि एक दूसरे से अत्यन्त भिन्न वस्तुओं में सम्बन्ध स्थापित नहीं किया जा सकता है सम्पूर्ण न आदि में था न अन्त में रहेगा। अतः वह वर्तमान में भी असत् है। वस्तुतः वह मनोविलासमात्र है– 'मनोदृश्यमिदं जगत'। जगत

---

[1] एन० के० देवराज भा० दर्शन पृ० ४६३ उ० प्र० संस्थान लखनऊ।

[2] यथा स्वप्नस्तथा चित्त जगत्सदसदात्मकम्। न सन्नासन्न सजातश्चेतसो जगतो भ्रम ।। योगवासिष्ठ ३।६५–५।६

स्वप्न या मृगतृष्णा है– '<u>मनसा कल्पितं सर्व देहादिभुवनत्रयम्</u>' (योगवसिष्ठ ४।४५।५) परमार्थतः एक मात्र अद्वितीय ब्रह्म ही सत् है।

जीव

जो जीवित और चेतन युक्त है वह जीव और अनादि और अनन्त है। इस जीव की स्वाभाविक उत्तपत्ति ब्रह्म से हुई है। जीवों की संख्या असंख्य है। अनाख्य सत् से चित् का विभ्रम पैदा होता है, चित् से जीवत्त्व का, जीवत्त्व से अहंकार का, अहंकार से चित्त का, चित्त से इन्द्रियादि का और इन्द्रियादि से देहादि का विभ्रम पैदा होता है। सत् स्वरूप आत्मा के अतिरिक्त और सभी कुछ भ्रम है, मिथ्या है। जीव का सार आत्मा का स्पन्द है। स्पन्द के कारण ही जीवत्त्व की प्रतीति होती है। जीव को ही मन, चित्त या बुद्धि कहते है।

"जीवित्युच्यते लोके मन इत्यपि कथ्यते।
चित्तमित्युच्यते सैव बुद्धिरित्युच्यते तथा"।। योगवासिष्ठ ३।६६।३४

जीव सात प्रकार के होते हैं–

१. **स्वप्न जाग्रत–** जो स्वप्न देखते हैं उनको यह जगत स्वप्न लगता है। वह स्वयं अपनें को स्वप्न–पुरुष समझते हैं।

२. **संकल्प जाग्रत–** जो अनिद्रालु तथा संकल्पपरायण हैं वे संकल्प जाग्रत जीव हैं।

३. **केवल जाग्रत जीव–** कल्पान्तर के जाग्रत संस्कार से जिन जीवों को स्वप्न नहीं दीखता वे केवल जाग्रत हैं। वे स्वप्न हेतु को विनष्ट किये हुये हैं।

४. **चिर जाग्रत–** जो जीव जन्म जन्मान्तरों से उत्तरोत्तर जाग्रत अवस्था को प्राप्त कर रहे हैं वह चिर जाग्रत है।

५. **घनजाग्रत–** घन जाग्रत वे जीव होते हैं जो जाग्रत अवस्था में अपनें दुष्कर्म से जड़भूत हो गये हैं। ये पाँचो प्रकार के जीव बद्धजीव हैं।

६. **जाग्रत स्वप्न–** ये वो जीव हैं जो बन्धन से मुक्त हैं इस प्रकार के जीवों को शास्त्रज्ञान से अथवा सत्संग से ज्ञात हो जाता है कि यह जगत् स्वप्न है। ये परमपद या परमार्थ प्राप्ति में लीन रहते हैं।

७. **क्षीण जाग्रत–** ये वो जीव होते हैं जो तुरीयावस्था को प्राप्त कर लेते हैं उन्हें आत्मबोध ये ब्रह्मज्ञान प्राप्त हो जाता है, वे पूर्णतया जीवनमुक्त हैं।

इस प्रकार जाग्रत स्वप्न स्वप्न और क्षीण, जाग्रत से दो प्रकार के जीवन मुक्ति की अवस्था के जीव हैं। योगवासिष्ठ के अध्ययन से स्पष्ट होता है कि 'दृष्टि सृष्टिवाद' ही मुख्य सिद्धान्त है। योगवासिष्ठ के कल्पनावाद और बौद्धविज्ञानवाद में बहुत कुछ साम्य परिलक्षित होता है। इस प्रकार योगवासिष्ठ का जगत एवं मुक्ति सम्बन्धी सिद्धान्त भी अद्वैतवाद का पोषक है।

बन्धन और मोक्ष

जगत् के पदार्थों के प्रति वासना के प्रबल होने को बन्धन कहा गया है। इस प्रकार वासना ही बन्धन का मुख्य कारण है। जब जीव अपनें वास्तविक स्वरूप को भूल जाता है तब वह बन्धन में पड़ जाता है। इस बन्धन का कारण अज्ञान है। दृश्य सद्भाव ही बन्धन है। दृश्य का अभाव मोक्ष है। बन्धन और मोक्ष दोनों का कारण मन है। जब मन इन्द्रियादि विषयों का ताना–बाना तानता है तब वह बन्ध है। पुनः जब वह विचार पूर्वक सामान्य का अनुसन्धान करता है तो मोक्ष है। 'मोक्ष एव मनुष्याणां कारणं बन्ध मोक्षयोः'। यह वर्तमान जीवन में भी संभव है। क्योंकि यह ज्ञान की अवस्था है। यह जीवनमुक्ति की अवस्था में होता है।

योगवासिष्ठ में सदेह और विदेह नाम से दो मुक्तियों का वर्णन है सदेह मुक्ति को जीवन मुक्ति कहा गया है। शरीर त्यागने पर प्राप्त होने वाली दशा को विदेह

मुक्ति कहते हैं।[1] ज्ञान को मोक्ष प्राप्ति का मुख्य उपाय कहा गया है। ज्ञान ही वह साधन है जिसके द्वारा परम सिद्धि की प्राप्ति होती है। आत्मा को ही मोक्ष–प्राप्ति का साधन बतलाया गया है।

योगवासिष्ठ में अद्वैतवाद और पातञ्जलयोग का समन्वय परिलक्षित होता है। उसमें योग वेदान्त है। योग और ज्ञान ये दो चित्त नाश के उपाय या क्रम हैं।

'द्वौ क्रमौ चित्तनाशस्य योगो ज्ञानं च राघवः'।

योगस्तदवृत्ति विरोधो हि ज्ञानं सम्यग्वेक्षणम्।।[2]

योगवासिष्ठ और शाङ्कर अद्वैतवेदान्त

आरम्भ में शाङ्कर अद्वैत वेदान्त का विकास योगवासिष्ठ से पूर्णतया निरपेक्ष था। प्रारम्भिक अद्वैत वेदान्ती योगवासिष्ठ को अपने सम्प्रदाय का ग्रन्थ मानने से इनकार करते थे। किन्तु विद्यारण्य स्वामी के समय से लेकर आज तक योगवासिष्ठ को शाङ्कर अद्वैत वेदान्ती स्वीकार करने लगे हैं। इतना निश्चित रूप से स्पष्ट है कि ज्ञान की सप्तभूमिका के सिद्धान्त को सभी अद्वैतवेदान्ती मानते हैं।

वस्तुतः योगवासिष्ठ और शङ्कर अद्वैत वेदान्त में कुछ भिन्नताएँ हैं। समानताओं का विन्दु जैसे– १ निर्गुण ब्रह्मवाद २. ब्रह्मात्मैक्यवाद ३. जगन्मिथ्यात्ववाद ४. जीवनमुक्तिवाद ४. दृष्टिसृष्टिवाद और ६. अजातवाद पर योगवासिष्ठ तथा शङ्कर अद्वैतवेदान्त में साम्य है किन्तु शाङ्कर अद्वैतवेदान्त जहां व्यवहारिक सत् और प्रातिभासिक सत् में भेद करता है वहां योगवासिष्ठ का मत इससे अलग है।

शङ्कराचार्य माया को विषयगत और काल्पनिक नहीं मानते है किन्तु इससे अलग योगवासिष्ठकार माया को काल्पनिक और विषयिगत् मानते हैं।

---

[1] द्विविधा मुक्तता लोके संभवत्यनधाकृते। संदेहैका विदेहान्या विभागोऽयंतयो श्रृणु।। यो० वासि० ३/४२/११

[2] आचार्य बलदेव उपाध्याय– संस्कृत वाङ्मय का वृहद इतिहास दशमखण्ड वेदान्त– पृ० ५६७ उ० प्र० संस्कृत संस्थान लखनऊ।

किन्तु यह भी सत्य है कि अद्वैतवाद को ही सर्वश्रेष्ठ सिद्धान्त और सर्वदर्शन समन्वय का सूत्र बताया गया है। इस प्रकार सात–आठ शताब्दियों से योगवासिष्ठ–वेदान्त शाङ्कर अद्वैतवेदान्त का एकदेशी मत या एक प्रस्थान बन गया है। कुछ भी हो, योगवासिष्ठ–वेदान्त शाङ्कर अद्वैत–वेदान्त से जितना सन्निकट है उतना किसी भी अन्य दर्शन के सन्निकट नहीं है।

इस प्रकार योगवासिष्ठ एक अति महत्त्वपूर्ण वेदांत का ग्रन्थ है। इसका महत्त्व इससे भी प्रतीत होता है कि इसका मध्यकाल के शासकों (अकबर, जहाँगीर, दाराशिकोह) के संरक्षण में कई फारसी अनुवाद किये गये थे। इसका ज्ञान तात्पर्य प्रकाश व्याख्या सहित योगवासिष्ठ की भूमिका से ज्ञात होता है। २० वीं शतब्दी में भीखनलाल आत्रेय ने योगवासिष्ठ पर कई अन्य ग्रन्थ लिखे और उन्होनें योगवासिष्ठ की तुलना पाश्चात्य प्रत्यय वाद से की है। महात्मागांधी योगवासिष्ठ के मुमुक्षु–व्यवहार–प्रकरण सर्वाधिक से प्रभावित थे।

खण्ड–ख

शङ्कर पूर्व अद्वैतवेदान्त का अव्यवस्थित इतिहास

अद्वैत वेदान्त के कुछ प्राचीन आचार्यों का नामाल्लेख ब्रह्मसूत्र में यत्र–तत्र उद्धृत मिलता है। इसे आर्ष–वेदन्त कहते हैं। इन आचार्यों की कोई भी कृतियां उपलब्ध नहीं हैं इसलिए इनका अव्यवस्थित इतिहास प्राप्त होता है। भगवान सूत्रकार नें अपनें ब्रह्मसूत्र में आचार्यों का उल्लेख किया है उनके नाम इस प्रकार हैं जो निम्नलिखित है–

१. आत्रेय   २. आश्मरथ्य   ३– औडुलोमि

४. कार्ष्णाजिनि   ५. काशकृत्स्नः   ६. जैमिनि   ७– वादरि

सूत्रकार ने आर्ष परम्परा के इन आचार्यो को जिन प्रसंगो में प्रस्तुत किये हैं वहाँ अपनें विचारों का संकेत स्वयं 'वादरायण' नाम से किया है। कुछ स्थल पर तो पूर्वप्राचीन आचार्यों के विचार से सहमति की भवाना से अपना कोई पृथक मत नहीं दिया है। ब्रह्मसूत्र में ऐसे नौ स्थान है जहां वादरायण ने अपना नामोल्लेख किया है। उपरोक्त आचार्यों में जैमिनि, ब्रह्मसूत्रकार का समकालिक आचार्य है और यह बात दोनों आचार्यों की रचनाओं से स्पष्ट होता है। जैमिनि ने अपनें मीमांसा सूत्र नामक ग्रन्थ में बादरायण का उल्लेख किया है। और वादरायण ने अपने ब्रह्मसूत्र में जैमिनि का नाम उल्लिखित किया है।

मीमांसा ग्रन्थ के पांचवे सूत्र में वादरायण नाम से उस अर्थ को निर्दिष्ट किया है जो वेदान्त के प्रारम्भिक तीसरे सूत्र में प्रतिपादित है। इसी प्रकार वेदान्त ३।३।४६ के सूत्र में मीमांसा सूत्र (३/३/४) के प्रतिपादित अर्थ का 'अतिदेश 'किया गया ज्ञात होता है। परम्परा के अनुसार जैमिनि को कृष्णद्वैपायन बेदव्यास का शिष्य कहा गया है, जो मीमांसा ग्रन्थ के प्रणेता थे। वेदव्यास का अपरनाम बादरायण था जो महाभारत युद्ध के पूर्वापरकाल में विद्यमान रहा।

अचार्य बलदेव उपाध्याय ने लिखा है– शङ्कर के पूर्व वेदान्त की तीन परंपरायें दृष्टिगत होती है एक अद्वैतवेदान्त की परंपरा है, दूसरी भेदाभेदवाद की परंपरा है। तीसरी भेदवाद की परम्परा है। अद्वैतवाद की परम्परा का उल्लेख वेदान्तेत्तर दर्शनों के इतिहास में मिलता है। जैन दार्शनिक समन्तभद्र जो शङ्कर के पूर्ववर्ती को अद्वैतावाद का उल्लेख 'आप्त मीमांसा' में करते हैं–

"अद्वैतकान्त पक्ष दृष्टो भेदो विरुध्यते।
कारकाणां क्रिययोश्च नैकं स्वस्मात प्रजायते"।।

जैन–दर्शन के अलावा बौद्ध दार्शनिक शान्तरक्षित नें तत्त्व–संग्रह में प्राचीन अद्वैत वेदान्त का वर्णन किया है। उनके टीकाकरणमलशील "अद्वैतदर्शनावलम्बिनश्च औपनिषदिकाः" कहकर अद्वैतवेदान्त का उल्लेख किया है।

१. आत्रेय

आर्ष वेदान्त की आचार्य परम्परा में प्रथम नाम आचार्य आत्रेय का आता है। ब्रह्मसूत्र में आत्रेय का नाम केवल एक स्थल पर उल्लिखित है– "स्वामिनः फलश्रुतेरित्यात्रेयः" (ब्रह्म सूत्र ३।४।४४) अर्थात आचार्य आत्रेय का मत है कि यजमान को ही यज्ञ की अङ्ग भूत उपासना का फल प्राप्त होता है, ऋत्विक् को नहीं। इस प्रकार सारी उपासनाएं यजमान को करनी चाहिये न कि पुरोहित को।[1] श्रुति भी यजमान को फल का प्राप्त होना बताती है।

महाभारत में (१३।१३७।३) में आत्रेय का नाम यत्र–तत्र उल्लिखित मिलता है जिसने अपने शिष्यों को निर्गुण ब्रह्म का उपदेश दिया था। किन्तु यह निश्चित रूप से कहना कठिन है कि महाभारत के आत्रेय और ब्रह्मसूत्र के आत्रेय भिन्न हैंया अभिन्न। जैमिनि की पूर्व मीमांसा में (जै०सू० ४।३।१८, ६।१।२६) भी आत्रेय का नाम उल्लिखित है।[2]

२. आश्मरथ्य

वेदान्त दर्शन के दो सूत्रों में आश्मरथ्य का उल्लेख है– १. अभिव्यक्तेरित्याश्मरथ्य (ब्र० सू० १।२।२९) अभिव्यक्ति के कारण यह आश्मरथ्य नाम का आचार्य कहता है कि "हृदय प्रदेश में वैश्वानर ब्रह्म अभिव्यक्त प्रकाशित होता है, इस कारण उसे "प्रादेश मात्र" कहा। यह आश्मरथ्य आचार्य का विचार है।"[3]

---

[1] तस्मात् स्वमिन एव फलवत्सूपासनेषुकतृत्त्वमित्यात्रेयः (ब्र० सू० शा० भा० ३।४।४४)

[2] (क) फलमात्रेयो निर्देशादश्रुतौ ह्यन्यनुमानं स्यात्। (जै० सू० ४।५।१८)

(ख) निर्देशदात्रयाणां स्यादग्न्याधेशे सम्बन्धः वाह्यश्रुतेरित्यात्रेयः (जै० सू० ६।१।२६)

[3] ब्र० सू०। पृ० १८१

आश्मरथ्य का इस विषय में विचार है कि अनन्त पर ब्रह्म का दर्शन एवं साक्षत्कार अल्पज्ञ एकदेशी जीवात्मा के लिये होना संभव नही केवल हृदय–प्रदेश स्थित परब्रह्म का साक्षात्कार आसक्त को हो पाता है इसी आधार पर अनन्त ब्रह्म को प्रादेशमात्र कह दिया गया है। उपासक आत्मा को परब्रह्म की अभिव्यक्ति आत्मा के निवास हृदयदेश (मस्तिष्क–गत) में संभव है। यह कारण भी ब्रह्म को प्रादेश–मात्र कहे जाने का हो सकता है आश्मरथ्य का मत है कि अनन्त–ब्रह्म की अभिव्यक्ति उपासक आत्मा को एक सीमित प्रदेश (हृदयदेशमात्र) में होती है। सम्पर्णतः उसकी उपलब्धि नहीं की जा सकती यही कारण ब्रह्म का प्रादेशमात्र कहे जाने का है। इस विचार को सूत्रकार ने अपेक्षणीय नहीं माना है।

दूसरे सूत्र में "प्रातिज्ञासिद्धलिङ्गेमाश्मरथ्यम" (ब्र० सू० १।४।२०) में आश्मरथ्य का उल्लेख मिलता है। वहां एतरेय (१।१।२) तथा बृहदारण्यक (४।५।१–६) के सन्दर्भो में पठित 'आत्मा' पद की ब्रह्म वाचकता का विवेचन है।

आश्मरथ्य के मतानुसार विज्ञानात्मा तथा परमात्मा में परस्पर भेदा–भेद सम्बन्ध है इसलिए इन्हें द्वैताद्वैतवादी भी कहते हैं। आश्मरथ्य[1] का भेदाभेदवाद परवर्तीकाल में यादवप्रकाश द्वारा परिपुष्ट हुआ था।

श्री मुरलीधर पाण्डेय ने श्री शङ्करात प्रागद्वैतवाद ग्रन्थ में लिखा है कि "अयं भेदाभेदवादी अथवा द्वैताद्वैतवद्यासीत्। अयं कथयति यत् मुक्तेः पूर्व ब्रह्मजीवयोभेदो भवति। मुक्तेरनन्तरमुभयोरभेदो भवति। आत्मनि विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति', इतिश्रुतिरपि उक्तेर्थ एव तात्पर्य बोधयति।"

[1] डा० कविराज गोपीनाथ, 'अच्युत' पृ० ५ (विदान्तशांकर भाष्य के हिन्दी अनुवाद की भूमिका।)
३. श्री मुरलीधर पाण्डेय –श्री शंकरात प्रागद्वैतवाद पृ०–८५

प्रतिज्ञासिद्धेः—(१।४।२०) सूत्र की व्याख्या में आचार्य ने 'आत्मनि विज्ञायते सर्वमिदं विज्ञातं भवति' को प्रतिज्ञा वाक्य बताया है। परन्तु बृहदारण्यक् के मैत्रेयी—याज्ञवल्कय संवाद प्रकरण से ज्ञात नहीं होता कि यह प्रतिज्ञावाक्य है।

आचार्य का यह कथन है कि आश्मरथ्य वास्तविक रूप से तो जीव का परब्रह्म से अभेद स्वीकार करता है परकदाचित् वह जीव—ब्रह्म में कुछ कार्यकारण भाव स्वीकार करता हुआ भी प्रतीत होता है।

आचार्य आश्मरथ्य की कोई रचना प्राप्त नहीं होती है ऐसी स्थिति में उसके अध्यात्म विचार की स्पष्ट परीक्षा किया जाना संभव नहीं है। मध्यकालिक आचार्यों ने उसके मत के विषय में विभिन्न विचार प्रस्तुत किये हैं। वैष्णव सम्प्रदाय के आचार्यों ने आश्मरथ्य को भेदाभेदवादी माना है। यद्यपि यह वाद अपने रूप में पूर्ण यथार्थ नहीं है। किन्हीं दो वस्तुओं में भेद और अभेद दोनों को वास्तविक रूप नही माना जा सकता, निश्चत रूप से उनमें एक वास्तविक और दूसरा औपचारिक अथवा आपेक्षिक रहता है। इसमें कौन वास्तविक है, कौन औपचारिक है यह विवाद कभी न समाप्त होने वाला विवाद है।

शङ्कराचार्य ने आश्मरथ्य को उल्लेख करते हुए लिखा है— आश्मरथ्यस्य तु यद्यपि जीवस्य परस्मादनन्यत्वमभिप्रेतं तथापि प्रतिज्ञासिद्धेरिति सापेक्षत्वाभिधानात् कार्यकारण भाव क्रियानप्यभिप्रेत इति गम्यते[1] (ब्र० सू० शां० भा० १।४।२२)।

जैमिनि सूत्र में आश्मरथ्य— मीमांसा दर्शन के एक सूत्र (६।५।१६) में आश्मरथ्य का उल्लेख है।[2] जो कर्मकाण्ड से सम्बन्धित है। इससे स्पष्ट होता है। जो कर्मकाण्ड से सम्बन्धित है। इससे स्पष्ट होता है कि आचार्य आश्मरथ्य ज्ञान और कर्म दोनों काण्डों

---

[1] बृ० सू० शा० भा० १।४।२२

[2] अनारुप्तेऽभ्युदिते प्राकृतीभ्यो निर्वषेदित्याश्मरथ्यः तण्डुलभूतेष्वपनयात् (जै० सू० ६।५।१६)

पर विशेषाधिकार रहता था जिसके मतों का विवेचन अन्तरवर्ती आचार्यों के द्वारा हुआ है।

३. औडुलोमि

ब्रह्म सूत्र में आचार्य और औडुलोमि का उल्लेख तीन स्थलों पर किया गया है। (ब्रह्म सूत्र १।४।२१, ३।४।४५, ४।४।६) पर हुआ है। आचार्य औडुलोमि का मत है कि भेद तथा अभेद अवस्थान्तर के अनुसार है। औडुलोमि मानते हैं कि संसार दशा में जीव और ब्रह्म में भेद है, किन्तु मुक्ति दशा में अभेद है। प्रथम स्थल पर आचार्य का मत है कि, उपनिषद के उक्त प्रसंगो (ऐतरेय बृहदारण्यक) ४।५।६) में 'आत्मा' पद परब्रह्म परमात्मा के अर्थ में मानना चहिए कि ब्रह्म ज्ञान होने पर जीवात्मा देहपात के अनन्तर ब्रह्म में आश्रित रहकर केवल ब्रह्मानन्द का अनुभव करता है। ऐसी अवस्था में जीवात्मा को ब्रह्म सदृश मान लिया जाता है। आनन्दानुभूति ही सादृश्य है। द्वितीय स्थल पर प्रसंग है कि उपासनाओ में अंग भूत कर्मों का अनुष्ठान उपासक करे अथवा ऋत्विक? औडुलोमि का मत है कि ऐस कर्मों का अनुष्ठान ऋत्विक द्वारा पारिश्रमिक देकर उस कर्मानुष्ठान के लिये ऋत्विक् का क्रय कर लिया गया है। ऐसी अवस्था में ऋत्विक द्वारा किये गये कर्मानुष्ठान का फल यजमान को प्राप्त होता है। ऋत्विक अपनें श्रम का फल परिश्रमिक शुल्क रूप में ले चुका होता है। कर्मानुष्ठान का फल अनुष्ठाता को मिलना चाहिए। इस शास्त्रीय व्यवस्था में पूर्वोक्त व्यवहार से कोई विरोध नहीं होता क्योंकि कर्म का अनुष्ठाता उपासक यजमान ही है ,ऋत्विक आदि तो साधन मात्र है।

तृतीय स्थल (४।४।६) में प्रसंग है कि मोक्षावस्था जीवात्मा चेतन मात्र स्वरूप से अवस्थित होता है। इस प्रकार आचार्य मोक्ष में जीवात्मा की अतिरिक्त सत्ता को स्वीकार करते हैं। इसके अनुसार उसे भेदवादी मानना युक्त है। आचार्य उदयवीर शास्त्री ने भामतीकार वाचस्पति मिश्र द्वारा शाङ्कर भाष्य पर टीका करते हुए आचार्य

औडुलोमि का मत प्रकट किया है। "क्योंकि जीव परमात्मा से अत्यन्त भिन्न होता हुआ देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि के सम्पर्क से सदा (संसारीदशा में) कलुष रहता है, ज्ञान–ध्यान आदि के अनुष्ठान से उसका वह कलुष जब दूर हो जाता है (अर्थात उसे ब्रह्मज्ञान हो जाता है) तब देह–इन्द्रिय आदि संघात से उत्क्रमण करते हुए आत्मा का परमात्मा के साथ ऐक्य उत्पन्न होता है। यह अभेध कथन का आधार है। इसका तात्पर्य है कि आगे आने वाले अभेद का आश्रय लेकर भेदकाल में भी अभेध कह दिया गया है। पांच ने कहा है मोक्ष से पहले जीवात्मा–परमात्मा का भेद ही रहता है मुक्त होने पर तो भेद नही, क्योकि तब भेद का हेतु नही रहता है।"[१] भामतीकार के मतानुसार औडुलोमि–मत के साथ पांचरार्त्रिक आचार्यो के मतो में ज्यादा साम्य है।[2]

४. कार्ष्णाजिनिः

आर्ष परम्परा के एक मुख्य आचार्य कार्ष्णाजिनिः भी थे। इनका भी कोई ग्रन्थ प्राप्त नहीं होता है। ब्रह्म सूत्र में एक स्थल पर आचार्य कार्ष्णाजिनिः का उल्लेख हुआ है। 'चरणादिति चेन्नोपलक्षणार्थेतिकार्ष्णाजिनिः'(ब्रह्म सूत्र ३/१/६) ब्रह्म। यह छान्दोग्य उपनिषद के ५।१०।७ से सम्बन्धित है।[3] श्री मुरलीधर पाण्डेय ने लिखा है कि– 'अस्य मतम् अद्वैतवादोद्वैतवादोवेति स्पष्टं न प्रतीयते। केवलमात्मनः पुनर्जन्म विषयेऽस्यं कथयति यद् 'अनुशयः' एव पुर्नजन्मकरणं न तु शीलमाचारो वा अनुशयो नाम अभुक्तं कर्म[4] 'अनुशय' उन संस्कारों एवं धर्म–अधर्म (अदृष्ट) का नाम है जिन कर्मों का फल अभी भोगा नहीं गया है तथा वे संस्कार आदि रूप से आत्मा में अवस्थित है। इस विषय में कार्ष्णाजिनि का विचार है उपनिषद का 'चरण' पद 'अनुशय' का का उपलक्षण द्योतकहै,

---

१ श्री उदय वीर शास्त्री। वेदान्त दर्शन का इतिहास, पृ०१४२ प्रकाशन गोविन्दराम हासानन्द दिल्ली– ६।

2 'एतदुक्तं भवति भविष्यन्तमभेदमुपादाय भेदकालेऽप्य भेद· उक्त। यथाहुः पाञ्चरात्रिका आमुक्तेर्भेद एवस्याज्जीवस्य चपरस्य च। मुक्तस्य तु न भेदोऽस्ति भेद हेतोरभावतः। "ब्र०सू०१/४/२१ शांकर भाष्य पर भामती आचार्य वाचस्पति।

3 श्री मुरलीधर पाण्डेय। शङ्करातप्रागद्वैतवाद. पृ०–६०

4 श्रुतिरनुशयसद्भावप्रतिपादनायोदाहृता– तद् इह रमणीयचरणा (छान्दो० ५।१०।१)

क्योंकि 'अनुशय' आचरण एवं कर्मानुष्ठान से बनता है। इसलिये उक्त दोनों कथनों में परस्पर विरोध की कल्पना असंगत है। सूत्रकार ने इस प्रसंग पर अपनी कोई आलोचना प्रस्तुत नहीं किया है।

जैमिनि के मीमांसा सूत्र में दो स्थलों पर आचार्य कार्ष्णाजिनि का उल्लेख हुआ है।[1] प्रथम स्थल का प्रसंग है कि रात्रि सत्र में जो फल निर्देश है वह केवल अर्थवाद है, अथवा उसे फलविधिमानना चाहिये। कार्ष्णाजिनि का मत है कि इसे फल निर्देश अर्थवाद समझना चाहिये। जैसे अङभूत कर्मो का फलनिर्देश अर्थवाद रुप माना जाता है। मीमांसाकार जैमिनि ने कार्ष्णाजिनि के मत को पूर्वपक्ष के रूप में रखा है। और इसका सिद्धान्त पक्ष आत्रेय आचार्य के नाम से अगले सूत्र में (४।३।१८) में प्रस्तुत किया है। द्वितीय स्थल पर 'सहस्रसम्वत्सरयोगं' का प्रसंग है।

५. आचार्य काशकृत्स्न

वेदान्त दर्शन के केवल एक सूत्र (१।४।२२) में आचार्य काशकृत्स्न के मत का उल्लेख हुआ है। 'काशकृत्सन' ब्रह्म–सूत्र (१।४।२२) अचार्य काशकृत्स्न का विचार है कि जीवात्मा प्रत्येक दशा में परमात्मा के साथ अवस्थित रहता है। परमात्मा को छोड़कर जीवात्मा का रहना संभव नहीं है। इनके मतानुसार परमेश्वर ही संसार में जीव रुप मे अवस्थित है जीव परमेश्वर का विकार नहीं है, संसार और मोक्ष प्रत्येक अवस्था में जीवात्मा के साथ परमात्मा अवस्थित रहता है ।

संसार अवस्था में जीवात्मा अज्ञान रहित नहीं होता है इसलिए यह अवस्थान अज्ञान सहित है। प्रलय की स्थिति भी संसार की स्थिति है। वहां भी जीवात्मा की स्थिति वैसी ही है। मोक्ष में अज्ञान नहीं रहता है केवल ब्रह्मानन्द की अनुभूति होती है। यह कहना उचित नहीं है कि प्रलय अथवा मोक्ष में जीवात्मा का ब्रह्म में लय हो जाता

---

[1] क. क्रतौ फलार्थवादमङ्गवत् कार्ष्णाजनिः। जै०सू० ४।३।१५
ख सकुल्यः स्यादिति कार्ष्णाजनिरेकस्मिन्नसंभवात्।(जै०से० ६/७/३६)

है। इसी लिए सहावस्थिति का आधार ही नहीं रहता हैं। कारण यह है कि परमात्मा के समान जीवात्मा भी नित्य है इसी तथ्य को कठोपनिषद में भी कहा गया है– ''ना जायते मृयते ... (कठो० १।२।१८)

इसी अर्थ को (छान्दो० ६।११।३) में भी कहा गया है कि जीवात्मा के निकल जाने पर यह देह मरा हुआ कहा जाता है। जीवत्मा कभी मरता नहीं मोक्ष की अवस्था में जीवात्मा ब्रह्म में लीन हो जाता है इसे जीवात्मा का स्वरूप से मरना कहा जायेगा।[१] 'लय' का अर्थ है अपने स्वरूप को छोड़कर रूपान्तर की प्राप्ति। किन्तु जीवात्मा के विषय में ऐसा मानना शास्त्र विरुद्ध है। क्योंकि जीवात्मा तथा परमात्मा की एक साथ सह अवस्थिति निश्चित है। अतेव ये दोनों तत्त्व निहित है, और आत्मतत्व दोनों में समान है।

काशकृत्सन के उक्त मत का उल्लेख शङ्कराचार्य ने अपने भाष्य में इसप्रकार किया है– 'काशकृत्सनस्याचार्यस्याविकृतः परमेश्वरो जीवो नान्य इतिमतम्' (ब्र० सू० शां० भा० १।४।२२) इस प्रकार काशकृत्स्न जीव को अविद्याकल्पित मानते हैं। अर्थात अविकृत परमेश्वर ही जीव है, अन्य कोई नहीं।

इसप्रकार आचार्य शङ्कर ने काशकृत्स्न के मत को श्रुति के अनुकूल कहा है।[१] और काशकृत्स्न का मत अद्वैतवाद के समान है।

६. जैमिनि

ब्रह्मसूत्र में आचार्य जैमिनि का उल्लेख ग्यारह बार हुआ है।[२] जो सब आचार्यों की अपेक्षा अधिक है। कदाचित् गुरु नें शिष्य के प्रति वात्सल्य प्रकट करने एवं उसके

---

1 किलेदं म्रियते न जीवो म्रियते (छा० उ० ६।११।३)

1 तत्रकाशकृत्स्नीयं मतं श्रुत्यनुसारीत गम्यते। (ब्र० सू० शा० भा०१।४।२२)

2 ब्र० सू०

क. सांक्षादप्य विरोधं जैमिनि। ब्र० सू० १।२।२८

ख. सम्पतेरिति जैमिनिस्तथा हि दर्शयति ब्र० सू० १।२।३१

ग. मध्वादिष्वसंभवादनधिकरं जैमिनिः। ब्र० सू० १।३।३१

महत्त्व को बढ़ानें के लिए के लिये ऐसा किया हो। जैमिनि कृष्णद्वैपायन वेदव्यास के अन्यतम शिष्य थे।

आचार्य जैमिनि भी मीमांसा सूत्र के लेखक के नाम से विख्यात हैं। प्रो० विधुशेखर भट्टाचार्य का मत है कि इन्होंनें ब्रह्मसूत्र की रचना की थी।[1]

कहा जाता है कि अचार्य जैमिनि ईश्वर के अस्तित्व को नहीं मानता है। परन्तु वादरायण के इस सूत्र के आधार पर प्रतीत होता है कि आचार्य का मन्तव्य इससे बिपरीत रहा होगा । वादरायण सूत्र का प्रसंग है, आत्मा ब्रह्म साक्षात्कार होने पर मोक्ष में किस रूप से रहता है? इस विषय पर जैमिनि का मत है कि वह 'ब्राह्मरूप' से रहता है (४।४।५)। इस पद का अर्थ ब्रह्म सम्बन्धी अथवा ब्राह्म रूप– जो कुछ किया जाय, उससे इस मान्यता में कोई विपरीत प्रभाव नहीं पड़ता है कि अचार्य जैमिनि ब्रह्म के अस्तित्व को स्वीकार करता है। अन्यथा वादरायण उसके नाम से जीवात्मा के 'ब्रह्म' रूप का निर्देश न करता। जैमिनि निरीश्वरवादी है यह प्रवाद किस आधार पर है यह विचारणीय है।

श्री मुरलीधर पण्डेय ने अपने ग्रन्थ शङ्करातप्रागद्वैतवादः में लिखा है– 'इति सूत्रस्य शाङ्करभाष्ये भामत्यां च जीवपरमात्मनोरैक्यमुक्तम्– "निश्चिते च पर्वपरलोचन वशेन परमात्मपरिग्रहे तद्विषय एव वैश्वानरशब्दः केनचिद् योगेन वर्तिष्यते। विश्वश्चाय नरश्चेति, विश्वेषा वायं नरः, विश्वे वा नरा अस्येति विश्वानरः परमात्मा सर्वात्मत्वात्" विश्वानर एवं वैश्वानरः 'अत्र परमात्मा सर्वात्मत्वात् दूत्युक्त्या जीवब्रह्मणे भेदः

घ. अन्यार्थ हि जैमिनिः प्रश्नव्याख्यानाभ्यामतिचैवमेके।
ङ. धर्म जैमिनिरित् एव। ब्र० सू० ३।२।४०
च. शेषत्वातत्पुरुषार्थवादी यथान्वेष्विति जैमिनिः। ब्र० सू० ३।४।२
छ. परामर्शजैमिनिश्चोदना चापवदति हि। ब्र० सू० ३।४।१८
ज. तद्भूतिस्य नतद्भावो जैमिनेरपि नियमातद् रूपाभवेभ्य.। ब्र० सू० ३।४।४०
झ. परं जैमिनिर्मुख्यत्वात्। ब्र० सू० ४।३।१२
ञ. ब्रह्मणेन जैमिनिरूपन्यासिदिभ्यः। ब्र० सू० ४।४।५
ट. भावं जैमिनि निर्विकल्पलभनंनत्। ब्र० सू० ४।४।११

[1] B. Bhatyacharya: Agam Sastra of Gaudpada, Introduction.

प्रतिपादितः'।[1] पुराणों में भी इन्हें वेदव्यास का शिष्य बतलाया गया है। इन्होंने वेदव्यास से सामवेद और महाभारत की शिक्षा प्राप्त की थी। मीमांसा दर्शन के अतिरिक्त जैमिनि ने भारतसंहिता जिसे 'जैमिनिभारत' भी कहते हैं की रचना की थी।

७. आचार्यवादरि

आचार्य वादरि का उल्लेख वादरायण के ब्रह्मसूत्र[2] में चार बार किया गया है, तथा जैमिनि के मीमंसासूत्र[3] में भी चार बार उल्लेख किया गया है। आचार्य बादरिके दार्शनिक सिद्धान्तों की रूपरेखा के विषय में पं० राममूर्ति शर्मा ने अपने ग्रन्थ 'अद्वैतवेदान्त' में लिखा है– १. आचार्य बादरि वैदिक कर्म में प्रत्येक वर्ण के व्यक्ति का अधिकार स्वीकार करते हैं। यह सिद्धान्त आचार्य की अद्वैत परक बुद्धि का ही परिचायक है। २.उपनिषदों में कहीं–कहीं सर्वव्यापी ईश्वर का प्रादेश मात्र रूप से वर्णन मिलता है। इस सम्बन्ध में उपपत्ति देते हुये बादरि का विचार है कि मन प्रादेश मात्र हृदय में रहने के कारण शास्त्रों में प्रादेश मात्र कहा जाता उस प्रादेशमात्र मन से ही ईश्वर का स्मरण होता है, इसीलिए वह (ईश्वर) प्रादेशमात्र रूप से वर्णित होता है।''[4]

द्वितीय स्थल का विषय छान्दोग्य उपनिषद (५।१०।७) के ''तद्य इह रमणीयचरणाः'' इत्यादि सन्दर्भगत 'चरण' पद के प्रयोग के आधार पर है। इस चरण पद के प्रयोग को लेकर विद्वानों में मतभेद है। बह्मसूत्रकार ने वादरि का मत बताया है कि उपनिषद के उक्त प्रसंग में चरण पद सुकृत–दुष्कृत कर्मों (भले बुरे कर्मों का) का वाचक है।

तृतीय स्थल पर छान्दोग्योपनिषद के (४।१५।५) के 'स एनान् ब्रह्म गमयति' के आधार पर यह विवेचन प्रस्तुत किया गया है। इसमें प्रयुक्त ब्रह्म शब्द का अर्थ बादरि ने

---

[1] श्री मुरलीधरपण्डेय– श्रीशकरात प्रागद्वैतवादः पृ० ६४–६५

[2] ब्रह्म सूत्र १।२।३०, ३।१।११, ४।३।७, ४।४।१०

[3] मीमांसा सूत्र ३।१।३, ६।१।२७, ८।३।६, १।२।२३ (सेक्रड बुक्स आफ दि हिन्दुज के अन्तर्गत प्रकाशित)

[4] पं० राममूर्ति– अद्वैतवेदान्त। पृ० १२६

कार्य ब्रह्म ग्रहण किया है। अपने मत की पुष्टि में आचार्य का कथन है कि ब्रह्मसे यहां परब्रह्म का अर्थ नहीं लिया जा सकता है। क्योंकि परब्रह्म स्वर्ग है प्रत्यगात्म स्वरूप ब्रह्म है इसलिए उसमें गन्ता गन्तव्य और गति आदि की भेद व्यवस्था संभव नहीं है। इसीलिये छान्दोग्योपनिषद के उक्त वाक्य में वादरि ब्रह्म शब्द से 'कार्य ब्रह्म' का अर्थ स्वीकार किया है चतुर्थ स्थल में मुक्त पुरुष के ऐश्वर्यानुभूति को लक्ष्य कर जिज्ञासा की गई कि उस अवस्था में युक्त पुरुष के शरीर–इन्द्रिय आदि रहते हैं, अथवा नहीं? अचार्य बादरि का मानना है कि मोक्ष अवस्था में मुक्त परुष के शरीर इन्द्रिय आदि का अभाव रहता है।

छान्दोग्योपनिषद (८।२।१) में ही मुक्त पुरुष के वर्णन के प्रसंग में कहा गया है कि 'संकल्पादेवस्यपितरःसमुत्तिण्ठन्ति' अर्थात् मुक्त पुरुष के संकल्प से ही पितृगण उठ जाते हैं। आचार्य वादरि का विचार है कि ईश्वर भावापन्न विद्वान के शरीर तथा इन्द्रियों की सत्ता नहीं रहती है। इसलिए छान्दोग्योपनिषद में कहा गया है 'मनसा एतान कामान् पश्यन् रमते' (८।१२।५) "य एते ब्रह्मलोके" (छा० उप० ७।१२।१)। इस प्रकार ब्रह्मसूत्र एवं मीमांसा सूत्र दोनों में आचार्य वादरि के मतों का विवेचन होने से स्पष्ट होता है कि आचार्य वादरि वेदान्त के ही समर्थक रहे हैं।

इस प्रकार आर्ष परम्परा के आचार्यों में देखते हैं कि आत्रेय और जैमिनि कर्मज्ञान समुच्चय वादी थे। रामानुजी विद्वान सुदर्शन सूरि ने लिखा है कि आश्मरथ्य भेदा–भेदवाद को मानते थे। जैमिनि और कर्ण्णाजनि के मत में साम्य है।

काश्यप

आर्ष परम्परा के आचार्यों में काश्यप भी एक महत्त्वपूर्ण आचार्य हैं। यद्यपि काश्यप का नामोल्लेख ब्रह्मसूत्रों में नहीं है परन्तु आचार्य शाण्डिल्य के भक्ति सूत्र[1] में

---

[1] शाडिल्य का भक्तिसूत्र। तामैश्वर्यपरा काश्यपः परत्वात्– २९

वादरायण के साथ काश्यप के मत का उल्लेख है, इससे अचार्य काश्यप की महत्ता एवं प्राचीनता प्रकट होती है।

महाभारत १३।३१६।५६ में भी काश्यप का उल्लेख मिलता है। राजा नान्यदेव ने स्वनिर्मित सरस्वती हृदयालंकार नामक नट्यशास्त्र की टीका में यत्र–तत्र काश्यप का उल्लेख किया है चित्र विद्या में कुशल काश्यप की चर्चा भी कहीं मिलती है।

इस प्रकार उपर्युक्त ऋषियों के अतिरिक्त जिन्होनें विभिन्न दार्शनिक विचारधाराओं का प्रचार किया था उनमें असित, देवल, गर्ग जैगीषव्य, पराशर और भृगु के नाम विशेष रूप से उल्लिखित किये जा सकते हैं।

(खण्ड ग)

प्राग अद्वैतवाद का व्यवस्थित इतिहास

प्राग अद्वैत वेदान्त के आर्ष अचार्यों के यत्र–तत्र प्राप्त विचारों में किसी दार्शनिक सिद्धान्त का पूर्ण व्यस्थित विवेचन प्राप्त नहीं होता है, बल्कि विभिन्न दार्शनिक पद्धति का बीज मात्र ही है मिलता है। किन्तु इन प्राचीन आचार्यों के अतिरिक्त अद्वैतवाद के संस्थापक शङ्कराचार्य के पूर्ववर्ती कुछ अन्य आचार्य भी मिलते हैं। जिनकी रचनाओं में अद्वैत वेदान्त की सूक्ष्म विचार दृष्टि का तथा व्यावस्थित दार्शनिक विचारधारा का भी संकेत मिलता है। इसस प्रकार शङ्कराचार्यके पूर्ववर्ती चौदह आचार्य हुये थे जिनमें से ग्यारह आचार्यों का नाम श्री यामुनाचार्य की 'सिद्धत्रयी' में तथा श्री रामानुजाचार्य के 'वेदार्थ संग्रह में तथा श्री निवास दास के 'यतीन्द्रमत दीपिका' में भी उल्लिखित मिलता

है। किन्तु तीन और आचार्यों अचार्यों का नाम 'ब्रह्मसूत्रभाष्य' से ज्ञात होता है। यथा ब्रह्मसूत्रभाष्य में १. व्यास २. उपवर्ष (बोधायन, कृतकोटि) ४. गुहदेव, ४. कपर्दी ५. भारुचि ६. बह्मानन्दी (टङ्का) ७. द्रविण, ८. भर्तृप्रपञ्च, ९. भर्तृमित्र, १०. भर्तृहरि,११ ब्रह्मदत्त १२. सुन्दर पाण्ड्य १३. गौडपादाचार्य १४. मण्डनमिश्र।

इसमें से कुछ नें वेदान्त विषयक सूत्रों की ,कुछ भाष्यों की ,कुछ वृत्तियों की, कुछ के द्वारा कारिका और व्याख्यादि की रचना की गयी।

व्यास

भगवान व्यास ब्रह्मसूत्र के कर्त्ता के रूप में प्रसिद्ध हैं। उनके मत में अद्वैतवाद का स्वरूप कैसा था? यह निर्णय करना अति दुष्कर है। कृष्ण द्वैपायन वेदव्यास का नाम ही वादरायण माना जाता है किन्तु विद्वानों के बीच विवाद का यह विषय है कि ब्रह्मसूत्र कर्ता वादरायण और व्यास एक ही व्यक्ति हैं या अलग–अलग व्यक्ति हैं या एक ही व्यक्ति के दो नाम हैं?

ब्रह्मसूत्र में नौ[1] स्थलों पर वादरायण नाम का निर्देश जिस रूप में किया गया है उससे यह संकेत मिलता है कि इन सूत्रों का रचयिता वादरायण है। इस मान्यता को स्वीकार करनें में कोई आपत्ति दृष्टिगोचर नहीं होती है किन्तु आचार्य वादरायण के प्रभाव को लेकर मतवैविध्यता हैं।

पाणिनि नें उनाका नामोल्लेख 'पराशर्य ' के नाम से किया है। इस कारण इनका काल ई० पूर्व ६७५ से २०० ई० पू० तक का माना जाता है। वादरायण २०० ई० पूर्व के आस–पास अवश्य थे क्योंकि उन्होंने बौद्धों के सर्वास्तिवाद और विज्ञानवाद का खण्डन किया है जिनका उद्‌भव १०० ई० पूर्व में हुआ था।

[1] ब्रह्मसूत्र। १।२।२६१, १।२।३३१, ३।२।४१, ३।४।१, ३।४।८, ३।४।१९, ४।३।१५, ४।४।७, ४।४।१२

वादरायण रचित ब्राह्मण सूत्र में चार अध्याय हैं जो क्रमशः समन्वय अध्याय, अविरोध अध्यय, साधन अध्याय और फल अध्याय हैं। प्रत्येक अध्याय में चार पाद हैं प्रत्येक पाद में कई अधिकरण हैं और प्रत्येक अधिरण में कई सूत्र हैं।

ब्रह्मसूत्र को शङ्कराचार्य नें 'शारीरक मीमांसा' सूत्र कहा है क्योंकि इसमें शारीरक आत्मा (देही आत्मा) का विवेचन है और कुछ लोग इसे 'वेदन्त सूत्र 'कहते हैं।

ब्रह्मसूत्र पर अनेक आचार्यों नें भाष्य लिखा जिसमें यह सर्वाधिक सुरक्षित रहा, विलुप्त नहीं हुआ ब्रह्मसूत्र की प्रासंगिकता और प्रामाणिकता इससे भी सिद्ध होती है कि आज भी उसपर भाष्य या वृत्ति लिखनें की परम्परा बनी हुई है। आचार्य बलदेवउपाध्याय नें लिखा है कि 'ब्रह्मसूत्र वेदान्त की कसौटी है। ब्रह्मसूत्र पर अनेक भाष्य लिखे गये हैं। उसमें से निम्नलिखित को प्रमुख भाष्य माना जाता है।

क्र०सं०	लेखक	भाष्य	काल
१.	शंकराचार्य	शारीरकभाष्य (अद्वैतवाद)	७वीं शती० ई०
२.	भाष्कर	भाष्करभाष्य (भेदाभेदवाद)	८वीं शदी ई०
३.	रामानुज	श्रीभाष्य (विशिष्टाद्वैतवाद)	११वीं शती० ई०
४.	मध्व	पूर्णप्रज्ञभाष्य (द्वैतवाद)	१३वीं शती० ई०
५.	निम्बार्क	वेदान्तपारिजात (द्वैताद्वैतवाद)	११वीं शती० ई०
६.	श्रीकण्ठ	शैव भाष्य (शैवविशिष्टाद्वैतवाद)	१३वीं शती० ई०
७.	श्रीपति	श्रीकरभाष्य (वीरशैवमत)	११वीं शती० ई०
८.	रामानन्द	आनन्दभाष्य (रामविशिष्टाद्वैतवाद)	१५वीं शती० ई०
६.	वल्लभ	अणुभाष्य (शुद्धाद्वैतवाद)	१५वीं शती० ई०
१०	विज्ञान भिक्षु	विज्ञानामृतभाष्य (अविभगाद्वैतवाद)	१७वीं शती० ई०
११.	बल्देवविद्याभूषण	गोविन्द भाष्य (अचिन्त्यभेदाभेदवाद)	१८वीं शती० ई०

१२.	रामप्रसाद	जानकी भाष्य (सीताविशिष्टाद्वैतवाद)	२०वीं शती० ई०
१३.	मुक्तानन्द	ब्रह्ममीमांसाभाष्य (नव्यविशिष्टाद्वैतवाद) स्वामीनारायणी	१६वीं शती० ई०
१४.	पञ्चानन	तर्करत्नशक्तिभाष्य (शक्तिविशिष्टाद्वैतवाद) भट्टाचार्य	२०वीं शती० ई०
१५.	आर्यमुनि	वेदान्त दर्शन भाष्य (आर्यसमाजी)	२०वीं शती० ई०
१६.	मधुसूदन ओझा	विज्ञानभाष्य (आधुनिक विज्ञान)	

इन सभी भाष्यों में शैव भाष्य, वीर शैवभाष्य, शक्ति भाष्य की रचना क्रमशः शैवमत, वीरशैवमत तथा शाक्त मत को वेदान्त के अन्तर्गत लानें के लिए की गयी ।

इन भाष्यों के अतिरिक्त वेदान्त सूत्रों पर अनेक वृत्तियां भी लिखी गयी हैं। और इन वृत्तियों पर कई टीकायें लिखी गयी हैं।

वादरायण के विषय में इतना निश्चित है कि ये ब्रह्मवादी, एकेश्वरवादी ,मोक्षवादी और ज्ञानमार्गी थे उन्होंने वेदान्तेतर दर्शनों का खण्डन करके वेदान्त की सर्वश्रेष्ठता प्रतिपादित की थी। वादरायणं की 'चतुः सूत्री 'वेदान्त की अक्षय निधि है।

बोधायन

बोधायन शङ्कर पूर्व आचार्यों में तथा ब्रह्मसूत्र के ज्ञाता सर्वाधिक प्राचीन थे। इनका काल लगभग प्रथम द्वितीय शताब्दी मान जाता है।

बोधायन शंकर पूर्व वेदान्ताचार्यों में तथा ब्रह्मसूत्र के ज्ञात भाष्यकारों में सर्वाधिक प्राचीन थे इनका काल लगभग प्रथम द्वितीय शताब्दी तक का माना जाता है। आचार्य रामानुज नें श्रीभाष्य नामक ब्रह्मसूत्र व्याख्या के प्रारम्भिक भाग में लिखा है–

"भगवान बोधायन द्वारा रचित विस्तीर्ण ब्रह्मसूत्रवृत्ति को पूर्वाचार्यों नें संक्षिप्त किया है। उनके प्रदर्शित मत के अनुसार सूत्राक्षरों की व्याख्या की जाती है।"[1]

आचार्य रामानुज के इस लेख से स्पष्ट होता है कि प्राचीनकाल में बोधायन ने अति विस्तृत वृत्ति की रचना की थी जो 'प्रपञ्च हृदय' नामक ग्रन्थ से भी स्पष्ट होता है।

मीमांसा शास्त्र का कृतकोटि नाम वाला भाष्य बोधायन नें किया इस प्रकार के विवरणों से स्पष्ट होता है कि बोधायन नें ब्रह्मसूत्र पर कृतकोटि नामक एक विस्तृत व्याख्या की रचना की। कालान्तर में उपवर्ष नें उसका संक्षेप किया[2] आचर्य शङ्कर नें महर्षि बोधायन का कहीं नामोल्लेख नहीं किया परन्तु कतिपय सूत्रों के भाष्य में की गई आलोचनाओं को शाङ्कर भाष्य के विवरणकारों ने 'वृत्तिकार' की आलोचना बताया है। यह बृत्तिकार ब्रह्मसूत्रों पर विस्तृत 'कृतकोटि' नामक व्याख्या लिखनें वाला बोधयन अथवा उसकी विस्तृत वृत्ति का संक्षेप करने वाला उपवर्ष हो सकता है।

ब्रह्म, जीवात्मा तथा प्रकृति की एकता और विभिन्नता के विषय में बोधयन का क्या सिद्धान्त रहा होगा यह निश्चित रूपएसे कहना कठिन है क्योंकि बोधयन के बहुत थोड़े सन्दर्भ उपलब्ध हैं। कुछ विद्वान मानते हैं कि ये कृष्ण यजुर्वेद के आचार्य हैं। इनका मुख्य ग्रन्थ 'बोधायनधर्मसूत्र' है। यह धर्मशास्त्र कल्पसूत्र का अंश है। 'बोधायनधर्मसूत्र'में इसका उल्लेख है। यह ग्रन्थ सम्पूर्ण रूप से उपलब्ध नहीं है। इसमें आठ अध्याय हैं, जो अधिकांश श्लोकबद्ध हैं। इसमें आपस्तम्ब तथा वसिष्ठ के अनेक सूत्र अक्षरशः प्राप्त होते हैं। यह धर्म सूत्र गौतम सूत्र से अर्वाचीन माना जाता है।इसका समय वि० पू० ५०० से २०० वर्ष है।

---

[1] भगवद्बोधायनकृतां विस्तीर्णां ब्रह्मसूत्रवृत्तिं पूर्वाचार्याः संचिक्षिपुः तन्मतानुसारेण सूत्राक्षराणि व्याख्यायन्ते। श्री रामानुज– श्रीभाष्य(१।१।१) पृ० १

[2] तस्य विंशति अध्याय निबद्धस्य मीमांसाशास्त्रस्य कृतकोटि नामधेयम भाष्यं बोधायनेन कृतम् तद् ग्रन्थ बाहुल्यभयादुपेक्ष्य किञ्चित्, संक्षिप्तमुपवर्षेण कृतम् (प्रपञ्चहृदय, उपाङ्ग प्रकरण। पृ० ३६)

उपवर्ष

भगवान उपवर्ष अत्यन्त प्राचीन वेदान्ताचार्य थे। भगवान शङ्कर ने ब्रह्मसूत्र शाङ्कर भाष्य में दो स्थलों पर बहुत आदर के साथ नाम लिया है तथा 'भगवद्' शब्द का प्रयोग है।[1] शबर स्वमी ने भी अपने भाष्य में अचार्य उपवर्ष का नाम उल्लिखित किया है।(मी० सू० १।११५) आचार्य उपवर्ष ने महर्षि पतंजलि के सिद्धान्त स्फोटवाद का खण्डन किया।[2] अतः इनका समय ई०पू० प्रथम और द्वितीय शताब्दी ई० पू० के बीच का है।[3]

पाणिनि का समय बुद्ध पूर्व प्रमाणित होने पर यह निश्चित है कि पाणिनि का गुरु आचार्य 'वर्ष' उसका पूर्व समकालिक है। 'वर्ष' के भाई उपवर्ष का काल भी वही संभव है। इस प्रकार आधुनिक विद्वानों ने उपवर्ष को पाणिनि का समकालिक माना है।

ब्रह्मसूत्रों पर बोधायन ने अतिविस्तृत वृत्ति लिखी उसमें से कुछ उपेक्षित कर उपवर्ष ने उसका संक्षेप किया। 'प्रपञ्चहृदय' ग्रन्थ के लेख से पता चलता है कि उपवर्ष का ग्रन्थ अपने रूप में स्वतंत्र था।

श्री मुरलीधर पाण्डेय ने लिख है– ''इत्थंश्रीबोधयनोपवर्षयोर्भिन्नत्वंचाभिन्नत्वं चायाति किन्तु विशिष्टाद्वैतस्य प्रमुखतम आचार्यो वेदान्त देशिकोऽधिकदार्ढ्येन उपवर्षबोधयनोरैक्यं वदति श्री भाष्य तत्त्वटीकायाम्–

---

[1] क. वर्ण एव तु शब्दः– इतिभगवानुपवर्षः (ब्र० सू० शां० भा० १।३।२८)
ख अतएव भगवतोपवर्षेण प्रथमतन्त्र आत्मास्तित्वाभिधान प्रसक्तौ शारीरके वक्ष्याम इत्युद्वारः कृतः(ब्र० सू० शा० भा०)(३/३/५३)

[2] मीमांसादर्शन– शबर भाष्य– १।१।५। बृत्तिकार ग्रन्थनामकोलेखः, लेखक श्री गङ्गानाथ झा, चतुर्थ ओरियण्टल कान्फ्रेंस, इलाहाबाद १९२६– पृ०४६ प्रकाशित।

[3] तस्य विंशति अध्याय निबद्धस्य मीमांसाशास्त्रस्य 'कृतिकोटि' नामधेयं भाष्य बोधायनेन कृतम्। तद्ग्रन्थवाहुल्यभयादुतुक्ष्य किञ्चद्संक्षिप्तमुपवर्षेणकृतम्। उपाङ्ग प्रकरण, पृ० ३९

"वृत्तिकारोपज्ञं स्वमतमोह– शब्दस्येति। अपि दूषणसमुच्चयार्थः अत्र शाबरभाष्यम् गौरित्यत्र कः शब्दः गकारौंकार विसर्जनीयाः इति। बृत्तिकारस्य बोधायनस्यैव ह्युपवर्ष इति स्यान्नाम।" [1]

कुछलोगों का मत है कि उपवर्ष सांस्कारिक नाम है तथा बोधायनं गोत्रनाम है। आचार्य वेदान्तदेशिक का बोधायन और उपवर्ष की अभिन्नता में लिखागया यहं लेख स्वयं अपनें में संदिग्ध है। उस समय यह समस्य नहीं रहती, जब हम यह मान लेते हैं। कि उपवर्ष द्वारा किया गया संक्षेप बोधायन की रचना के आधार पर एक स्वतंत्र लघुकाय रचन है। परिणामतः बोधायन और उपवर्ष को एक व्यक्ति समझना नितान्त भ्रामक है। वास्तव में उपवर्ष और बोधयन दो व्यक्ति थे। उपवर्ष अद्रैत वेदान्ती थे। वेदान्तन और बोधायन विशिटाद्रैतवादी थे। रामानुज वेदान्त और रामनन्द वेदान्त में बोधयन को विशिष्टाद्वैतवादी माना गया है।

गुहदेव और कपर्दी

वेदान्त के प्राग आचार्यों में आचार्य गुहदेव का नाम वैष्णव सम्प्रदाय के ग्रन्थों में उल्लिखित मिलता है। रामानुज रचित 'वेदार्थ संग्रह'[2] में और श्री निवासदास की "यतीन्द्रमतदीपिका"[3] में गुहदेव, कदर्पी और भारुचि इन तीनों आचार्यों का नाम वर्णित है।

आचार्य गुहदेव ने ब्रह्मसूत्रों पर काई व्याख्याग्रन्थ लिखा था या नहीं इसके विषय में जानकारी का कोई ऐतिहासिक एवं सैद्धान्तिक विवरण प्राप्त करने का साधन नहीं है। परवर्ती आचार्यों द्वारा गुहदेवका नाम वेदान्त की आचार्य परम्परा में सम्मान पूर्वक उद्धृत किया गया है अतेव यह अनुमान भ्रामक नहीं होगा कि गुहदेव वेदन्त के

---

[1] श्री मुरली धर पाण्डेय– शंकरातप्रागद्वैतवादः– पृ० १।२

[2] श्रीरामआचार्य– वेदार्थ संग्रह– पृ० १५४।

[3] यतीन्द्रमत दीपिका– "व्यास–बोधायन–गुहदेव–भरुचि–ब्रह्म नन्दिद्रमिलाचार्य– श्रीपरंकुशनाथ– यामुनमुनि– यतीश्वर प्रभृतीना मतानुसारेण" इत्यादि।(यतीन्द्रनाथदीपिका– पृ०–१ वारणसी संस्करण)

मैाखिक या लौकिक प्रचार से अवश्य जुड़े रहे होंगे। निश्चित है आचार्य गुहदेव निर्विशेष ब्रह्मवादी नहीं था क्योंकि बाद में आचार्य शङ्कर ने ब्रह्मवाद को अधिक स्पष्ट रूप में प्रस्तुत किया।

श्रीनिवास दास 'यतीन्द्र दीपिका' में जो आचार्यों की सूची दी गयी है वह काल कम से दी गयी है इस क्रम से अचार्य गुहदेव भारुचि के पूर्ववर्ती सिद्ध होते हैं। अचार्य रामानुज गुहदेव और कपर्दी की गणना शिष्ट जनो में की है। इसलिए ये दोनो विद्वान विशिष्टाद्वैतवादी रहे हैं।

आचार्य भारुचि

आचार्य भारुचि वैष्णव सम्प्रदाय के थे। रामानुज ने "वेदार्थ संग्रह" में अपने पूर्ववर्ती कुछ आचार्यो के नाम उल्लिखित किया है। "भगवद्‌बोधायनटंङ्कद्रविडगुहदेवकपर्दिभारुचिप्रभृत्यविगीतशिष्टपरिगृहीत।"[1]

विज्ञानेश्वर ने मिताक्षरा (१/१८, २/१२४) और माधवाचार्य ने पाराशर संहिता की टीका में भारुचि को धर्मशास्त्र का लेखक बतलाया है। 'सरस्वती विलास' नामक ग्रन्थ में भारुचि को धर्मशास्त्रकार के रूप में बताया गया है।[2]

आचार्य भारुचि 'विष्णुधर्म सूत्र' पर एक व्याख्या ग्रन्थ लिखे थे। यह पाञ्चरात्र सम्प्रदाय के अनुयायी थे जो वैष्णव का उपजीव्य ग्रन्थ है इसीलिये रामानुज ने पूर्ववर्ती आचार्यो में मुख्य स्थान दिया। भारुचि का समय ६वीं शती के प्रथमार्द्ध तक का माना जाता है।[3]

आचार्य भर्तृहरि

[1] वेदार्थ संग्रह, पृ० १६६राघवाचार्य सम्पादित, आचार्य पीठ, बरेली से सं० २०१८ में प्रकाशित संस्करण।
[2] सरस्वती विलास– पृ० २०, ५१ मैसूर संस्करण।
[3] P.V.Kane. History of Dharma Sastra, Vol. I.P. 265

श्री शङ्कराचार्य से पूर्व अद्वैतवादी आचार्य भर्तृहरि अधिक प्रसिद्ध थे। इनका स्थितिकाल किसी ने ४००–४५० ई० तथा कुछ ५६१–६५१ ई० तक का, काश्मीर का मानते है। जनरव या जनश्रुति है कि भर्तृहरि राजा थे। कुछ विद्वान विक्रमादित्य का बड़ा भाई भर्तृहरि को मानते है।

भर्तृहरि के विक्रमादित्य के बड़े भाई होने में तो कोई ऐतिहासिक प्रमाण नही है। तब वे राजा थे, इसका प्रमाण लोकगाथा और लोकगीतो में स्पष्ट सुनाई पड़ता है। इसके बारे में एक प्राचीन श्लोक भी साक्ष्य दे रहा है–

या चिन्तयामि सततं मयि सा विरक्ता सा चान्यमिच्छति जनं सा जनोऽन्यसक्तः।
अस्मत् कृते च परिशुष्यति काचिदन्याधिक तां च तं च मदनं च इमां च मां च।।

इस प्रकार पश्चाताप करते–करते उनके विवेक, वैराग्य और शास्त्रज्ञान सब उद्बुद्ध हो गये फिर तो 'चिन्ता यशसि न वपुसि व्यसनं शास्त्रे न युवति कामास्त्रे। भक्तिर्भवे न विभवे प्रायः परिदृश्यते महताम'।। इस श्लोक के उदाहरण बन गये। चीनी यात्री इत्सिंग ने इन्हें बौद्ध माना है। परन्तु भारतीय विद्वान इन्हें शुद्ध सनातनी, महान शिवभक्त तथा अद्वैतवेदान्त के आचार्य मानते है।

आध्यात्म की परम्परा के आचार्यो में भर्तृहरि का नाम प्रसिद्ध है। यामुनाचार्य ने अपनी 'सिद्वित्रय' (पृष्ठ ५) नामक रचना में इसके नाम का उल्लेख किया है। प्राचीन आचार्यो ने अपने ग्रन्थ में आदर के साथ सिद्धान्तों को ग्रहण किया है यथा– श्री पार्थ मिश्र की 'शास्त्रदीपिका'[1] में सोमानन्द विरचित शिवदृष्ट में[2], उमामाहेश्वर कृत तत्वदीपिका में, विमुक्तात्मकृत 'इष्टसिद्ध में[3] जयन्त भट्ट कृत 'न्याय मञ्जरी' में[4] तथा

---

[1] 'तथा च हरिनिरुक्तम् प्रधानस्य मरणेनार्थिन इज्यां प्रर्वतन्ति' इति। शास्त्रदीपिकायाम्– अ० १० पा० २ सू० ५७–५८

[2] सोमानन्दः ८८० ई० वैयाकरणानां शब्दाद्वैतमधिक्षिपन्
वाक्यपदीयस्य कारिकाद्वय मुद्धरिति– अनादिनिधनं ब्रम्ह० वा० प० १/१ तथान सोड्स्टि प्रत्ययो लोके (वा० प० १/१२३)

[3] इष्टसिद्धौ शब्दाद्वैत खण्डने श्री काम भर्तृहरेरयं श्लोक उद्धृत– अनादिनिधनं ब्रम्हा......... इत्यादि वा० प० १/१

[4] न्याय मंजरी मे–वाग्रुपता चेदुत्क्रामेदवबोधस्य शाश्वती। न प्रकाशः प्रकाशेत सा हि प्रत्यवमर्शिनी।। वा० प० १/१२५ [5]
नाशोत्पाद समालीढं ब्रम्ह शब्दमयंपरम।। त० सं० श० ब्रे० प० १२८ श्लोक

शान्तरक्षित के तत्त्वसंग्रह में उद्धृत है। संस्कृत वाङ्मय में भर्तृहरि नाम के महान विद्वान के लिखे ग्रन्थ ये है– (१) भर्तृहरिशतकम् (इसके तीन भाग है श्रृंगारशतकम्, नीतिशतकम्, वैराग्यशतकम्) (२) वाक्यपदीयम् (३) भट्टि महाकाव्यम्।[1]

इस काव्य के निर्माता के बारे में विवाद था पर यह विवाद अब समाप्त प्राय है। नवीनतम कोई भर्तृहरि इसका लेखक है ऐसा मान लिया गया है। शतकत्रयं और वाक्यपदीय के लेखक के बारे में कोई विवाद नही है। ऐतिहासिकों को सन्देह है कि शतकत्रय के लेखक भर्तृहरि वैदिक है और वाक्यपदीय के रचयिता भर्तृहरि वैदिक है और वाक्य पदीय के रचयिता भर्तृहरि बौद्ध है। किन्तु बहुमत दोनों के लेखक भर्तृहरि को एक तथा वैदिक ही मानने लगा है।[2]

इस समय भर्तृहरि का एक मात्र ग्रन्थ 'वाक्यपदीय' ही उपलब्ध है। जो अत्यन्त महत्वपूर्ण है इसमें तीन काण्ड है– ब्रह्मकाण्ड, वाक्यकाण्ड, पदकाण्ड। प्रथम काण्ड में शब्दाद्वैतवाद का विवेचन किया गया है। वाक्यपदीय के प्रथम दो काण्डो पर भर्तृहरि रचित एक वृत्ति भी है और ब्रह्मकाण्ड पर अम्बाकर्ती नामक टीका रघुनाथ शर्मा द्वारा लिखा गया है। महाभाष्य की टीका दीपिका, शब्दधातु समीक्षा, त्रयशतक और भट्टिकाव्य भी भर्तृहरि के ग्रन्थ बताये जाते है। शब्दधातु समीक्षा उपलब्ध नही है।

वाक्यपदीय के कई अंश लुप्तप्राय है। इसके द्वितीय काण्ड के ७६ कारिकाओं के व्याख्यान में श्रीपुण्यराज ने लक्षण समुद्देश और वाधसमुद्देश की चर्चा की है। लक्षण समुद्देश तो उस समय भी लुप्तप्राय ही था।[3] पुण्यराज ने भी इसको माना है।[4]

भर्तृहरि का यह वाक्यपदीय ग्रन्थ अद्वैतप्रस्थान (उपदेशकग्रन्थ) में शब्दाद्वैतवाद का समर्थक है। शब्द ही अद्वितीय ब्रह्म है। यह इस ग्रन्थ में प्रतिष्ठापित किया है।

---

[1] भाट्टिकाव्य टीकासु जयमगला परित्यज्यान्यासु सर्वासु टीकासु स्पष्टतो भर्तृहरि रुदितः।
[2] दृष्टव्य– आचार्य भर्तृहरि बौद्ध इति पक्षे श्री वाचस्पतिमिश्र विरचित तत्वबिन्दुस्तट्टीका च।
[3] वाक्यपदीय २/७७ का० पुण्य० व्या०
[4] 'एतच्च उपमा समुद्देशेपि अर्थविचारणावसरे सविस्तरं प्रदर्शयिष्यति।' वा० प०२/१२६–१/२ का पुण्य० व्या०

उन्होंने व्याकरण प्रधान ग्रन्थ वाक्यपदीय में (वाक्यं च पदं वाक्यपदे ते अधिकृत्य कृतेऽस्मिन ग्रन्थे) प्रथमकाण्ड की ब्रह्मकाण्ड यह सामाख्या की है। प्रथम ब्रह्मकाण्ड में सम्पूर्ण ग्रन्थ का प्रस्तावना भूत मूलतत्त्व निरुपित किया है तथा वाक्यकाण्ड में ही स्फोट निरूपण परक एवं ब्रह्मनिरुपणपरक प्रथमकाण्ड का अर्न्तभाव किया गया है। इस ग्रन्थ की पहली कारिका में ही ब्रह्म, जगत तथा ब्रह्म के जगत रूप में अवभासित होने में कारण और विवर्त अविद्याजन्य मिथ्यारूप निर्दिष्ट किये गये हैं। यथा–

"अनादि निधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम्।

विवर्ततेऽर्थ भावेन प्रक्रिया जगतो यतः।।" (वा० प० १ का १ का०)

अर्थात् ब्रह्म आदि और अन्त से रहित, अविनाशी और शब्द तत्त्व है। वह अर्थ भाव से विवर्तित रुप में भासित होता है। वाक्य पदीय का यह सिद्धान्त शब्दब्रह्मवाद अथवा शब्दाद्वैतवाद है। शब्दतत्त्व अक्षरब्रह्म है।[3] समस्त सृष्टि शब्दतत्त्व से उत्पन्न हुई है, शब्द स्थित है और अन्ततः शब्दतत्त्व में लीन हो जाती है। जगत की यह प्रक्रिया शब्द तत्त्व या अक्षर ब्रह्म का विवर्त है। इस प्रकार भर्तृहरि विर्वतवादी थे। किन्तु काश्मीर शैवमत के आचार्यों ने उनके विर्वतवाद को परिणाम वाद बतलाया है।

इस प्रकार भर्तृहरि ने शब्दाद्वैतवाद का प्रतिपादन विवर्तवाद और मायावाद के आधार पर किया है। उनके पूर्व 'विवर्त' शब्द का प्रयोग किसी भी दार्शनिक ने नही किया था। भर्तृहरि ही विवर्तवाद के जनक है।

शब्दः वाक्

इस नीति में शब्द वाणी है और इस प्रकार वाक् तत्त्व है। शब्द दो प्रकार का है। एक शब्दों का निमित्त रूप (स्फोट) और दूसरा अर्थ की प्रतीति कराने वाला बैखारी रुप। जैसा कि कहा गया है –

---

[3] क– अथाय मान्तरो ज्ञाता सूक्ष्मवागात्मना स्थिरः। व्यक्तये स्वस्य रुपस्य शब्दत्वेन विवर्तते।। वा० प० १/११२
ख– वा० प० १/१२६

द्वावुपादान शब्देषु शब्दौ शब्दविदो विदुः।

एको निमित्तं शब्दानाम् परोऽर्थे प्रयुज्यते।। (वा० प० १/४४)

स्फोटवाद

ऋग्वेद में वाक् के चार प्रकार परा, पश्यन्ती, मध्यमा और बखारी बताये गये है भर्तृहरि इनमें से केवल अन्तिम तीन को मानते है। इनके मत से शब्द तत्त्व की तीन अवस्थाएं है– पश्यन्ती, मध्यमा और बैखारी। पश्यन्ती में शब्द और अर्थ का भेद नही है, मध्यमा में शब्द और अर्थ के बीच भेद है, किन्तु संयोग रहता है। यह मानसिक अवस्था है इसमें शब्द प्रकाशक है अर्थ प्रकाश्य है इसी अवस्था में 'शब्द' को भर्तृहरि ने 'स्फोट' का नाम दिया है।

बैखरी शब्द की अभिव्यक्त अवस्था है इसे अन्य लोग सुन सकते है, मनुष्य आपसी व्यवहार में इसी का प्रयोग करते है। शब्द की आत्मा स्फोट और ध्वनि है। ध्वनि अनित्य है, कार्य है व्यक्ति है, स्फोट नित्य है, कारण है जाति है। स्फोटवाद शब्दार्थ की एकता का सिद्धान्त है– 'स्फोटः नित्यः सत्तवात् जातिवत्।'

सत्ता द्वैतवाद

पूर्वोक्त शब्दाद्वैतवाद ही सत्ताद्वैतवाद है। यहां सत्तापद से जाति पद विवाक्षित है। जाति शब्दार्थ है। सत्ता नित्य है और अनुस्यूत है इसलिये सत्ता ही 'ब्रह्म' है। इससे सत्ता ब्रह्मवाद और शब्दब्रह्मवाद एक ही है।

सत्ता द्वैत ही भावाद्वैतपद से भी अभिहित होता है। श्री मण्डन मिश्र भावाद्वैतवादी थे। सत्ता पदार्थ और भावपदार्थ समानार्थक है जैसे सत्ता नित्य है वैसे भाव भी नित्य है यह बात वाक्यपदीय विशेष रूप से जाति समुद्देश, द्रव्य समुद्देश तथा सम्बन्ध समुद्देश में प्रतिपादित है। सत्ता और भाव एक ही तत्त्व है। यथा–

"तत्र च भावस्य परमार्थ रूपस्य सत्तात्मकस्य"। (वा० प० का० ३ जा० ख० ३६)

जीव

एक ही शब्द ब्रह्म काल नामक स्वात्रन्त्रयशक्ति (अविद्या) के द्वारा भोक्ता, भोक्तव्य और भोगरुप से तथा दृश्य, दर्शन तथा द्रष्टा रूप से भासित होता है जैसा कि भर्तृहरि ने कहा है–

"एकस्य सर्ववीजस्य यस्य चेयमनेकधा।।

भोक्तृभोक्तव्य रूपेण भोगरूपेण च स्थितिः"।। (वा० प० १/४)

अर्थात् सबके बीज रूप एकमात्र जिस की (शब्दब्रह्म) की भोक्ता, भोक्तव्य रूप से तथा भोग रूप से अनेक प्रकार की होती है।

यहां भोक्ता (जीव) है भोक्तव्य विषय हो, भोग है विषय भोग से उत्पन्न सुख–दुख आदि का अनुभव है। दृष्य विषय है, द्रष्टा जीव है और दर्शन साध्य स्वभाव किया है।

ब्रह्म और जीव में वस्तुतः कोई भेद नहीं है। किन्तु ब्रह्म ही जीवरूप से और भोक्ता के रुप से अवस्थित रहता है। सर्वेश्वर, सर्वज्ञ परमात्मा ही भोक्ता जीव रूप भी होता है, यह बात भर्तृहरि ने स्वरचित वृत्ति में कही है[1]।

अर्थात् अपने से अपने को अलग करके पृथक–पृथक भावों की सृष्टि करके सर्वेश्वर, सर्वमय, भोक्ता स्वप्न में प्रवृत्त होता है।

अध्यारापवा · विधि

अध्यारोपवाद– विधि का तात्पर्य असत्य से सत्य की ओर चलना है (असतो मा सद् गमय) इस प्रसंग में भर्तृहरि कहते है कि जैसे बालकों को असत्य के द्वारा (अक्षरों को वास्तविकता प्रदान करके) शब्द का ज्ञान कराया जाता है।[2]

---

[1] प्रविभज्यात्मनात्मान सृष्टवा भावान् पृथन्विधान। सर्वेश्वरः सर्वमयः स्वप्ने भोक्ता प्रर्वतते।। वा० प० १/१२८ स्वोवृत्तौ

[2] उपाय शिक्षमाणानां बालानामुपलालनाः। असत्ये वर्त्मनि स्थित्वा ततः सत्यं समीहते।। वा० प० २/२४०

शङ्कराचार्य के द्वारा जिस प्रकार अविद्योपाधि शब्द का प्रयोग किया गया है वैसे ही भर्तृहरि ने असत्योपाधि का प्रयोग किया है– "सत्यं वस्तु तदाकारैर सत्यैरवधार्यते। असत्योपाधिभिः शब्दैः सत्यमेवाभिधीयते"।। (वा० प० १/२०–२१)

मोक्ष

इस मत में परब्रह्म की प्राप्ति, परब्रह्म का लाभ, परब्रह्म का सायुज्य, मोक्ष कहा गया है। व्याकरण का महान प्रयोजन कहते हुए भर्तृहरि ने कहा कि इस मोक्ष के लिए ही व्याकरण महान उपयोगी है।

'प्राप्त्युपायोऽनुकारश्च ....।   (वा० प० १–५)

भर्तृहरि ने स्वोपज्ञवृत्ति में मेरा, मैं इस अहंकार की गांठ का अतिक्रमण करना ब्रह्म की प्राप्ति है ऐसा कहा है। यहां ब्रह्म की प्राप्ति सायुज्य मोक्ष है। जैसा कि कहा है–

'तदव्याकरणमागम्यपरंब्रह्माधिगम्यते'। (वा० प० १–२२)

अर्थात् व्याकरण का ज्ञान प्राप्त करके परब्रह्म को प्राप्त किया जा सकता है। (वा० प० १–२२)

मोक्षसाधन

शब्दब्रह्म के सायुज्य रुप मोक्ष की प्राप्ति के लिये शब्द का वाच्यार्थ ज्ञान कारण है। उसमें व्याकरण परम साधन है। व्याकरण द्वारा जो शब्द का संस्कार होता है वहीं शब्दरूप परमात्मा की सिद्धि का उपाय है। इसलिये जो शब्द की षड्भाव विकार रूप प्रतिभा को जानता है वह शब्दरुप परब्रह्म का सायुज्य प्राप्त करता है जैसा कि भर्तृहरि ने कहा है– तस्माद् यःशब्द संस्कारः सा सिद्धिः परमात्मनः तस्य प्रवृत्तितत्त्वज्ञस्तद ब्रह्मामृतमश्नुते।। (वा० प० १/१३२) अर्थात् शब्दों का जो संस्कार है, वह परमात्मा की सिद्धि है। इसकी प्रवृत्ति के तत्त्व का ज्ञाता व्यक्ति ब्रह्मामृत का भोग करता है। सूर्य

नारायण शुक्ल ने 'भावप्रदीप' नामक अपनी वाक्यपदीय की टीका में परावाक् को ही ब्रह्म कहा है।[1]

उपर्युक्त वाक्य से ही यह प्रतीत होता है कि ब्रह्म ही अविद्या के कारण नाना रुपों में भासित होता है। यही दार्शनिक दृष्टि अद्वैत वेदान्त की भी है। तत्वदीपिकाकार ने भर्तृहरि को स्पष्ट रूप से अद्वैतवादी स्वीकार किया है।

आचार्य भर्तृमित्र

जयन्त भट्ट की 'न्याय मञ्जरी' शब्द के नित्यानित्य विवेचन प्रसंग में दो स्थलों (पृ० २१३, २२६) पर भर्तृमित्र का उल्लेख हुआ है। यामुनाचार्य के 'सिद्धित्रय' में भर्तृमित्र का उल्लेख किया है।[2] इसके अतिरिक्त कुमारिल भट्ट ने अपने 'श्लोकवार्तिक' में (१/१/१०,१३०–१३१) में भी भर्तृमित्र की चर्चा की है।[3] वैष्णव ग्रन्थों में उद्धृत भर्तृमित्र तथा मीमांसा शास्त्र के ग्रन्थों में वर्णित भर्तृमित्र एक ही है यह कहना निश्चित रूप से कठिन है।

आचार्य भर्तृमित्र की कोई रचना प्राप्त नही होती है, किन्तु भट्ट उम्बेक[4] ने माना भर्तृमित्र विरचित 'तत्वशुद्धि' नामक प्रकरण ग्रन्थ मीमांसा पर था। इससे यह सिद्ध होता है कि भट्ट उम्बेक के समय यह ग्रन्थ उपलब्ध रहा होगा। यह आचार्य, कुमारिल भट्ट और शङ्कर के पूर्ववर्ती थे।

ब्रम्हानन्दी, टङ्क

---

[1] शब्द ब्रम्ह वादिनस्तु ।परावाक्। एवं ब्रम्हतदेव अविद्यया नानारुपं भासते इति प्राहुः। (भावप्रदीप, वाक्यपदीय, ब्रम्हकाण्ड,– श्लोक १३२)

[2] यामुनाचार्य– यतीन्द्रमत दीपिका – पृ० ४–५ वाराणसी संस्करण।

[3] प्रायेणैव हि मीमांसा लोके लोकायतीकृता।
तामस्तिकपथे कर्त्तुमयां यत्नः कृतो मया।। मीमांसाप्रथम सूत्र का श्लोक वा० १/१/१०)

[4] भट्ट उम्बेक – 'श्लो० वा०' की प्रारम्भिक दसवें श्लोक की व्याख्या।

अद्वैत वेदान्त के आचार्यो में आचार्य शङ्कर से पूर्व सर्व आचार्य ब्रह्मानन्दी ।[1] वेदान्त शास्त्रों में ये नन्दी और आत्रेय नामों से भी विख्यात है।[2] इन्होंने दोग्यउपनिषद का व्याख्यान रूप वाक्य रचा है। यह वाक्य संक्षिप्त रूप है। इसलिए के वाक्य को 'सूत्र' कहा जाता है। अतएव इन्हें छान्दोग्यउपनिषद् की व्याख्याभूत ों के कर्ता, व्याख्यानभूत भाष्यकर्ता, वाक्यकर्त्ता और वृत्तिकार भी कहते है। यह बात पशारीरक की विभिन्न टीकाओं में श्री मधुसूदन सरस्वती, रामतीर्थ, नृसिंहाश्रम और कराचार्य ने अपने ब्रह्मसूत्र के भास्कर भाष्य में तथा ब्रह्मसूत्र भाष्य की भामती एवं ल्पतरू में अमलानन्द ने लिखा है— श्री सर्वज्ञात्ममुनि द्वारा इनका वंशपरिचय और द्धान्त में स्पष्ट रूप से उद्धृत किया गया है। आज तक इनका समय निर्णीत नहीं पाया है किन्तु श्री शङ्कराचार्य, त्रोटकाचार्य, सर्वज्ञात्ममुनि, रामानुजाचार्य, प्रकाशात्म, दर्शन तथा वेंकटनाथ आदि विद्वानों ने आदरपूर्वक इनके नाम और मत का उल्लेख या है।[3] यथा— माण्डूक्य कारिका के वैतथ्य प्रकरण में आचार्य शङ्कर ने ब्रह्मानन्दी नाम लिया है— 'सिद्धं तु निवर्तकत्वादित्यागम् विदां सूत्रम्।' (मा०का० वै० प्र० ३२) चार्य ब्रह्मानन्दी का वाक्य ग्रन्थ अब नही मिलता है। जहां—तहां वेदान्त ग्रन्थों में नके वाक्य तथा उनके व्याख्यान पाये जाते है। इसके आधार पर कहा जा सकता है उनका सिद्धान्त निर्विशेष अद्वैतवाद ही है। ब्रह्मानन्दी जीव और ब्रह्म में एकता नते है। इसका स्पष्टीकरण स्वामी विमुक्तात्मा ने इष्टसिद्धि में तथा श्री ज्ञानोत्तम ने ट सिद्धि के विवरण में किया है— "सिद्धं तु निवर्तकत्वादिति चोक्तं वाक्यकारैः" ष्टसिद्धौ पृ० ७२)।

ाचार्यटङ्कभर्तृप्रपञ्चभर्तृमित्रहरिब्रह्मदत्तशङ्करश्रीवत्सांकभाष्करादिविरचितसितासितविविध निवन्धन .... । श्री
ुनाचार्य के सिद्धित्रय पृष्ठ ५
ान्दिकृत .... । संक्षेप शारीरक में ३/१२१ श्री रामतीर्थ कृत व्याख्या में
ाम्हनन्दि विरचित वाक्यानां सूत्र रुपाणाम्। सं० शा० ३/२१७ तथा ३/२२० श्री म० सू० स० कृतसार —संग्रहटीकायाम्

ब्रह्मानन्दी विवर्तवाद सिद्धान्त के समर्थक थे। संक्षेपशारीरक में आचार्य ब्रह्मानन्दी के सम्बन्ध में पाँच श्लोक है– जिनसे अद्वैतवाद साधक एक ही श्लोक स्थाली पुलाक न्याय से यहां दिया जा रहा है–

पूर्वविकारमुपवर्ण्यशनैश्शनैस्तद्, दृष्टिं विसृज्य निकटं परिगृह्य तस्मात्।

सर्वविकारमथसंव्यवहारमात्रमद्वैतमेवपरिरक्षतिवाक्यकारः।।

सं० शा० ३–२२०

आचार्य ब्रह्मानन्दी के जो आठ वाक्य अद्वैत सम्प्रदाय के भाष्य आदि ग्रन्थों में उपलब्ध होते है। वे श्री ब्रह्मानन्दी के सिद्धान्त के अनुकूल प्रतीत होते है। किन्तु जो बाइस वाक्य विशिष्टाद्वैत सम्प्रदाय के ग्रन्थों में उपलब्ध होते है वे भी अद्वैत सिद्धान्त के बाधक नही बनते है। इनमें बाईस वाक्यों में तेरह वाक्य ब्रह्मसूत्र (१/१/१) के जिज्ञासाधिकरण में ही प्राप्त होते है ये तेरह वाक्य न तो अद्वैत के बाधक है और न विशिष्टाद्वैत के बाधक है। अपितु वे सामान्य रुप से सभी वेदान्त के साधक है। ये प्रायः उपासना के साधक है।

इस प्रकार से आचार्य ब्रह्मानन्दी ही श्री शङ्कराचार्य से पूर्ववर्ती अद्वैत वेदान्ताचार्यो में इस प्रकार के सर्वप्रथम आचार्य थे जिनका ग्रन्थ तो उपलब्ध नहीं है, किन्तु उनके ग्रन्थ के तीस वाक्य वेदान्त के प्रामाणिक ग्रन्थों में आज भी मिलते रहे है। विशिष्टाद्वैत ग्रन्थों में प्राप्य बाइस वाक्य भी अद्वैत सिद्धान्त के प्रतिकूल नहीं है। उपासना की पूर्वावस्था में पर और अपर ब्रह्म के बीच परब्रह्म का सगुण होना अद्वैताचार्यो को इष्ट है। अद्वैत ग्रन्थों में मिलने वाले (ब्रह्मानन्दी के) वाक्य तो अद्वैत के अनुकूल ही है।

इन वाक्यों से आचार्य ब्रह्मानन्दी का वेदान्त सिद्धान्त इस प्रकार निश्चित होता है–श्री ब्रह्मानन्दी के मत में ब्रह्मसत्, निर्विशेष नित्य एक और चित् रूप है जीव और

ब्रह्म में एकता है। परमार्थवस्था में जीव भी ब्रह्म ही है। इनके मत में अज्ञान और अध्यास दोनों माने जाते है। अविद्या का अनिर्वचनीयत्व और विवर्तवाद स्वीकृत किये जाते है तथा यह सब दृश्यमान जगत न तो सत् है और न असत। किन्तु अनिर्वचनीय स्वीकार किया जाता है। इनके मत में जगत् केवल मायामय तथा संव्यवहार मात्र है। श्री ब्रह्मानन्दी के 'सिद्धं तु निर्वतकत्वात्' इस सूत्र का अद्वैत वेदान्त में महान आदर है।

टङ्क

आचार्य रामानुज ने अपने ग्रन्थ 'वेदार्थ संग्रह' (पृष्ठ १५४) पर टंक का उल्लेख किया है। टंक विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त के समर्थक प्रतीत होते है। श्री वेंकटनाथ ने अति सम्मान के साथ स्मरण किया है– यथा– "वेदविदुत्तमः सर्वैः बोधायनटङ्कद्रविडगुहदेवकपर्दिभारुचिप्रभृतिभिः ...." (तत्वमुक्तकलापस्य सर्वार्थ सिद्धौ)

द्रविड़ाचार्य

भारतीय दर्शन के विभिन्न ग्रन्थों में आचार्य द्रविड़ का उल्लेख मिलता है। भगवत्पाद श्री शङ्कराचार्य के द्वारा 'सम्प्रदायवित'[1] 'आगमवित'[2] इत्यादि शब्दों से समादृत ये अद्वैतवेदान्त के महान आचार्य थे। शङ्कराचार्य ने द्रविड़ाचार्य के (त्वात्)' सिद्धंतु निवर्टकत्वात्' सूत्र को उद्धत किया है।[3] शाङ्कर भाष्य के टीकाकार आनन्दगिरि द्रविणाचार्य को अद्वैतवादी मानते है।

इनके जीवनकाल के सम्बन्ध में निश्चित मत नही है। टी० ए० श्री गोपीनाथ राय महोदय ने 'हिस्ट्री आफ श्री वैष्णव' नामक ग्रन्थो में इनका स्थितिकाल नवम शताब्दी का पूर्वार्ध माना है। कुछ लोग अष्टम शताब्दी का पहला चरण मानते है।

---

[1] वृ० आ० उ० २/१/२० शाङ्कर भाष्य।

[2] माण्डूक्यकारिका २/३२ तथा ३/२० कारिका।

[3] सिद्धं तु निवर्तकात्वात्– इत्यागमविदां सूत्रम्। मा० का०, शां० भा० २/३२

कुप्पूस्वामी शास्त्री ने लिखा कि इनका काल आज भी अनिर्णीत ही है। ब्रह्मानन्दि के छान्दोग्योपनिषद् वाक्य पर द्रविणाचार्य ने एक टीका लिखी थी। वैष्णव सम्प्रदाय के ग्रन्थों में भी द्रविड़ाचार्य का उल्लेख प्राप्त होता है।

रामानुज ने 'वेदार्थ संग्रह' में आचार्य द्रविड़ का उल्लेख किया है।[1] यामुनाचार्य ने 'सिद्धित्रय' में लिखा है– 'भगवता वादरायणेन इदमर्थमेव सूत्राणि प्रणीतानि विवृतानि च परिमित गम्भीर भाष्यकृता'। 'भाष्यकृता'[2] शब्द से द्रविड़ाचार्य को इंगित किया है। सर्वज्ञात्म मुनिने 'संक्षेपशारीरक' में द्रविणाचार्य का उल्लेख किया है।

इस प्रकार जैसे निर्विशेष अद्वैत सम्प्रदाय में और विशिष्टाद्वैत सम्प्रदाय में दोनों जगह इनका नाम आचार्य के रुप में गिना जाता है। उसी प्रकार दोनों सम्प्रदायों में इनका वाक्य प्रमाण के रूप में उद्धृत किये गये है। अनेक वेदान्त ग्रन्थों में द्रविणाचार्य के वाक्यरूप से जाने गये सत्रह वाक्य प्राप्त होते है। उनमें से छः वाक्य निर्विशेष अद्वैत ग्रन्थों में तथा ग्यारह वाक्य विशिष्टाद्वैत ग्रन्थों में पाया जाता है।

इनका दार्शनिक सिद्धान्त इस प्रकार है– श्री द्रविणाचार्य के मत में परब्रह्म का निर्गुण होना अभीष्ट है। 'संक्षेप शारीरक' में सर्वज्ञात्ममुनि ने वाक्यकार श्री ब्रह्मानन्दी का मत बताकर इस (निर्गुण) का उपपादन किया है। यथा–

अर्न्तगुणा भगवती परदेवतेति, प्रत्यग्गुणेति भगवानानपि भाष्यकारः।
आह स्म यत्तदिह निर्गुणवस्तुवादे, संगच्छते न तु पुनः सगुण प्रवादे।।

(सं० शा० ३/२२१)

यहां 'अर्न्तगुणा' इस पद में गुण पद स्वरूपपरक है, देवतापद ब्रह्मपरक है। इसलिये प्रत्यागात्मस्वरुप परदेवता परब्रह्म है।

---

[1] भगवद बोधायनटंक द्रविण......... । वेदार्थ संग्रह, पृ० १४८ काशी संस्करण

[2] सिद्धित्रये – पृ० ५

द्रविणाचार्य के मत में अज्ञान से ही बन्धन या ससारित्व होता है और अज्ञान का दूर हो जाना ही मोक्ष है। बृहदारण्यकोपनिषद् के शाङ्करभाष्य में द्रविडाचार्य की प्रसिद्ध आख्यायिका के अनुवाद में भगवान शङ्कर ने स्पष्ट किया है। यथा– 'तुम एतद्रूपक नही हो, परब्रह्म ही हो, असंसारी हो। आचार्य ने यह उद्‌बोधान दिया। तब तीन एषेणाओं (पुत्रैषणा, वित्तैषणा, लोकैषणा) की अनुवृत्ति को त्यागकर 'मैं ब्रह्म ही हूँ' इस भाव को प्राप्त कर लेता है (वृ० आ० उ० शां० भा० २/१/२०)।

इस सिद्धान्त में जीव और ब्रह्म की एकता, अज्ञान से ही आत्मा संसारी होता है। 'तत्वमसि' इत्यादि महावाक्य ज्ञान से अज्ञान दूर होता है। और ब्रह्म की प्राप्ति या मोक्ष होता है। इन (द्रविडाचार्य) के मत में मोक्ष स्वरूप का ज्ञान है अथवा ब्रह्म की प्राप्ति मोक्ष है। विवर्तवाद और अनिर्वचनीय दोनों स्वीकृत है।

विशिष्टद्वैत ग्रन्थों में प्राप्त श्री द्रविणाचार्य के वाक्य विशेषतया उपासना परक है और परमात्मा के सगुणत्व के प्रतिपादक है। ब्रह्मसूत्र में १/१/१६, २/१/१४, ४/३/२४, ४/४/१६ सूत्रों के शाङ्कर भाष्य में ब्रह्म की सगुणरुपता उसकी उपासना और उपासना के फल की प्राप्ति का प्रतिपादन मिलता है।

श्री शङ्कराचार्य, श्री सुरेश्वराचार्य, वाचस्पति मिश्र, मधुसूदनसरस्वती, रामतीर्थ, नृसिंहाश्रम, आनन्दगिरि आदि आचार्यो ने द्रविड़ाचार्य के प्रति पूज्यभाव प्रकट किया है।

इस प्रकार द्रविड़ाचार्य है, निर्विशेष अद्वैत ब्रह्म के प्रतिपादक और निर्विशेष ब्रह्म के अद्वैत सम्प्रदाय के परमादरणीय विद्वान इनका सिद्धान्त निर्विशेष अद्वैत ब्रह्म के परम अनुकूल है।

आचार्य ब्रह्मदत्त

भगवान शङ्कराचार्य से पूर्ववर्ती वेदान्तियों में आचार्य ब्रह्मदत्त प्रमुखतम है। इन्होंने भी ब्रह्मसूत्र का भाष्य रचा है। इस बात की जानकारी श्री यामुनाचार्य ने अपने 'सिद्धित्रय ग्रन्थ'[1] में और एक अज्ञातनामा विद्वान ने 'प्रपञ्च हृदय' में दी है।

मध्वसम्प्रदाय के 'मणिमञ्जरी' नामक ग्रन्थ में (६/२/३) भगवान शङ्कराचार्य के समकालिक ये है, ऐसा लिखा है, किन्तु इसकी प्रामाणिकता में विद्वानों को संदेह है।[2] सुरेश्वराचार्य ने बृहदारण्यक भाघ्यवार्तिक मे, वेदान्तदेशिक श्री वेंकटनाथ ने 'तत्वमुक्ताकलाप' की 'सर्वार्थ सिद्धिवृत्ति' में वेदान्तचार्य होने के कारण इसका स्मरण किया है।

इनके स्थितिकाल के विषय में कुछ भी ज्ञात नहीं है। आज भी इस आचार्य का स्थितिकाल अनिर्णीत ही है। ऐसा हिरियन्ना महोदय ने भी माना है। तथा उनके मत में ब्रह्मसूत्र भाष्य तथा छान्दोग्योपनिषद भाष्य की भी रचना आचार्य ब्रह्मदत्त ने की। अतएव संक्षेपशारीरक के (३/२१६) की सुबोधिनी टीका में छान्दोग्य वाक्यकार के प्रसंग में इनका नाम उल्लिखित है।

आचार्य ब्रह्मदत्त की कोई रचना उपलब्ध नहीं है। केवल वेदान्त ग्रन्थों में तथा उनकी टीकाओं में उनके मत का उल्लेख प्राप्त होता है। उसके अनुसार ब्रह्म, जीव, जगत्, मोक्ष आदि के विषय में श्री ब्रह्मदत्त के सिद्वान्त सम्बन्धी कुछ तथ्य मिलता है। श्री ब्रह्मदत्त अद्वैतवादी थे। इनके मत में जीव अनित्य है तथा एकमात्र ब्रह्म ही नित्य पदार्थ है।[3] दोनों की भिन्नता प्रतीत होने पर भी ब्रह्म से जीव भिन्न नहीं है किन्तु अभिन्न ही है। अतएवं सुरेश्वराचार्य ने ब्रह्मदत्त को अद्वैतवादी कहकर स्मरण किया है

अनुत्सारित नानात्वं ब्रह्म यस्यापि वादिनः।

---

[1] कं— ....भर्तृहरि ब्रम्हदत्त शंकर श्री वत्साग भाघ्कुरादि विरचित ....। सिद्धित्रये पृ० ५
ख— ब्र० काण्डस्य भगवत्पाद ब्रम्हदत्त भास्करादिर्भितभेदेनापि कृतम्' प्रपंच हृदय पृ० ३६

[2] द्र० — म० म० श्री गोपीनाथ कविराज महोदयस्य वेदान्त दर्शन भूमिकायां पृ० १३

[3] सर्वार्ध सिद्धि २/१६

तन्मतेनापि दुस्साध्यो ज्ञानकर्म समुच्चयः।।

(नै०सि० १/६८)

ब्रह्मदत्त कर्म और ज्ञान के समुच्चय के पक्षपाती प्रतीत होते है परन्तु ब्रह्मदत्त आत्मज्ञान में उपासना विधि का श्रेय मानते है।

सकृत प्रवृत्तया मृदनाति क्रियाकरकरुपभृत।

अज्ञानमैागम ज्ञानं सांगत्य नास्त्यतोऽनयोः।।

(नै०सि० १/६७)

आचार्य श्री ब्रह्मदत्त के समान आर्यवेदान्ताचार्य आश्मरथ्य भी ब्रह्म से जीव का जन्म मानते है किन्तु इन दोनों में इतना भेद है कि आश्मरथ्य भेदाभेदवादी है और ब्रह्मदत्त अद्वैतवादी है।

जीव– ब्रह्मदत्त के मत में जीव अनित्य है; क्योकि उसका जन्म होता है जीव ब्रह्म से उत्पन्न होता है, और ब्रह्म में लीन हो जाता है जैसा कि 'तत्त्व मुक्ताकलाप' में कहा गया है–

'एक ब्रह्म ही नित्य है और उससे इतर सब जन्म आदि लेने वाले है इसलिये जीव भी अचित के समान जन्मवान है।' (त० मु० क० २/१६) आचार्य ब्रह्मदत्त के मत में जीवात्मा अपनी कार्यावस्था में ब्रह्म से भिन्न माना जा सकता है। वह अपने कारण रुप में होने पर ब्रह्म से अभिन्न है। इस प्रकार आचार्य के मत से ब्रह्म और जीव का भेदा–भेद स्वरुप प्रमाणित होता है। पूर्वकाल में जीव जन्मवादी सम्प्रदाय भी था इसका संकेत उपनिषद्, पुराण तथा महाकवियों के बचनों में उपलब्ध है। यथा–

(१) 'तोयेन जीवान् व्यससर्ज भूम्याम्।' (महानारायणोपनिषदि १–४)

(२) प्रकृतिर्या मयाख्यात व्यक्ताव्यक्त स्वरुपिणी।

पुरुषश्चाप्युभावेतौ लीयते परमात्मनि ।। (विष्णुपुराणे ६/४/१२६)

(३) यदि जीव परमात्मा का कार्य होने के कारण परमात्मा ही नही होगा तब परमात्मा से अतिरिक्त होने के कारण परमात्मा के ज्ञान से यह विज्ञान सिद्ध नही होगा, अथवा आत्मा ब्रह्म एक ही पहले था, इस प्रकार सृष्टि से पहले एकत्व का अवधारण होता है।

'जैसे देदीप्यमान अग्नि से तद्रूप सहस्रों चिनगारियां उत्पन्न होती है वैसे ब्रह्म से विविध जीव या पदार्थ उत्पन्न होते है।' इत्यादि वचनों से ब्रह्म से जीवों की उत्पत्ति सुनी गई हैं।

महाकवि कालिदास ने उस समय के प्रचलित सम्प्रदाय के सिद्धान्तानुसार यह कहा है कि–

आत्मनमात्मना वेत्सि सृजस्यात्मानमात्मना।

आत्मनाकृतिना च त्वमात्मन्येव प्रलीयसे।। (कुमार संभवे २/१०)

अर्थात् आप अपने को अपने में ही जानते है और अपने आप अपने को उत्पन्न करते है और जब अपना काम पूरा कर चुकते है तब अपने को अपने में लीन कर लेते है।

इससे स्पष्ट होता है कि परमात्मा जीवों को उत्पन्न करते है। श्री सुरेश्वराचार्य ने भी मानसोल्लास में जीव–जन्म के विषय में कहा है।

जगत

आचार्य ब्रह्मदत्त जीव के समान जगत् का भी जन्म ब्रह्म से मानते है जैसा कि 'तत्वमुक्ताकलाप' में ब्रह्मदत्त का मत कहा गया है– 'एकं ब्रह्मैव नित्यं तदितरदखिलं तत्र जन्मादिमाक्......।' इत्यादि (त० मु० क० २–१६)।

संक्षेप शारीरक की 'सुबोधिनी टीका' में ब्रह्मदत्त के मत में जगत अविद्यामूलक है– यह कहा गया है।

मोक्ष और मोक्ष का साधन

श्री ब्रह्मदत्त के मत में ब्रह्म से उत्पन्न हाने वाले जीव का ब्रह्म में लय ही मोक्ष कहा जाता है। यह लय अज्ञान का नाश होने पर होता है इस अज्ञान के नाश होने का उपाय या मोक्ष साधन केवल ज्ञान था केवल कर्म नही होता है, किन्तु दोनों कर्म और ज्ञान होते है। पहले 'तत्वमसि' इत्यादि औपनिषद महाकाब्यों से ब्रह्म का परोक्ष ज्ञान प्राप्त करके 'अहं ब्रह्मास्मि' इस प्रकार की भावना अपने में करके इसे चिरकालपर्यन्त करना चाहिए। इस प्रकार दृढ़तर अभ्यांस के द्वारा ब्रह्मसाक्षात्कार रुप ज्ञान से अज्ञान की निवृत्ति होती है। इसलिये ज्ञानाभ्यास कर्म का त्याग नही करना चाहिए। इस कारण 'अहं ब्रह्मास्मि' इस ज्ञान के अभ्यास के साथ वैदिक कर्म करने से ज्ञान और कर्म समुच्चय संगत होता है 'देव होकर देवों को प्राप्त करना है' इस श्रुति का भी तात्पर्य ज्ञान और कर्म का समुच्चय ही संगत होता है। ब्रह्मभावना की वृद्धि हो जाने से देवभाव का साक्षात्कार होता है। तब उद्धृत देहपात के अनन्तर उपास्यदेव भाव की प्राप्ति हो जाती है यह ब्रह्मदत्त का मत श्री सुरेश्वराचार्य ने 'नैष्कर्म्य सिद्धि' में उद्वत किया है–

इस प्रकार उपसंहार में कोई अपने सम्प्रदाय के बल के गर्व से कहते है– जो यह वेदान्त वाक्य 'अहं ब्रह्म' यह विज्ञान उत्पन्न होता है, वही उत्पत्ति मात्र से अज्ञान निरस्त हो जाता है तब दिन–दिन लम्बे समय तक उपासना युक्त रहने वाले की भावना की वृद्धि होने से समस्त अज्ञान नघ्ट हो जाता है 'देवोभूत्वा देवानप्योति' ऐसा श्रुति में कहा है। (नै० सि० १/६७)

इस प्रकार ब्रह्मस्वरूप के अवबोधक 'तत्वमसि' इत्सादि वक्यों से ब्रह्मस्वरुप का बोध हो जाने के पश्चात् 'आत्मावाऽरे' इत्यादि वाक्यों से ब्रह्म की भावना की जाती है। इस कारण 'तत्वमसि' इत्यादि वाक्य केवल ब्रह्म स्वरूप मात्र का बोधक है। अज्ञान की निवृत्ति तो भावनाजन्य ज्ञान की निवृत्ति से ही होती है। अतएव आत्मा भावना निधेय है। इस प्रकार कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्ड दोनों साध्य विषयक है न कि सिद्धविषयक।

प्रसंख्यानम्

श्री ब्रह्मदत्त प्रसंख्यान को स्वीकारते है। दूसरे वेदान्ती जैसे 'दशमस्त्वमसि' इस वाक्य से साक्षात्कार होता है उसी प्रकार 'तत्वमसि' इत्यादि महावाक्य से ब्रह्मसाक्षात्कार होता है। ऐसा मानते है, किन्तु प्रसंख्यानवादी ऐसा नही मानते है।

'प्रसंख्यान' शब्द का अर्थ 'नैष्कम्यसिद्धि'[1] तथाा उसकी टीका चन्द्रिका में वर्णित है– 'नैष्कर्म सिद्धिचन्द्रिका टीका' में– प्रसंख्यानस्य चित्तैकाग्रय्रूपस्य।'

श्री ब्रह्मदत्त मानते है कि 'तत्वमसि' इत्यादि वाक्य के सुनने से आत्मस्वरूप विषयक अखण्डाकार वृत्ति उत्पन्न नही होती है। इसलिये कि शब्दों में वैसी शक्ति है जिससे वैसी अखण्डाकार वृत्ति का उदय होता है।

आचार्य भर्तृप्रपञ्च और मण्डन मिश्र भी प्रसंख्यानवादी थे। आचार्य भर्तृप्रपञ्च का साक्षात प्रसंख्यान पक्षीय वचन उपलब्ध नही होता है। केवल वृहदारण्यकोपनिषद्भाष्य वार्तिक में तथा नैघ्कर्म्य सिद्धि में उनका प्रसंख्यान खण्डन प्राप्त होता है। श्री मण्डनमिश्र ने तो ब्रह्मसिद्धि में बहुत बार प्रसंख्यान पक्ष को उपस्थित किया है। जैसे– ब्रह्मसिद्धि में– 'साक्षात्प्रमिते ब्रह्मणि साक्षात्कारायप्रवृत्तेरिष्टत्वात्। (ब्र० सि० सि० का० ११ का० पृ० १५६)

ध्याननियोगवादी

श्री ब्रह्मदत्त ध्याननियोगवादी थे न कि नियोगवादी। नियोगवादी वह कहलाता है जो तत् त्वं पदार्थ के शोधन द्वारा ब्रह्म और आत्मा को एक मानता है जैसे भगवान शङ्कराचार्य और उनके अनुयायी। ध्यान नियोगवादी श्री ब्रह्मदत्त जीवनमुक्ति को नही मानते है। देहपात के अनंतर ही ब्रह्मप्राप्ति या मोक्ष संभव है। श्री मरलीधर पाण्डेय ने

---

[1] नैष्कर्म्य सिद्धि – ३/६०

उद्धृत किया है– 'एतच्चबृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यवर्तिकेनैष्कर्म्यसिद्धेश्चन्द्रिकाटीकायां च स्पष्टीकृतम्'[1]

'भावनोपचयाद देवो भूत्वा विद्वानिहैव तु।

देवानप्येति सोऽग्न्यादीञ् शरीरत्याग्रतः परम्।।'

(वृ० अ० उ० भा० वा० ४/१/२७ पृ० १३५७)

श्री ब्रह्मदत्ताचार्य के सिद्धान्त संक्षेप में ये है–

१. ब्रह्म से जीव उत्पन्न होते है और ब्रह्म में लीन हो जाते है।

२. उपनिघद् वाक्यों में 'आत्मा वाऽरे' इत्यादि वाक्यों की प्रधानता है न कि 'तत्वमसि' इत्यादि वाक्यों की।

३. भावना की प्रधानता, नियोग की नहीं।

४. ब्रह्मदत्त का जीव विज्ञानवादियों की भांति प्रतीत होता है।

५. श्री ब्रह्मदत्त नैरयायिकों के समान असत्कार्यवादी प्रतीत होते है।

६. ये ध्यान नियोगवादी है। ये प्रपञ्च विलयवाद को मानते थे इसका खण्डन शङ्कराचार्य ने किया है।

७. ये जीवनमुक्ति को नही मानते है।

८. ये श्री भर्तृप्रपञ्च तथ मण्डन मिश्र के अभिप्रेत ज्ञान, कर्म समुच्चय से भिन्न प्रकार के ज्ञान–कर्म समुच्चय को मानते है।

९. ये प्रसंख्यानवादी है।

१०. श्री ब्रह्मदत्त का जीव चार्वाक आदि के समान नश्वर है।

११. श्री ब्रह्मदत्त का जीव पौराणिकों की भांति प्रलयकाल में शरीर के साथ ब्रह्म में प्रलीन हो जाता है।

---

[1] श्री मुरलीधर पाण्डेयः श्रीशंकरात्प्रागद्वैतवादः पृ० २८८

१२. मण्डन मिश्र और सुरेश्वर ने भी इनके मत का निराकरण किया है।

आचार्य भर्तृप्रपञ्च– आचार्य भर्तृप्रपञ्च एक प्रख्यात वेदान्ती थे। उनका मत भेदा–भेदवाद है। इनका कोई भी व्याख्या ग्रन्थ, ब्रह्मसूत्रों पर लिखा हुआ उपलब्ध नहीं होता है। संक्षेपशारीरिक के टीकाकार मधुसूदन सरस्वती ने भर्तृप्रपञ्च को ब्रह्मसूत्र का भाष्यकार मानते है 'कैश्चित् तत् सूत्रं व्याचक्षाणै भर्तृप्रपंचादिभिः।'[1]

यामुनाचार्य ने अपने 'सिद्धित्रय' में भर्तृप्रपञ्च को वेदान्त दर्शन का लेखक स्वीकार किया है। इसके अतिरिक्त कठोपनिपद तथा बृहदारण्यक उपनिषद् पर भी भाप्य लिखे थे।

दार्शनिक सिद्धान्त– इनके सिद्धान्त को भेदा भेदवाद, द्वैताद्वैतवाद अथवा अनेकान्तवाद कहा जाता है। परमार्थ ब्रह्म में एक है जगतरुप में अनेक है। जीव नाना तथा परमात्मा एकदेश मात्र है। ब्रह्म में अनेक जीवों की सत्ता होने के कारण ही वह अनेक रुप है और मूलतः ब्रह्म रुप में वह एक है। जीव द्रप्टा, कर्ता, भोक्ता, है। वे कर्मज्ञान समुच्चयवादी थे।

भर्तृप्रपञ्च के अनुयायी चार सम्प्रदायों में बंटे थे, इससे शङ्कर पूर्व ही वेदान्त का प्रचार हुआ। भर्तृप्रपञ्च सतब्रह्म की आठ अवस्थाओं को मानते थे। जो निम्न है– (१) अर्न्तयामी, (२) साक्षी (३) अव्याकृत (४) सूत्रात्मा (५) विराट (६) देवता (७) जाति (८) पिण्ड। इनके कुछ अनुयायी (भर्तृप्रपत्र्च के) ब्रह्म की तीन अवस्था को मानते है। अक्षर, अर्न्तयामी, क्षेत्रज्ञ। और कुछ पांच, कुछ आठ अवस्था को मानते है। कुछ लोग इन अवस्थाओं को अक्षर की शक्ति मानते है तो कुछ लोग इन्हें विकार मानते है।

परिणामवाद

[1] मधुसूदन सरस्वती की टीका ' संक्षेप शारीरक', १/७ पर।

यह जगत को ब्रह्म का परिणाम मात्र माना है। आचार्य शङ्कर ने भी परिणामवाद को माना था किन्तु आधुनिक परिभाषा परिणाम और विवर्त की उस समय स्पप्ट नही थी। ब्रह्म का परिणाम तीन प्रकार से होता है–

(१) अर्न्तयामी तथा जीवरूप में (२) अव्याकृत, सूत्र विराट तथा देवता रूप में।

(३) जाति तथा पिण्ड रूप में।

भर्तृप्रपञ्च के मत से जगत् सर्गकाल की यही संक्षिप्त व्याख्या है।

मोक्ष–आचार्य भर्तृप्रपञ्च जीवात्मा को ब्रह्म का परिणाम स्वीकार करते है। जीवन मुक्ति और विदेह मुक्ति की तरह ही मुक्ति के दो रुप मिलते है (१) अपरमोक्ष (२) परमोक्ष। शरीर रहते जब ब्रह्म साक्षात्कार हो जाता है तब इसे अपरमोक्ष, जीवनमुक्ति या 'अपवर्ग' कहते है।

जब देहपात हो जाता है तब 'परामुक्ति' की प्राप्ति होती है यही विदेह मुक्ति या परम मोक्ष है। इस प्रकार भर्तृप्रपञ्च ब्रह्म साक्षात्कार हो जाने पर भी देह के रहते अविद्या की पूर्ण निवृत्ति नही मानते है। देह की प्रवृत्तियों का कारण अविद्या है।

प्रमाण समुच्चयवाद– ये लौकिक और वैदिक दोनों प्रमाणों को मानते थे। इसलिए ये 'प्रमाण समुच्चयवादी' कहलाते है। इस प्रकार इनके सिद्धान्त को चार भागों में डा० वीर मणि उपाध्याय ने बांटा है– (१) राशित्रय वाद (२) परिणामवाद (३) अनेकान्तवाद (४) मोक्षनिरुपण।

राशित्रयवाद में परमात्मा को उत्तम राशि, जीव को मध्यम राशि और जगत को अधम राशि कहा है। डा० संगम लाल पाण्डेय ने इनके सिद्धान्त को सांख्य और अद्वैत दर्शन के बीच की एक कड़ी माना है। डा० मैसूर हिरियन्ता ने इन्हें परिणामवादी माना है।

आचार्य शंकर ने वृहदारण्यकोपनिषद् भाष्य में ५/१/१ में "अत्रैके वर्णयन्ति" से आचार्य भर्तृप्रपञ्च के भेदाभेदवाद का खण्डन करते है तथा आचार्य शंकर 'नेति नेति' से ही ब्रह्म का वर्णन स्वीकार करते है।

आचार्य सुन्दरपाण्ड्य– सुन्दरपाण्ड्य श्री शङ्कर प्राग अद्वैत वेदान्ती रहे है। ये दक्षिण भारत के मीमांसा एवं वेदान्त दर्शन के विद्वान थे। इनका स्थितिकाल कुछ लोग ६५० ई० मानते हैं।[1] ये पाण्ड्यराज कुब्जवर्धन अथवा कुल पाण्ड्य इन दो नामों से भी प्रसिद्ध थे। इनकी उपाधि 'अरिकेशरि' थी। प्रसिद्ध शैवाचार्य तिरुज्ञान सम्बन्ध के प्रभाव से आचार्य सुन्दर पाण्ड्य ने जैन धर्म को त्यागकर शैवधर्म को स्वीकार कर लिया। इन्होंने अपनी उपासना की महिमा से तिरसठ शैवाचार्यो में प्रमुख स्थान प्राप्त किया।

कुछ विद्वानों के मत में तो सुन्दर पाण्ड्य राजा नेडूमारण अथवा महाराज नायनर का नाम दूसरा नाम सुन्दर पाण्ड्य था।[2]

इनका वेदान्त विषयक ग्रन्थ इस समय उपलब्ध नहीं है। ये दक्षिण भारत के मीमांसा वेदान्त दर्शन के विद्वान थे। इन्होंने ब्रह्मसूत्र के किसी प्राचीन भाष्य से सम्बन्धित कारिकाबद्ध वार्तिक ग्रन्थ की रचना की थी। इस सम्बन्ध में कोई निश्चित मत तो नही मिलता, किन्तु विद्वानों का मन्तब्य है कि शङ्कराचार्य ने 'समन्वयाधिकरण' के भाष्य के अन्त में (ब्र० सू०, शां० भा० १/१/१४) जो निम्नलिखित तीन श्लोक उद्धत किये है वे सुन्दर पाण्ड्य के वार्तिक ग्रन्थ से उद्धत है:

अपि चाहुः गौणमिथ्यात्मनोसत्वे पुत्रदेहादि वाधनात्।
सद् ब्रह्मात्माह मित्वेवं बोधे कार्य कथं भवेत्।।
अन्वेष्टव्यात्म विज्ञानात् प्राक् प्रमातृत्व मात्मनः।

---

[1] म० म० श्री गोपीनाथ कविराज महोदय का 'शंकर से पूर्व के आचार्य' शीर्षक लेख, 'कल्याण' पत्रिका १९६३ वै० सं० वेदान्तांक पृ० ६३८ में प्रकाशित।

[2] महामहोपाध्याय कुप्पू स्वामी शास्त्री द्वारा लिखित लेख–Some Problems of Identify in the cultural History of Ancient India (Journal of oriental Research, Madras, Vol.I

अन्विष्टःस्यात् प्रमातैव पापदोषादि वर्जितः।।

देहात्मप्रत्ययो यद वत् प्रमाणत्वेन कल्पितः।

लौकिकं तद्वदेवेदं प्रमाणं त्वात्मनिश्चयात्।। (ब्र० सू० शां० भा० १/१/४)

भामतीकार वाचस्पति मिश्र ने उपर्युक्त श्लोकों का 'ब्रह्मविदां गाथा' कहकर वर्णन किया है परन्तु नरसिंह स्वरुप के शिष्य आत्मस्वरूप द्वारा रचित पदमपाद की पञ्चपादिका की टीका प्रबोध परिशोधनी की अनुसार उपर्युक्त श्लोक सुन्दर पाण्ड्य कृत ही बतलाये जाते है। अमलानन्द के कल्पतरु (३/३/२५) में सुन्दर पाण्ड्य के वचन 'निःश्रेण्यारोहणप्राप्यम्' उद्धत है।[1]

गैड़पाद– अद्वैत वेदान्त के प्रतिष्ठापक आदि आचार्य शङ्कर के प्राचार्य[2] श्री गौड़पाद है। इनकी प्रसिद्ध कृति "माण्डूक्यकारिका" है। गौड़पाद के अद्वैत सिद्धान्त से मिलता–जुलता आचार्य का अद्वैत वेदान्त है। शङ्कर का मायावाद गौड़पाद से प्रभावित है। क्योकि उपनिपदों में स्पप्ट रूप से माया का उल्लेख न होकर मायावाद के पूर्वाभास की झलक मिलती है। विश्व प्रपञ्च की शून्यता का स्पष्ट प्रतिपादन बौद्ध सम्प्रदायों में मुख्यतया विज्ञानवाद और भारतीय दर्शन में पाया जाता है। गौड़पाद की जगत को 'अविद्यात्मक या मायिक' बतलाये हैं। आचार्य शङ्कर ने गौड़पाद निर्मित माण्डूक्य कारिका पर अपने भाष्य में परमगुरु को नमस्कार, किया है–

'यस्तं पूज्याभिपूज्यं परम गुरुममुं पादपातैर्नतोऽस्मि। (मा० का० शा० भा० अन्ते ब्र० सू० शां० भा०) में आचार्य शङ्कर ने परमगुरु गौड़पाद का नामोल्लेख बड़े आदर के साथ किया है– और दो स्थलों पर उल्लेख किया है।[3] श्री शङ्कर सम्प्रदाय में गुरुवन्दन परम्परा में इस प्रकार गुरुनामावली का उल्लेख प्राप्त होता है।

---

[1] ब्र० सू० ३/३/२५ शाङ्कर भा० कल्पतरु पृ० ७६५

[2] प्राचार्य से तात्पर्य आचार्य के आचार्य अर्थात् गोविन्द भगवतपाद के गुरु।

[3] क. सम्प्रदाय विदो वदन्ति (१/४/१४)
ख. वेदान्तार्थ सम्प्रदायविद्भिराचार्यैः। (२/१/६)

नारायणं पदमभवं वसिष्ठं शक्तिं च तत्पुत्रपराशरं च,

व्यासं शुकं गौड़पादं महान्तं गोविन्द योगीन्द्रमथास्य शिष्यम्

श्री शङ्कराचार्यमथास्य पद्मपादं च हस्तामलकं च शिष्यम्।

तत्तोटकं वार्तिककारमन्यानस्मद्गुरुं सन्ततमानतोऽस्मि।।

इस प्रकार गुरु परम्परा में व्यास तथा शुक के अनन्तर आचार्य श्री गौड़पाद का नाम आता है।

योग वासिष्ठ में श्री शुक का उल्लेख इस प्रकार किया गया है।[1] भगवान शङ्कर ने अपने श्वेताश्वतरोपनिषद के भाष्य में आचार्य गौड़पाद को श्री शुकाचार्य का शिष्य कहा है।[2]

श्री मुरलीधर पाण्डेय ने अपने ग्रन्थ श्री शङ्करप्राग्द्वैतवाद में श्री गौणपाद की गुरुपरम्परा को इस प्रकार उल्लिखित किया– "एतद्विषये म० म० श्री गोपीनाथ शर्मक विराज महोदयेन ब्रह्मसूत्र भूमिकायां लिखितं यद्जम्मूस्थ श्री रघुनाथ मन्दिर ग्रन्थालय स्थिते श्री विद्यार्णवे ग्रन्थे (कश्मीरतः प्रकाशित) श्री गौणपादस्य गुरु परम्परेत्थं निवद्धास्ति (१) कपिलः (२) अत्रिः (३) वसिप्ठः (४) सनकः (५) सनन्दन, (६) भृगुः (७) सनत्सुजातः (८) वामदेवः (६) नारदः (१०) गौतमः (११) शनकः (१२) शक्तिः (१३) मार्कण्डेयः (१४) कौशकः (१५) पराशरः (१६) शुकः (१७) अंगिराः (१८) कण्वः (१६) जावात्रि (२०) भारद्वाजः (२१) वेदव्यासः (२२) ईशानः (२३) रमणः (२४) कपर्दी (२५) भूधरः (२६) सुभतः (२७) जलजः (२८) भूर्तशः (२६) परमः (३०) विजयः (३१) विजयः (३२) मरणः (भरतः) (३३) पदमेशः (३४) सुभगः (३५) विशुद्ध (३६) समरः (३७) कैवल्यः (३८) गुणेश्वरः (३६) सपायः (४०) योगः (४१) विज्ञानः (४२) अनङ्गः (४३) विभ्रमः (४४) दामोदरः (४५) चिदाभासः (४६)

---

[1] जगाम शिखरं मेरोः समाध्यर्थमनिन्दितम्।
तत्र वर्षसहस्राणि निर्विकल्पसमाधिना।।
दश स्थित्वा शशामासावात्मन्यस्नेहदीपवत्। (यो० वा० ११, १, ४३, ४४)

[2] शुकशिष्यो गौडपादाचार्यः (श्वेता उ०)

चिन्मयः (४७) कलाधरः (४८) विश्वेश्वरः (४६) मन्दारः (५०) त्रिदशः (५१) सामरः (५२) मृडः (५३) हर्पः (५४) सिंहः (५५) गौणः (५६) वीरः (५७) अघोरः (५८) ध्रुवः (५६) दिवाकरः (६०) चक्रधरः (६१) प्रणयेशः (६२) चर्तुभुजः (६३) आनन्दभैरवः (६४) धीरः (६५) गौणपाद एवमात्रान्ये च आचार्य कपिलादारभ्य श्री शङ्करपर्यन्तम् एकसप्ततिः संख्या गुरुणां परिगणिताः। श्री गौणपादाद् श्री शङ्कराचार्य मध्ये सप्तगुरवः सन्ति।[1] श्री विद्यार्णव के प्रथम श्वास में कहा गया है–

तच्छिष्याण क्रमं ज्ञात्वा स्वगुरुक्त विधानतः।

स्मरणात् सिद्धिमाप्नोति साधकस्तु न संशयः।।

श्री गौणपाद के काल निर्धारण विषय में महान विवाद है। ईसा पूर्व आठवी सदी में ईशोत्तर सातवीं सदी पर्यन्त के बीच का समय माना जाता है। श्री प्रज्ञानन्द सरस्वती महोदय अपने ग्रन्थ वेदान्त दर्शन में ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी का समय निर्धारित किया है। श्री विधुशेखर भट्टाचार्य इनका समय सातवीं शती के पश्चात का माना है। जिस प्रकार काल निर्धारण के विषय में विवाद है उसी प्रकार गौणपाद की कृतियों को लेकर भी मतैक्य नही है।

१. माण्डूक्योपनिषत्कारिका (आगम शास्त्रम्) २. सांख्यकारिका भाष्यम्।

३. नृसिंहोत्तर तापन्युपनिपद् व्याख्या   ४. श्री दुर्गासप्तशती टीका

५. सुभगोदयः   ६. श्री विद्यारत्न सूत्रम

इन ग्रन्थों में माण्डूक्य उपनिषद् कारिका ग्रन्थ श्री गौणपाद की प्रसिद्ध कृति है। यह ग्रन्थ अद्वैत सिद्धान्त की आधार शिला है। जिस प्रकार श्री मद्भगवद गीता के विषय में यह प्रसिद्ध है कि "गीता सुगीता कर्तव्याकिमन्यच्छास्त्रविस्तरैः" उसी प्रकार अद्वैतबोध के लिए यह दृढ़तापूर्वक कहा जा सकता है इस ग्रन्थ का सुगम अनुशीलन

[1] श्री मुरलीधर विरचित– श्री शङ्करात् प्रागद्वैतवाद, पृ० ३०५

ही पर्याप्त हो सकता है। क्योंकि इसके विषय में महत्वपूर्ण कथन है कि यह अकेले ही मुमुक्षुओं को परमपद की प्राप्ति करा सकता हैं। इस ग्रन्थ में चार प्रकरण है। उनमें क्रमशः २९, ३८, ४८, १०० इस प्रकार कुल मिलाकर २१५ कारिकाएं है। प्रथम प्रकरण आगम प्रकरण है। इस प्रकरण में सम्पूर्ण माण्डूक्योपनिषद् की व्याख्या हुई है और साथ ही जगदुत्पत्ति के अनेक प्रयोजनों का वर्णन और उनका खण्डन किया गया है। कुछ लोग सृष्टि का हेतु भगवान को मानते है, कुछ लोग काल से भूतों की उत्पत्ति मानते है, कोई भोग के लिए सृष्टि स्वीकार करते है, कोई क्रीड़ा के लिए जगत की उत्पत्ति मानते है। भगवान कारिकाकार इन सभी पक्षों को अस्वीकार करते है– देवस्यैष स्वभावोऽयमाप्तकामस्य का स्पृहा' (१/९)। अर्थात् पूर्णकाम भगवान को सृष्टि का कोई प्रयोजन नहीं है। यह तो उनका स्वभाव ही है। अतः यह जो कुछ प्रपञ्च है वह वास्तव में है नहीं, केवल बिना हुआ ही भास रहा है।

सिद्धान्त– प्रणव की उपासना– 'प्रणव' से तात्पर्य 'ओम' शब्द से है। मा० का० में– 'प्रणवो ब्रह्म निर्भयम्' (मा० का० १–२५) 'प्रणव' ही अपर ब्रह्म है। ओंकार ही अपरब्रह्म माना गया है। वह ओंकार अपूर्व, अर्न्तवाहय शून्य, अकार्य तथा अव्यय है।

'प्रणवो हह्यपरं ब्रह्म प्रणवश्च परः स्मृतः।
अपूर्वोऽनन्तरंऽवाह्योऽनपरः प्रणवोऽव्ययः।। (मा० का० ०१–२६)

प्रवण ही सबके हृदय में स्थित ईश्वर है। इस प्रकार सर्वव्यापी ओंकार को जानकर बुद्धिमान पुरुष शोक नही करत– 'सर्वव्यापिनमोंकारं मत्वा धीरो न शोचति।'

जिसको ओंकार के अर्थ का भली–भांति ज्ञान हो जाता है वही मुनि है और कोई पुरुष नहीं है– 'अमात्रोऽनन्तमात्रश्च द्वैतस्योपशमः शिवः। ओंकारों विदितो येन स मुनिर्नेतरो जनः।। (मा० का० १–२९)

'ओम्' यह अक्षर ही सब कुछ है जो कुछ भूत–वर्तमान और भविष्यत सब कुछ है उसी की व्याख्या है। इसके अतिरिक्त जो कुछ भी त्रिकालातीत वस्तु है वह भी ओंकार ही है। 'ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वमिति ....।'[1]

आचार्य बलदेव उपाध्याय ने लिखा है– "प्रणव का अर्थ ओम्" है ओम् में चार मात्राएं है। अ, उ, म और अर्द्धमात्र इन मात्राओं से क्रमशः जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय अवस्था का बोध होता है और उनमें जो सत्ता विद्यमान रहती है उसका ही वाचक ओम् है। ओम् का ध्यान ब्रह्म का ध्यान है। परवर्ती आचार्यो ने सोऽहम् से ओम् की निष्पत्ति की है और ओम् का अर्थ बताया है, "मैं ब्रह्म हूँ।'[2]

आत्मवाद

आत्मवाद के सिद्धान्त में गौणपाद स्पष्ट करते है कि आत्मा, जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति तुरीय अवस्थाओं से परे है। माण्डूक्योपनिषद में ओंकार की तीन मात्रा अ उ म के द्वारा स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीर के अभिमानी विश्व, तैजस् और प्राज्ञ का वर्णन करते हुए उनका समष्टि अभिमानी वैश्वानर, हिरण्यगर्भ, एवं ईश्वर के साथ अभेद किया गया है। इनकी अभिव्यक्ति की अवस्थाएं क्रमशः जाग्रत स्वप्न, और सुषुप्ति है तथा इसके भोग स्थूल, सूक्ष्म और आनन्द है। जाग्रत अवस्था में जीव दक्षिण नेत्र में स्थित रहता स्वप्न की स्थिति में कण्ठ में और सुषुप्ति की अवस्था में हृदय में रहता है इसी का नाम 'प्रपञ्च' है।

अजातवा :— सत्कार्यवाद और असत्कार्यवाद दोनों का खण्डन करते हुए गौणपाद ने अजातवाद को स्थापित किया है।

भूतं न जायते किंचिद अभूतं नैव जायते।

---

[1] माण्ड्क्योपनिषद– गीताप्रेस गोरखपुर पृ० ७

[2] संस्कृत वाङ्गमय का वृहद इतिहास (दशमखण्ड वेदान्त) पृ० ८ प्रधानसम्पादक– पद्मभूषण आचार्य वल्देव उपाध्याय सम्पादक– प्रो० सगम लाल पाण्डेय

ववदन्तोऽद्वया ह्ययेवमजातिं ख्यापयन्ति ते।। (मा० का० ४/४)

माण्डूक्य करिका में कहा गया है कि ये वादी लोग अजात वस्तु का ही जन्म होना स्वीकार करते है किन्तु जो पदार्थ निश्चय ही अजात और अमृत है वह मरणशीलता को कैसे प्राप्त हो सकता है।

अजातस्यैव धर्मस्य जातिमिच्छन्ति वादिनः।

अजातो ह्यमृतो धर्मो मर्त्यतां कथमेस्यति।। (मा० का० ४/६)

आचार्य गौणपाद ने लिखा है कि – कोई वस्तु न तो स्वतः उत्पन्न होती है और न परतः और न उभयतः।

"स्वतो वा परतो वापि न किंचिद् वस्तु जायते।

सदसत्सदसद्वापि न किचिद्वस्तु जायते।।" (मा० का० ४/२२)

इस कारिका पर नागार्जुन की पुनरावृत्ति स्पप्ट रूप से परिलक्षित होती है।[1] इस प्रकार कार्यकारण अनुपपन्न है। कार्य–कारण से अनन्य है, अन्य नहीं। वास्तव में अजाति ही सत्य है। इस प्रकार तर्कतः अद्वैत को स्थापित करते है। आचार्य गौणपाद की महानता यह भी है कि वह स्वयं वैदिक परम्परा के आचार्य होते हुए भी 'अजातिवाद' को स्वीकार करते है। यथा– ख्याप्यमानामजातिं तैरनुमोदामहे वयम्। विवदामो न तैः साधर्मविवादं निबोधत।। (मा० का० ४/५)

गौणपाद का मत है कि– उनका (बौद्धों का) जो अजाति वाद विषयक कथन है उसका हम अनुमोदन करते है। हम उसके साथ विवाद नहीं करते है। आगे चलकर इस अजातिवाद को शङ्कराचार्य ने भी परमार्थ सत्य के रूप में स्वीकार किया है।

मायावाद

जिस प्रकार स्वप्न में हमें द्वयाभास होता है वैसे जाग्रत अवस्था में भी होता है।

---

[1] न स्वतो जायते भावः परतोनैव जायते। न स्वत परतश्चैव जायते जायते कुत।। (म० का०, २१–१३

यह द्वयाभास वास्तविक नहीं है केवल मायिक है।

यथा स्वप्ने द्वयाभासं स्पन्दते भायया मनः।

तथा जाग्रद् द्वयाभासं स्पन्दने मायया मनः।। (मा० का० ३/२६)

वेद और उपनिषदों में भी माया का स्पप्ट निरुपण किया गया है ' नेहनानास्ति किंञ्चन', इन्द्रो मायाभि, पररुप ईयते' इत्यादि उदाहरणों से मायावाद स्पप्ट होता है। इस नामरुपात्मक जगत की प्रतीति माया के कारण ही भासित होती है। और वह परमात्मा माया से ही उत्पन्न होता है।[१] शां भाप्य गौणपाद कारिका में– सतो हि विद्यमानात् कारणात् मायानिमितस्य हस्तत्यादि कार्यस्यैव जगज्जन्मयुज्यते।[२]

माया ही संसार का र्हतु है इसकी मोहन शक्ति अतीव बलवती है जिससे कि वह परमात्मा भी स्वयं मोहित हो रहा है।

"मायैषा तस्य देवस्य यया संमोहित स्वयम्।'[3] (मा० का० २/१६)

इस प्रकार भगवान गौणपादाचार्य मानते है कि प्रतीति माया के कारण ही है– "मायामात्रमिदं द्वैतमद्वैतं परमार्थतः" (मा० का० १–१७) यह माया न तो सत है न तो असत है, और न सदसत् है। न भिन्न है न अभिन्न है और न भिन्नाभिन्न है। यह न सावयव हे और न निरवयव है और न तो उभयरूप है। वस्तुतः स्वरूप विस्मृति ही माया है। अतः स्वरुपज्ञान से ही उसकी निवृत्ति होती है। जिस प्रकार मन्द अन्धकार में रज्जूतत्व का निश्चय न होने पर उसमें सर्प का भान होता है उसी प्रकार मायोपाहित जीव को भी भेटप्रपञ्च की भ्रान्ति होती है। माया के हटते ही एकमात्र अखण्ड अद्वैत वस्तु ही अवशि ट रह जाती है।[४] जैसे– स्वप्न–माया और गन्धर्व नगर होते है वैसा ही

---

[१] माण्डूक्योपनिषद– गीताप्रेस गोरखपुर पृ० १४५

[२] शाङ्कर भाष्य गौणपाद कारिका मे ३/२७

[3] शाड्कर भाष्य गौणपाद कारिका में ३/२७

[4] माण्डूक्योपनिषद् – गीताप्रेस गोरखपुर पृ० ४८
अनादिमायया सुप्तो यदा जीवः प्रबुध्यते। अजम निद्रम स्वप्नमद्वैतं बुघ्यते तदा ।। (मा० का० १/१६)

विद्वतजन इन प्रपञ्च को देखते है। तो फिर परमार्थ क्या है? इसका उत्तर आचार्य ने इस कारिका से दिया है।

न निरोधो न चोत्पात्तिर्न बद्धो न च साधकः।

न मुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता।। (मा० का० २/३२)

जीव

आचार्य जीवस्वरूप को घटाकाश महाकाश के दृष्टान्त से स्पष्ट करते है। जिस प्रकार महाकाश ही घटाकाश रुप में प्रतीत होता है वैसे ही ब्रह्म भी जीव रुप में प्रतीत होता है।

आत्मा ह्यकाशवज्जीवैघटाकाशैरिवोदितः।

घटादिवच्च संघातैर्जातावेतन्निदर्शनम्।। (मा० का० ३/३)

घटाादि के लीन होने पर जिस प्रकार घटाकाशादि महाकाश में लीन हो जाते है उसी प्रकार जीव इस आत्मा में विलीन हो जाते है।

अद्वैतवाद का अविरोध

अद्वैतवाद सभी द्वैतवादों की प्रागपेक्षा है। द्वैतवाद के पोषक मतावलम्बियों का आपस में विवाद है पर अद्वैतवाद से उनका कोई विरोध नहीं है।

वसिद्धान्त व्यवस्थासु द्वैतिनो निश्चता दृढ़म्। परस्परविरुध्यन्ते तैरयं न विरुध्यते। अद्वैतं परमार्थो हि द्वैतं तद्भेद उच्यते। तैषामुभयथाद्वैतं तेनायं न विरुध्यते।। (माण्डूक्यकारिका– ३/१७–१८)

वस्तुतः एकमात्र अद्रव्य तत्व आत्मा की ही सत्ता है। आत्मा के विषय में कहा गया है कि आत्मा एक अखण्ड, अजन्मा, और निर्लेप है। इसी से– 'एकमेवाद्वितीयम' 'इद सर्वयदयमात्मा' तथा 'द्वितीयादैभयं भवति' उदर मन्तरं कुरुते अथ तस्य भयं भवति' आदि श्रुतियों से अभेद दृष्टि की प्रशंसा और भेद दृष्टि की निन्दा की गयी है। इस

प्रकार सारा द्वैत व्यवहारिक दृष्टि से हे। परमार्थतः कोई द्वैत नही है। यह सारा द्वैत केवल मनोदृश्यमात्र है मन के अमनीभाव को प्राप्त होते ही द्वैत की तनिक भी उपलब्धि नही होती है। ' मायामात्रमिदं द्वैतमद्वैतं परमार्थतः।' (मा० का० १–१७) अद्वैततत्व के विषय में आचार्य गौणपाद ने लिखा है–

न कश्चिज्जायते जीवः संम्भावोऽस्य न विद्यते।

एतत्तदुत्तमं सत्यं यत्र किंचिन्न जायते।। (मा० का० ३/४८)

मोक्षवाद

इस मत में द्वैत ही प्रपञ्च है, प्रपञ्च ही संसार है और प्रपञ्च का अभाव ही मोक्ष है। यथोक्तम्–"प्रपञ्चोपशमः शिवः।" (माा० का० १–२६) जैसे स्वप्न दिखाई पड़ता है, जैसे माया दिखाई पड़ती है, जैसे गन्धर्व नगर होता है, उसी प्रकार वेदान्त में निष्णात् बुद्धिमानों को यह विश्व दिखाई पड़ता है।

स्वप्नमाये यथा दृष्टे गन्धर्व नगरं यथा।

तथा विश्वमिदं दृष्टं वेदान्तेषु विचक्षणै।। (मा० का० २–३१)

मोक्ष नित्य प्राप्त है यह आत्मज्ञान है इसकी प्रतीति अज्ञान के निवृत्त हो जाने पर सब को होती है। बन्धन और मुक्ति उत्पत्ति और निरोध, साधक और साध्य ये सब वाणी के विलासमात्र है। परमार्थ तत्त्व केवल अद्वैत है।

क्या गौडपाद प्रच्छन्न बौद्ध थे? कुछ आधुनिक विद्वानों ने गौड़पाद पर प्रच्छन्न बौद्व होने का आरोप लगाया है। उनका कथन है कि अद्वैतवाद गौणपाद का अपना सिद्वान्त नही है बल्कि अपने सिद्धान्त की आड़ (ओट) में बौद्ध सिद्धान्त का ही प्रतिपादन किया है। पं० विधुशेखर भट्टाचार्य जिन्होंने गौणपाद के आगम शास्त्र की तुलना शून्यवाद के ग्रन्थों से की है किन्तु गौणपाद ने स्वयं लिखा है कि वे जो कुछ कह रहे है– "नैतद् बुद्धेन भाषितम्" (माण्डू० कारिका ४/९९)

गैड़पाद ने प्रच्छन्न बौद्ध न होने का प्रमाण देते हुए लिखा है कि शून्यवाद अद्वयवाद है, अद्वैतवाद नही। इस अन्तर को न समझने के कारण लोगों ने गौणवाद को "प्रच्छन्न बौद्ध" कहा है। वे शुद्ध अद्वैत वेदान्ती है जो शाङ्कर सम्प्रदाय में सम्प्रदायविद आचार्य के रुप में माने जाते है। अतः गौणपाद की माण्डूक्य कारिका अद्वैतवेदान्त का एक मानक ग्रन्थ थें।

गोविन्द पाद

अद्वैतवेदान्त की गुरु परम्परा अत्यन्त प्राचीन तथा महत्वपूर्ण है। उपनिषदों में आपाततः दीख पड़ने वाले विरोधों को दूर करने तथा मूल सिद्धान्त की व्याख्या करने केलिये महर्षि बादरायण व्यास ने ब्रह्मसूत्रों की रचना की तथा उनके तत्त्व अपनें पुत्र शुकदेव को सिखलाये। इन्हीं शुकदेव से गौड़पाद ने अद्वैत कारिकाओं की रचना की। गौडपाद के शिष्य हुये गोविन्दपाद और उनके शिष्य शङ्कराचार्य थे। इस प्रकार अद्वैतशङ्कर से आरंभ न होकर के अत्यन्त प्राचीन परम्परा से उन्हें प्राप्त हुआ था जैसा कि शङ्करदिग्विजयके निम्न श्लोक से स्पष्ट है कि–

व्यासः पराशरसुतः किल सत्यवत्यां तस्याऽऽत्मजः शुकमुनिः प्रथितानुभावः।
तच्छिष्यतामुपगतः किल गौड़पादो गोविन्दनाथमुनिरस्य च शिष्यभूतः।।

(शङ्कर दिग्विजय ५।१०५)

गौड़पादाचार्य के शिष्य एवं शङ्कराचार्य के गुरु गोविन्दपाद नर्मदातट पर निवास करते थे तथा एक महान योगी थे। इनके विषय में प्रसिद्ध है कि इनका स्थूल शरीर एक सहस्र वर्ष तक इस संसार में रहते हुये भी दिव्य था। स्वामी विद्यारण्य का मन्तव्य है कि गोविन्दपाद भाष्यकार पतंजलि के रूपान्तर हैं।[१] राजवाणे कथा के अनुसार जिनसेन, गुणभद्र तथा शङ्कराचार्य के गुरु गोविन्दपाद समसामयिक थे। इस कथा के अनुसार जिनसेन गोविन्दपाद के परम गुरु थे क्योंकि इस ग्रन्थ में उल्लेख मिलता है कि गुणभद्र जिनसेन के शिष्य थे। और गोविन्दपाद गुणभद्र के शिष्य थे। यह मत असंदिग्ध है कि जिनसेन ने ७०५ शकाब्द अर्थात् ७८३ सन्में हरिवंश की रचना की थी। इस ग्रन्थ से यह पता चलता है कि जिनसेन, गुणभद्र, एवं गोविन्द ये तीनों आचार्य धाराधिप भेज के सभा पंण्डित थे। किन्तु उक्त कथन कितना प्रासंगिक है इसपर विवाद है।

गोविन्दपाद रचित कोई भी ग्रन्थ उपलब्ध नहीं होता है। 'रस हृदय' नामक एक ग्रन्थ गोविन्दभागवत् पाद द्वारा रचित माना जाता है। जिसका विषय रसायनशास्त्र से सम्बन्धित माना जाता है। माधवाचार्य ने अपने ग्रन्थ 'सर्वदर्शन संग्रह' में रसेश्वर दर्शन प्रकरण में उक्त ग्रन्थ को प्रामाण्य के रूप में माना है। इस प्रकार गोविन्दभागवत्पाद का ऐतिहासिक विवरण प्राप्त करना अन्यन्त कठिन है परन्तु इतना तो निश्चित है कि गोविन्दपाद शङ्कराचार्य के गुरु थे।

इस अध्ययाय में किये गये विवेचन से इतना स्पष्ट है कि ऋग्वेद संहिता से लेकर शंकराचार्य के पूर्ववर्ती आचार्ये के समय में भी अद्वैतवाद के स्पष्ट एवं अस्पष्ट रूप से बीज वर्तमान थे किन्तु इतना निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि अद्वैतवाद का जितना स्पष्ट एवं सैद्धान्तिक रूप से विकास और उन्नति शंकराचार्य के दर्शन में

[1] शंकर दिग्विजय–५।६४

हुई उतना किसी अन्य दर्शन में नहीं। अद्वैतवाद की एक मजबूत आधारशिला शङ्कराचार्य के द्वारा ही डाली गयी थी। शङ्करदिग्विजय में वर्णित कथा के अनुसार गोविन्द भागवत्पाद के विषय में जानकारी मिलती है। यथा–

तमखिलगुण पूर्णं व्यासपुत्रस्य शिष्यात् अधिगतपरमार्थं गौणपादान्महर्षे।

अधिजिगमिषुरेष ब्रह्मसंस्थामहं त्वां प्रसृमरमहिमानं प्रापमेकान्तभक्त्या।।

(शङ्कर दिग्विजय ५।६७)

अर्थात् शङ्कराचार्य गोविन्दपाद से विनम्र भाव से बोले कि हे भगवन् मैं आपके पास वेदान्त पढ़ने के लिए अत्यन्त भक्ति भाव से आया हूँ। समाधिस्थ गोविन्दाचार्य के पूँछने पर कि तुम कौन हो तब श्री शङ्कर प्राचीन पुण्य के कारण आत्मज्ञान के सूचक वचनों के द्वारा गोविन्दपाद से बोले– हे स्वामिन्! मैं पृथ्वी नहीं हूँ , न तेज हूँ, न आकाश हूँ, न वायु हूँ और न उनके गुण हूँ और न मैं इन्द्रियाँ हूँ, प्रत्युत् इनसे अवशिष्ट केवल जो परम तत्त्व शिव है वही मैं हूँ[1]।

भक्ति पूर्वक की गयी पूजा से संतुष्ट होकर यति–श्रेष्ठ गोविन्द ने उपनिषद के चार वाक्यों के द्वारा ब्रह्मतत्त्व का उपदेश शंकर को दिया। ये चारों महावाक्यों को द्वारा ब्रह्मतत्व का उपदेश शंकर को दिया। ये चारों महावक्य वेदों से सम्बद्ध उपनिषदों से संग्रहीत किये गये हैं और संख्या में चार हैं जो निम्न हैं–

१. '<u>तत् त्वमसि</u>' (छान्दो० उप०६।८।७) सामवेद काय यह आत्मा तथा ब्रह्म की एकता का प्रतिपादन करने वाला है।

२.'<u>प्रज्ञानं ब्रह्म</u>' (एतरेय उपनिषद्५) ऋग्वेद का यह महावाक्य ब्रह्म कों ज्ञान स्वरूप बतलाता है।

---

[1] स्वामिन्नहं न पृथ्वी न जलं न तेजो न स्पर्शनो न गगनं न च तद्गुणा वा। नाऽपिइन्द्रियाणपि तु विद्धि ततोऽवसिष्टो यः केवलोऽस्तिपरमः स शिवोऽहमस्मि।। (शङ्कर दिग्विजय ५/६६

३. 'अहं ब्रह्मास्मि' (बृहदा० उप० १।४।१०) यजुर्वेद का यह महावाक्य गुरु उपदेश से तत् (ब्रह्म) तथा त्वं (जीव) पदों के अर्थ का यथार्थ ज्ञान करने से मैं ही नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, सत्य स्वभाव ब्रह्म हूँ यह अखण्डाकार चित्तवृत्ति उत्पन्न होती है यह अनुभव वाक्य कहलाता है।

४. 'अयमात्माब्रह्म' (मा० उप० २) अथर्ववेद से सम्बद्ध परोक्ष रूप से बतलाये गये ब्रह्म के प्रत्यक्ष रूप से आत्मा होने का निर्देश करता है।

इस प्रकार बुद्धिमान शङ्कर ने सम्प्रदायवेत्ता पराशरपुत्र व्यास के द्वारा कहे गये सूत्र के द्वारा प्रतिपदित ब्रह्म को जानकर दयालु व्यास जी के वेदान्त शास्त्र के गूढ़ अभिप्राय को भी भली–भांति जान लिया। और शङ्कराचार्य गोविन्दपाद के निकट रहकर समस्त शास्त्रों का अध्ययन किये। इस प्रकार गोविन्दभगवत्पाद आचार्य शंकर के पूज्य गुरु थे।

चतुर्थ—अध्याय

श्री शङ्कराचार्य

शङ्कर पूर्व भारत

श्री शङ्कराचार्य के आविर्भाव से पूर्व भारत में विभिन्न मत–मतान्तरों का बोलबाला था, तथा जैन और बौद्ध धर्म मुख्य रूप से प्रचलित था। किन्तु जैन धर्म की अपेक्षा बौद्ध धर्म काफी शक्तिशाली था। उस समय बौद्ध धर्मद्वारा खुलकर वैदिक धर्म को चुनौती दी गयी।

यद्यपि यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि बुद्ध ने अपनें धर्म की नींव उपनिषदों पर ही खड़ी की थी किन्तु अपने धर्म की विशिष्टता स्थापित करने के लिये वेदों की प्रामाणिकता पर संदेह किया और आत्मावाद का खण्डन किया। वेदविदित यज्ञों की आलोचना किया।

बौद्ध धर्म की सुदृढ़ता मौर्य युग तथा कुषाण युग में और अधिक हुई। उस युग में बौद्धों के प्रभुत्व का आभास माधवाचार्य ने अपने ग्रन्थ 'शंकर दिग्विजय' में इस प्रकार दिया है– साशिष्यं संघाः प्रविशन्ति राज्ञां गेहं तदादि स्ववशे विधतम्।

राजा मदीयोऽजिरमस्मदीयं तदाद्रियध्वं न तु वेदमार्गम्।।

(शङ्कर दिग्विजय सर्ग ७/६१)

जैन धर्म भी वैदिक धर्म का कम विरोधी नहीं था। जैन मतावलम्बी अपने धर्म का प्रचार–प्रसार करते थे तथा वैदिक धर्म का खण्डन करते थे। जैन धर्म भी बौद्ध धर्म की भांति श्रुतियों और उपनिषदों पर आधारित था किन्तु श्रुतियों को ही अप्रमाणित सिद्ध करने में अपनी सारी शक्ति लगा रखी थी। वैदिक धर्मावलम्बी भी अपने धर्म के पुर्नरुत्थान के लिये प्रयत्नशील हुये। इसी समय मौर्यों का पतन हुआ और ब्राह्मण वंशी शासक पुष्यमित्र ने दो बार अश्वमेध यज्ञ किये। मनु द्वारा मनुस्मृति की रचना भी इसी समय की गयी। गुप्त वंश के राजाओं ने वैदिक धर्म के अभ्युदय के लिये अतीव प्रयास किया।

'प्राचीन मित्येव न साधु सर्व नवीन मित्येव न निन्दनीयम्' के अनुसार प्राचीनता और अर्वाचीनता के प्रति उदासीनता मानवोन्नति की अवरोधक हुआ करती है। इसी मान्यता के आनुसार जैन और बौद्ध सहित लोकायतिक (चार्वाक) कणाद, पौराणिक, कारणिक, पाञ्चरात्रिक आदि दस मतों ने जन्म लिया। जिनका वर्णन बाणभट्टकी 'हर्ष चरित' में मिलता है। उस समय सबसे महत्त्वपूर्ण कापालिक मंत्र के तांत्रिक थे। माधवाचार्य की रचना '<u>शङ्कर दिग्विजय</u>' में उग्रभैरव कापालिक का वर्णन मिलता है। इस प्रकार सर्वत्र धार्मिक अराजकता उच्छृंखलता और अनाचार व्याप्त था।

ऐसी विषम और भयावह स्थिति में धार्मिक जगत में किसी ऐसे उत्कट त्यागी, निस्पृह, बीतराग, धुरन्धर विद्वान सर्वगुण सम्पन्न अवतारी पुरुष की महान आवश्यकता थी जो धर्म की विश्रृंखलित कड़ियों को एकाकार करके उसे सुदृढ़ बनाता और धर्म का वास्तविक स्वरूप सबके सम्मुख प्रस्तुत करता।

भगवान श्रीकृष्ण द्वारा भगवद्गीता में कथित वचन 'यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत्' अर्थात जब धर्म की हानि और अधर्म की वृद्धि होती है तब–तब मैं अवतार धारण करता हूँ को चरितार्थ करनें हमारी पावन मातृभूमि भारत वर्ष में विभिन्न काल में तेजस्वी सन्त और महापुरुष अवतरित होते रहे हैं। एक बार पुनः हम इसी वचन को हम दक्षिण भारत में केरल राज्य के 'कालड़ी' नामक ग्राम में आठवीं शताब्दी ईसवी में पूर्ण होता हुआ पाते हैं जब श्री शङ्कर ने सनातनी नम्बूदरी ब्रह्मण दम्पति विशिष्टता और शिवगुरु के घर में जन्म लिया।

शङ्कराचार्य ने भारतीय दर्शन के इतिहास को विशेषतः अद्वैतवेदान्त के इतिहास को विशेषतः दो युगो में बांट दिया है। जिन्हें प्राकशङ्कर युग और शङ्करोत्तर युग कहा जाता है। इसमें प्रथम युग में कर्म का महत्त्व था और द्वितीय युग में ज्ञान का महत्त्व था। प्राक शंकर युग में बौद्ध दर्शन तथा वैदिक दर्शन के मध्य

मतभेद और संघर्ष था जो द्वितीय युग में समाप्त हो गया। किन्तु इसमें भी दो अन्य संघर्ष प्रकट हो गये। एक अद्वैत वेदान्त और वैष्णव वेदान्त के मध्य तथा दूसरा न्याय दर्शन और अद्वैत वेदान्त का संघर्ष। इस प्रकार बहुत से विद्वानों का मत है कि शङ्कराचार्य ने बौद्ध धर्म का अन्त कर दिया। किन्तु कुछ लोगों ने शङ्कराचार्य को प्रच्छन्न बौद्ध कह कर आरोप लगाया जो कि सत्य नहीं है और इसका खण्डन बाद में वेदान्ती आचार्यों द्वारा किया गया।

२. शङ्•ᐣर का दिव्य जन्म

शङ्करः शङ्करः साक्षच्छङ्करं तं सदानुमः।

येनप्रकाशितेद्वैते वेदान्ते रमते मनः।।

भारतवर्ष के केरल प्रान्त में पूर्ण नदी के पास वृषाद्रि नामक पर्वत पर नम्बूदरी पाद ब्राह्मण की एक टोली निवास करती थी उसमें एक परम वेदवेत्ता ब्राह्मण के घर महान शिवभक्त 'शिवगुरु' नामक बालक का जन्म हुआ। शिवगुरु के पिता का नाम विद्याधर था जो आचार्य शङ्कर के पितामह थे। पंडित विद्याधर था जो आचार्य शङ्कर के पितामह थे। पंडित विद्याधर की विद्वता से प्रभावित होकर केरल के महाराजा (राजशेषर) ने स्वयं निर्मित शिवमन्दिर का कार्यभार विद्याधर को प्रदान किया था। विद्याधर को भगवान् शिव की अनुकम्पा से 'शिवगुरु' नामक पुत्र पैदा हुआ। शिवगुरु के प्रकाण्ड पाण्डित्य, सद्गुणों और आदर्श चरित्र की ख्याति सर्वत्र फैल गई। कुछ समय पश्चात् शिवगुरु का विवाह मद्य पंडित की परम साध्वी, सुशील–कन्या 'विशिष्टा देवी' के साथ हुआ। विविध ग्रन्थों में विशिष्टा के विविध नाम जैसे सती, कामाक्षी, आर्या आदि मिलते हैं। किन्तु विद्वानों का एक बड़ा वर्ग विशिष्टा नाम को ही मानता है। शिवगुरु और विशिष्टा देवी विरक्त स्वभाव होने के कारण बहुत दिन तक सन्तान हीन रहे हैं। दोनों ने प्रौढ़ावास्था में वृषपर्वत पर चन्द्रमौलीश्वर देवता की शरण ली और

कठोर तपस्या किये जिससे भगवान शिव प्रसन्न होकर सर्वज्ञ पुत्र प्राप्ति का वरदान दिया।[1] प्रौढ़ावस्था में शिवराधनास्वरूप साक्षात शङ्करावतार शङ्कर नामक बालक का प्रादुर्भाव हुआ।

ततो महेशः किल केरलेषु श्रीमद्वृषाद्रौ करुणा समुद्रः।

पूर्णानदी पुण्यतटे स्वयंभू लिङ्गात्मनाऽनङ्गधगोविरासीत्।।

आनन्दगिरि ने अपने गन्थ 'शङ्कर विजय' ग्रन्थ में बताया है कि अष्टम वर्ष में विशिष्टता देवी का विवाह हुआ था। वे बचपन से ही शिवभक्त थीं। पति के सन्यास धर्म ग्रीण कर गृहत्याग करने के अनन्तर विशिष्टा देवी चिदम्बरम् ग्राम के शिवविग्रह की सेवा–पूजा लग गयी थी। उनकी सेवा से संतष्ट होकर महादेव ने उन्हें दर्शन दिया और शिव के आशीर्वाद से शङ्कर का दैवी जन्म हुआ था।

जयराम मिश्र ने लिखा है कि शुभग्रहों से युक्त, शुभराशि, पुनर्वसु नक्षत्र, सूर्य मंगल और शनि उच्च स्थान एवं गुरु केन्द्रस्थ, वैशाख शुक्ल पञ्चमी, रविवार को मध्याह्व विशिष्टा देवी ने तेजपुञ्ज बालक को उसी प्रकार जन्म दिया था। जिस प्रकार श्री पार्वती जी ने कुमार कार्तिकेय को जन्म दिया था। माधवाचार्य ने शङ्कर दिग्विजय में लिखा है[2]–

लग्ने शुभे शुभयुते सुषुवे कुमारं श्रीपार्वतीव सुखिनी शुभवीक्षिते च।

जाया सती शिवगुरोर्निज तुंगसस्थे सूर्ये कुले रविसुत च गुरौ च केन्द्रे।।[3]

आचार्य शङ्कर का जन्म केरल प्रान्त में 'कालडी' नामक ग्राम में नम्बूदरी पाद ब्राह्मण कुल में हुआ था। किन्तु कब हुआ था? उस प्रश्न का यथार्थ उत्तर देना नितान्त कठिन है।

---

[1] श्री शंकर दिग्विजय (माधवाचार्य विरचित) अनुवादक पं० बलदेव उपाध्याय, पृ० ४६ सर्ग २ श्लोक ५२
देवोऽप्यपृच्छदथ तं द्विज वृद्धि सत्यं, सर्वज्ञमेकमपि सर्वगुणोपपन्नम्।
पुत्र ददान्यथ बहून्विपरीतकांस्ते, भूर्यायुषस्तनुगुणनवदद् द्रिजेश.।।

[2] जयराम मिश्र। अनादि शंकराचार्य जीवन और दर्शन पृ० १६ लोक भारती प्रकारशन इलाहाबाद।

[3] माधवाचार्य। शंकर दिग्विजय, पृ० ६ प्रकाशक– महन्त– नरोत्तम गिरि श्री श्रवणनाथ ज्ञान मन्दिर, हरिद्वार।

संस्कृत के श्रेष्ठ कवियों ने भी जब अपनें आश्रय दाताओं के नामोल्लेख करने तथा ग्रन्थ के रचनाकाल के निर्देश करने की ओर अपना घ्यान नहीं दिया है तब हमें शङ्कराचार्य जैसे विरक्त पुरुष को इन आवश्यक बातों के उल्लेख करने पर आश्चर्य नहीं करना चाहिये। वे सच्चे सन्यासी तथा विरक्त साधक थे। उन्हें इस बात की चिन्ता ही क्या हो सकती थी कि वे अपने सम–सामयिक राजा–महाराजा के नाम का कहीं उल्लेख करते। इनके शिष्यों की दशा इस विषय में उनसे भिन्न न थी। उन लोगों के ग्रन्थो में भी समय–रूिपण की ऐतिहासिक सामग्री का सर्वथा अभाव है। यही कारण है कि आचार्य के काल का इदमित्थंरूपेण निरूपण करना इतनी विषय समस्या है।

आचार्य के काल निर्धारण को लेकर गहरा मतभेद है। विक्रम पूर्व सप्तम शतक से लेकर विक्रम से अनन्तर नवम शतक तक किसी समय में इनका आविर्भाव हुआ यह सब कोई मानते हैं परन्तु किस वर्ष में इनकी उत्त्पत्ति हुई थी इसके विषय में कोई सर्वमन्य मत नहीं है। सम्प्रति उनके जन्मकाल के समय में बारह मत प्रचलित हैं जो उनको ५०० ई० से लेकर ६०० ई० तक बताते हैं। इस अनिश्चितता में आशा की एक किरण वाचस्पति मिश्र का निश्चित समय है जिन्होंने ८६८ वि० सं० में 'न्याय–सूची' निबन्ध लिखा था और जिन्होंने शङ्कर के शारीरिक भाष्य पर 'भामती' नामक टीका लिखी है। अतः शङ्कर का जन्म समय निश्चित रूप से ८४१ ई० (८६८-५७) से पहले था। एक और प्रमाण यह है कि शङ्कराचार्य के शिष्य सुरेश्वराचार्यका उदाहरण जैन दार्शनिक विद्यानन्द ने दिया है जिसकी जानकारी शान्ति रक्षित द्वारा तत्त्व–संग्रह में दी गयी है। तत्त्व–संग्रह का रचनाकाल ७४८ ई० है। अतएव विद्यानन्द, सुरेश्वर और शङ्कर निश्चित रूप से ७४८ ई० के पहले थे। किन्तु विद्वानों का एक बड़ा वर्ग आचार्य शङ्कर का जन्म ७८८ ई० में और निधन ८२० ई० में हुआ था। उनका अल्प जीवन मात्र ३२ वर्ष का था। शङ्कराचार्य के विषय में कहा गया है–

अष्टवर्षे चतुर्वेदी द्वादशे सर्वशास्त्रवित्।

षोडशे कृतवान् भाष्यं द्वात्रिंशेमुनिरभ्यगात्।।

इस सूक्ति के अनुसार आठ वर्ष की आयु तक शङ्कराचार्य ने चारों वेदों का अध्ययन कर लिया और बारह वर्ष तक षडाङ्ग वेदों का गूढ़ ज्ञान प्राप्त किया और अध्ययन–अध्यापन कार्य में तत्पर हो गये, सोलह वर्ष की उम्र में उन्होने वादरायण के ब्रह्म–सूत्र पर शारीरिक–भाष्य लिखा और ३२ वर्ष में उनके जीवन की इह लीला समाप्त हो गयी।

जीवन चरित्र के आधार पर ग्रन्थ

आचार्य शङ्कर का जीवन चरित्र लिखने की तरफ बहुत से विद्वानों ने प्रयास किया। पद्मपाद ने शङ्करदिग्विजय का वर्णन अपने ग्रन्थ 'विजयडिण्डिम' मे किया। किन्तु यह ग्रन्थ आज उपलब्ध नहीं है। किसी भी समसामयिक विद्वान ने भी शंकर के विषय में नहीं लिखा।

जो कुछ भी हो आचार्य के जीवन से सम्बद्ध अनेक ग्रन्थों की रचना समय–समय पर होती आई है। जिनमें दो चार भी छपकर प्रकाशित हुये हैं, और अन्य ग्रन्थ हस्तलिखित रूप मे ही हैं।

शङ्कर विजय

डा० औफ्रेक्ट की सूची के अनुसार इन का नाम नीचे दिया जाता है–

१. शङ्कर दिग्विजय– रचयिता माधव (हिन्दी अनुबाद के साथ प्रकाशित हरिद्वार)।

२. शङ्कर दिग्विजय– आनन्द गिरि (मुद्रित, कलकत्ता)।

३. शङ्कर विजय– चिद्विलास (ग्रन्थाक्षर में मुद्रित)।

४. शङ्कर विजय– व्यास गिरि ।

५. शङ्कर विजय– सदानन्द (मुद्रित, काशी)।

६. आचार्य चरित (केरलीय)।

७. शङ्कर अभ्युदय– राजचूड़ामणिदीक्षित (श्री वाणीं विलास प्रेस श्री रंगम में मुद्रित)।

८. शङ्कर विजयविलास काव्य– शङ्कर देशिकेन्द्र।

९. शङ्कर विजय कथा।

१०. शङ्कराचार्य चरित।

११. शङ्कराचार्य अवतार कथा– आनन्दतीर्थ।

१२. शङ्कर विलास चम्पू– जगन्नाथ।

१३. शङ्कराभ्युदय काव्य– रामकृष्ण।

१४. शङ्करदिग्विजयसार– ब्रजराज।

१५. प्रचीन शंकर विजय– मूकशङ्कर (कामकोटि के १८वें अध्यक्ष)।

१६. ब्राह्मशङ्कर विजय– सर्वज्ञ चित्सुज

१७. शङ्कराचार्योत्पत्ति

१८. गुरुवंश काव्य– (लक्षमणचार्यकृत, मुद्रितश्रीरङ्गम्)

आचार्य शङ्कर का व्यक्तित्त्व

आचार्य शङ्कर बड़े भारी मातृभक्त थे। माता के लिये भी यदि इस संसार में कोई स्नेह का आधार था तो वह थे स्वयं आचार्य शङ्कर। पांच वर्ष की अवस्था में ही यज्ञोपवीत संस्कार सम्पन्न हुआ तत्पश्चात वेदाध्ययन किये। ये श्रुति–स्मृति प्रतिपादित सन्मार्ग के प्रवर्तक और संरक्षक आचार्य हैं। इसलिये उनको श्रुति–स्मृति और पुराणों का आलय कहा गया है– 'श्रुतिस्मृतिपुराणानामालयं करुणालयम्' आचार्य शङ्कर का दर्शन निःसन्देह श्रुतियों, स्मृतियों तथा पुराणों का निचोड़ है।

वेदाध्ययन के बाद ही अचार्य को वैराग्य उत्पन्न हो गया और नर्मदा नदी के तट पर गुरु गोविन्द भगवत्पाद से दीक्षा लिये जो आचार्य गौड़पाद के शिष्य थे।

दीक्षा के उपरान्त आचार्य काशी और हिमालय गये फिर सम्पूर्ण भारत का भ्रमण किये, और बौद्धविप्लव के अनन्तर हिन्दू धर्म को सनातन बौद्धिक आदर्श में पुनः प्रतिष्ठित करने के लिये दूरदर्शी प्राज्ञ आचार्य ने भारत के चार प्रान्तों में चार धर्म दुर्गा–मठ स्थापित किये। उत्तर में बदरीकाश्रम में ज्योर्तिमठ, पूर्व दिशा में जगन्नाथ पुरी में गोवर्धन मठ, पचिम में द्वारिका में शारदा–मठ और दक्षिण में शृंगेरी में शृंगेरी मठ। ये चारों मठ प्रहरी के सदृश मानों ये चारों वेदों की तथा भारत की चारों सीमाओं की रक्षा करते हुये तब से आज तक 'विजय वैजन्ती' फहरा रहे हैं।

इन मठों के आतिरिक्त काञ्ची में कामकोटि मठ और काशी में सुमेरु मठ भी शङ्कराचार्य द्वारा स्थापित माने जाते हैं। इन मठों के मठाधीश जगदगुरू शङ्कराचार्य कहे जाते हैं जो शङ्कराचार्य के मतों का उन्नयन तथा प्रचार प्रसार करते हैं। इन मठों के अतिरिक्त शक्ति पीठों की तथा द्वादश ज्योर्तिलिंगों की स्थापना का श्रेय भी आचार्य शङ्कर को दिया जाता है।

शङ्कराचार्य के शिष्य

शङ्कराचार्य ने अपने जीवन काल में पूर्वोक्त चार पीठों की स्थापना करके सुरेश्वर, पद्मपाद, तोटक, और हस्तामलक इन चार प्रतिभासम्पन्न शिष्यों को पीठाधीश्वर पद पर अभिषिक्त किया था। इन शिष्यों में सुरेश्वर और पद्मपाद ने विशेष ख्याति आर्जित की।

शिष्य पद्मपाद अैर सुरेश्वर द्वारा अद्वैतवेदान्त के दो सम्प्रदायों की स्थापना की है जिन्हें क्रमशः विवरणप्रस्थान और वार्तिकप्रस्थान कहा जाता है। हस्तामलक का केवल "हस्तामलकस्तोत्र" है जिसमें केवल १४ श्लोक हैं। यह याज्ञवल्क्य संवाद शैली का प्रतिपादक है। इसग्रन्थ में गुरु शिष्य संवाद है। "हस्तामलक स्तोत्र" अतिवर्णाश्रमी धर्म

का प्रतिपादक है। जो शंकराचार्य को अभीष्ट था। इस पर १६वीं शताब्दी में स्वामी करपात्री के ''अद्वैत बोधदीपिका'' ग्रन्थ लिखे

आचार्य त्रोटक ने भी कई ग्रन्थ लिखा इसमें मुख्य ''श्रुतिसारसमुद्धरण''है जो त्रोटक छन्द में लिखा गया है। इसमें १७६ त्रोटक हैं। इसलिए इसे 'त्रोटक श्लोक' भी कहा गया है। यद्यपि 'त्रोटक' का नाम आनन्द गिरि था। जो शङ्कराचार्य के भाष्यों पर टीका लिखनें वाले 'आनन्दगिरि' से भिन्न थे।

५. आचार्य शङ्कराचार्य द्वारा प्रणीत ग्रन्थ

शङ्कराचार्यकी कृतियों के रूप में सम्प्रति दो सौ से भी अधिक ग्रन्थ उपलब्ध होत हैं। जिसका वर्णन शङ्कर ग्रन्थवली में मिलता है। किन्तु इन सभी ग्रन्थों की रचना गोविन्दपाद के शिष्य आदि शङ्कराचार्य ने ही की है यह प्रमाणित नहीं हो पाता क्योंकि परवर्ती जगद्गुरू शङ्कराचार्यों नें भी अनेक रचनायें की और उन्होंने ग्रन्थों की पुष्पिका में अपनें को आदि शङ्कराचार्य के सदृश गोविन्द पाद का शिष्य स्वीकार किया। अपनें वास्तविक गुरु के नाम का निर्देश नहीं किया है। इससे आदि शङ्कराचार्य के ग्रन्थों का निर्णय करना कठिन हो गया है। जैसे– इन ग्रन्थों में विवेक चड़ामणि, दशश्लाकी, दृगदृश्य विवेक, अपरोक्षानुभूति आदि अधिक प्रचलित हैं।

डा० श्री कृष्णपाद बेवल्लकर, डा० गोपीनाथकविराज और डा० संगम लाल पाण्डेय नें इन सभी ग्रन्थों की प्रामाणिकता पर विचार किया है। शङ्कराचार्य की प्रामाणिक रचनायें केवल निम्न हैं–

१. वादरायण के ब्रह्मसूत्र पर शरीरकभाष्य।

२. ईश, केन, कठ, प्रश्न, एतरेय, तैत्तिरीय, छान्दोग्य, बृहदारण्यक, मुण्डक, और माण्डूक्य इन दश उपनिषदों पर भाष्य।

३. भगवद्‌गीता का भाष्य।

४. उपदेशसाहस्री (केवल पद्यात्मक अंश)।

आचार्य शङ्कर की रचनाओं में मुख्य दो वर्ग हैं– भाष्य और प्रकरण। उपदेश साहस्री प्रकरण ग्रन्थ है और शेष भाष्य ग्रन्थ हैं। किन्तु आचार्य शङ्कर द्वारा लिखित ग्रन्थों को हम चार कोटियों में विभाजित कर सकते हैं–

१. भाष्य ग्रन्थ

२. प्रकरण ग्रन्थ

३. स्तोत्र ग्रन्थ

४. तन्त्र ग्रन्थ।

भाष्य ग्रन्थ

आचार्य शङ्कर द्वारा प्रणीत भाष्य ग्रन्थों को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है– (अ) प्रस्थानत्रयी (ब) इतर ग्रन्थों पर भाष्य।

प्रस्थानत्रयी भाष्य के अन्तर्गत १. ब्राह्मसूत्र भाष्य २. गीता भाष्य और उपनिषद् भाष्य आते हैं। इन भाष्यों के द्वारा शङ्कराचार्य ने सिद्ध किया है कि अद्वैतवेदान्त के तीन अध्याय हैं। उपनिषद भगवदगीता और ब्रह्मसूत्र तीनों का समन्वय अद्वैत वेदान्त में होता है। शङ्कर के पूर्व कोई भी व्यक्ति प्रस्थानत्रयी का भाष्यकार नहीं था।

ब्राह्मसूत्र

यह आचार्य की अद्वितीय कृति मानी जाती है। बादरायण कृत ब्रह्मसूत्र परमलघु और संक्षिप्त है बिना भाष्य को इसको समझना कठिन है। आचार्य शङ्कर ने बड़ी सरल, सुबोध मधुर कोमल, तथा प्रसन्न शैली में ब्रह्मसूत्र का भाष्य किया जाता है। भाषा बड़ी ही प्रौढ़ तथा साथ ही प्रसाद युक्त है। वाचस्पति मिश्र जैसे अद्‌भुत विद्वान और प्रौढ़ दार्शनिक ने आचार्य शङ्कर के इस भाष्य को केवल प्रसन्न गंभीर भर ही नहीं कहा है। बल्कि इसे गंगाजल सदृश पावन बताया है।

इस भाष्य का 'शारीरक भाष्य' भी कहते हैं। शारीरिक शब्द से तात्पर्य है– शरीर में निवास करनें वाला 'आत्मा' इन सूत्रो में आत्मा के स्वरूप की मीमांसा की गयी है। इसलिए इन सूत्रों को शारीरिक सूत्र एवं इस भाष्य को शरीरक भाष्य की संज्ञा दी गयी है।

२. श्रीमद्भगवद्गीता भाष्य

आचार्य शङ्कर ने इस भाष्य में गीता की निवृत्ति मूलक और ज्ञानपूरक व्याख्या की है वे अपने इस भाष्य में सिद्ध करने की चेष्टा की है कि ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति केबल 'तत्वज्ञान' से ही होती है, ज्ञानकर्म समुच्चय से नहीं।

३. उपनिषद्भाष्य

इस उपनिषद् भाष्य में बारह उपनिषदों का आचार्य शंकर ने भाष्य किया है। परन्तु केन, श्वेताश्वर, माण्डूक्य और नृसिंहतापिनी उपनिषदों पर लिखे गये भाष्यों पर विद्वानों को पूर्ण संदेह है। वे इन चारों को आदि शङ्कराचार्य की कृति न मानकर किसी अन्य शङ्कराचार्य की कृति मानते है।

उपनिषद् के भाष्यों की शैली बड़ी उदात्त गंभीर, सरल, सुबोध और आकर्षक है। अपने मत की पुष्टि के लिये आचार्य ने प्राचीन वेदान्ताचार्यो के सिद्धान्तों का उद्धरण दिया है। इस दृष्टि से बृहदारण्यक उपनिषद् का भाष्य सबसे अधिक विद्वतापूर्ण, व्यापक और प्राञ्जल हैं। ब्रह्मप्राप्ति के साधनों में उन्होंने कर्मकाण्ड की उपादेयता का बड़ी युक्ति एवं तर्क से खण्डन किया है। आचार्य शङ्कर के प्रस्थानत्रयी के ये भाष्य प्रौढ़ शास्त्रीय गद्य के उत्कृष्ट उदाहरण हैं।

(ब) इतरग्रन्थों पर भाष्य– यद्यपि आचार्य शङ्कर कृत इतर ग्रन्थों की भाष्य रचना पचास के लगभग बतायी जाती है किन्तु ये ग्रन्थ किसी अन्य शङ्कराचार्य के है आदि शङ्कराचार्य की नहीं। आदि शङ्कराचार्य की निःसंदिग्ध रचनाएँ इस प्रकार है–

१. **विष्णुसहस्रनाम भाष्य–** इसमें परमात्मा के प्रत्येक नाम की युक्तियुक्त व्याख्या की गयी है।

२. **सनत्सुजातीय भाष्य–** धृतराष्ट्र के मोह को दूर करने के लिये सनतसुजातीय ऋषि ने जो आध्यात्मिक उपदेश दिया था वह महाभारत के उद्योगपर्व[1] में वर्णित है। इसे सनत्सुजातीय पर्व कहते है।

3- ललितात्रिशतं भाष्य

इस भाष्य में भगवती ललिता के तीन सौ नाम है। आचार्य शङ्कर, ललिता के अनन्य उपासक थे।

४. माण्डूक्य कारिका भाष्य

गौड़पादाचार्य ने माण्डूक्य उपनिषद् पर कारिकाएं लिखी है और उन्हीं के ऊपर आचार्य शंकर ने भाष्य की रचना की।

स्त्रोत ग्रन्थ

आचार्य शङ्कर परमार्थतः अद्वैतवादी थे किन्तु व्यवहार क्षेत्र में देवी–देवताओं, तीर्थो, पवित्रनदियों की उपासना और आराधना की सार्थकता को भलीभांति समझते थे। वे मानते थे कि 'सगुण ब्रह्म' की उपासना से ही निगुण क्षेत्र में प्रवेश होता है लोक संग्रह के निमित्त आचार्य स्वयं सगुण ब्रह्म की उपासना करते थे। उन्होंने शिव, विष्णु, गणेश, शक्ति आदि देवी–देवताओं की भावपूर्ण स्तुतियों की रचना की है। शङ्कर के नाम से सम्बन्धित स्त्रोत मुख्य है–

१. गणेश स्तोत्र   २. शिवस्तोत्र   ५. युगल देवता

३. देवी स्तोत्र   ४.विष्णुस्तोत्र   ६. नदीतीर्थ विषयक स्तोत्र

७. साधारण स्तोत्र।

---

[1] महाभारत– उद्योग पर्व अध्याय ४२ से ४६ तक।

इसके अतिरिक्त आनन्द लहरी, गोविन्दाष्टक दक्षिणामूर्ति स्तोत्र, दशश्लोकी आदि भी शङ्कराचार्य की प्रामाणिक रचनाएं मानी जाती है।

(द) प्रकरण ग्रन्थ

आचार्य शङ्कर ने वेदान्त सम्बन्धी अनेक छोटे–छोटे ग्रन्थों की रचना की है। वेदान्त तत्त्व प्रतिपादक होने के कारण ये 'प्रकरण ग्रन्थ' कहे जाते है। आचार्य अद्वैत वेदान्त का पावन सन्देश सर्वसाधारण तक पहुँचा देना चाहते थे और इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिये उन्होने प्रकरण ग्रन्थों की रचना की। जिससे वेदान्त को सर्वसाधारण के लिये सर्वसुलभ बनाने की चेष्टा की। प्रकरण ग्रन्थों की संख्या ४० तक मानी जाती है यथा– अपरोक्षानुभूति, आत्मबोध, उपदेश साहस्री, पंचीकरण प्रकरण, वाक्य वृत्ति, विवेक चूड़ामणि शतश्लोकी आदि।

तन्त्र ग्रन्थ

आचार्य शङ्कर ने दो तन्त्र ग्रन्थों की रचना की है– (१) सौन्दर्य लहरी और (२) प्रपञ्चसार किन्तु कतिपय विद्वान इसे आचार्य का ग्रन्थ मानने में सन्देह प्रकट करते है।

इस प्रकार ३२ वर्ष की अल्पायु में इतने विशाल वाङ्गमय का प्रणयन करना भारतीय मनीषा की अप्रतिम उपलब्धि है।

६. मण्डन मिश्र और शङ्कर का शास्त्रार्थ

आचार्य शङ्कर मंडन मिश्र से शास्त्रार्थ के लिये उत्कंठित थे। रास्ते में मंडन मिश्र का घर पूछने पर दासियों ने उत्तर दिया–

स्वतः प्रमाणं परतः प्रमाणं कीरांगना यत्र गिरं गिरन्ति।
द्वारस्थनीडान्तर सन्निरुद्धा, जानीह तन्मण्डन पण्डितौकः।।

(शङ्करदिग्विजय ८/६)

अर्थात् जिस घर में शुक और शुकी आपस में बातचीत करते हुये यह बोलते हों– वेद स्वतः प्रमाण है, अथवा परतः प्रमाण, कर्म ही फलदाता है अथवा ईश्वर जगत् नित्य है अथवा अनित्य उसी घर को मण्डन मिश्र का घर समझ लीजियेगा।

आचार्य शङ्कर मण्डन मिश्र के घर पहुँचे वे श्राद्धकर्म में उस समय लगे थे। कुछ समय पश्चात आचार्य शङ्कर का मण्डन मिश्र से वार्तालाप हुआ और मण्डन मिश्र शास्त्रार्थ के लिये तैयार हुये तथा व्यास और जैमिनी को मध्यस्थता के लिये शङ्कर ने आमंत्रित किया किन्तु ऋषियों ने कहा हे! विद्वत् शिरोमणि शङ्कर! मण्डन की सहधर्मिणी उभयभारती मध्यस्थता करेगी। वे साक्षात सरस्वती की अवतार है। मण्डन मिश्र पहले मीमांसा के थे और कर्मकाण्डी थे जहां वेदान्ती कर्मफलदाता ईश्वर को मानता था, वहां मण्डन मिश्र कर्म का फलदाता ईश्वर को न मानकर कर्म को मानते थे।

आचार्य शङ्कर ने मण्डन मिश्र से कहा हे सौम्य! मुझे सामान्य अन्न की भिक्षा नहीं चाहिए मैं तो विवादरूपी भिक्षा की आकांक्षा से आपके पास आया हूँ परन्तु इस विवाद में एक शर्त हम लोगों को माननी पड़ेगी जो पराजित होगा वह एक दूसरे का शिष्य बनेगा। सभा–मण्डप में शास्त्रार्थ प्रारम्भ हुआ उभय भारती ने मध्यस्थता स्वीकार की। जयराम मिश्र ने लिखा है– शङ्कराचार्य ने अपनी प्रतिज्ञा रखी– ब्रह्म 'सत्य' है जगत 'मिथ्या' है 'जीव' और 'ब्रह्म' एक ही है जैसे सीप में रजत का भान होता है वैसे सत्‌चित् आनन्द स्वरूप ब्रह्म में दृश्यमान प्रपञ्च भासित होता है।

जब उपनिषदों के तत्वमसि, अहं ब्रह्मास्मि, प्रज्ञानंब्रह्म अयमात्मा ब्रह्म आदि महावाक्यों द्वारा जीव और ब्रह्म की एकता का बोध होता है तब अनादि अविद्या समेत समस्त प्रपञ्च नष्ट हो जाता है। जीवन–मरण के चक्र से मुक्त हो जाता है। शङ्कर ने कहा यही मेरा विषय है। उपनिषद् इसमें प्रमाण है। यदि मैं शास्त्रार्थ में पराजित

हुआ तो 'काषाय-वस्त्रों' का परित्याग करके श्वेत-वस्त्र धारण करूँगा। उभयभारती ही जय-पराजय का निर्णय करेगी।''[1]

मण्डन मिश्र ने भी अपना विषय रखा, वेद का कर्मकाण्ड ही प्रधान है, यही प्रमाण है, उपनिषद प्रमाण नहीं है। दुःखों से मुक्ति कर्म के द्वारा ही होती है कर्म का अनुष्ठान प्रत्येक मनुष्य को आयु पर्यन्त करना चाहिए। यदि मैं इस शास्त्रार्थ में पराजित हुआ तो गृहस्थ धर्म को छोड़कर सन्यास ग्रहण कर लूँगा।

विद्वान्मण्डली के बीच वादी और प्रतिवादी में शास्त्रार्थ प्रारम्भ हुआ, उत्तरोत्तर शास्त्रार्थ की उत्कृष्टता और गंभीरता बढ़ती गयी, एक-दूसरे को पराजित करने के लिये प्रयत्न हो रहा था। आचार्य ने श्रुति प्रमाण से मण्डन को निरुत्तर कर दिया कि वेदान्त ब्रह्मज्ञान में प्रमाण है, कर्म में नहीं। तदन्तर 'तत्वमसि' महावाक्य को लेकर निर्णायक शास्त्रार्थ प्रारम्भ हुआ।[2] मण्डन मिश्र मीमांसक होने के कारण द्वैतवादी थे। उधर शङ्कर वेदान्ती होने के कारण अद्वैत के प्रतिपादक थे। मण्डन उपनिषदों में द्वैतपरक स्वीकार करते है, अद्वैत नहीं। मण्डन मिश्र ने पूर्वपक्ष ग्रहण किया और आचार्य शङ्कर ने उत्तर पक्ष। मण्डन मिश्र ने कहा- यतिश्रेष्ठ! जीव और ब्रह्म की एकता कभी सिद्ध नहीं हो सकती, यह तीनों प्रमाणों से बाधित है। आचार्य शङ्कर ने उत्तर दिया कि जीव और ब्रह्म की एकता को सिद्ध करने के लिये प्रमाणों की आवश्यकता ही नहीं है। 'ततत्वमसि' के विरुद्ध मण्डन ने मुण्डकोपनिषद की इस श्रुति का उदाहरण दिया।[3]

आचार्य शङ्कर ने आक्षेप का निराकरण करते हुये कहा- हे गृहस्थ शिरोमणि! इस श्रुति में 'बुद्धि' और 'पुरुष' का भेद प्रदर्शित किया गया है, न कि 'जीव' और 'ब्रह्म' का। पुरुष उससे सर्वथा भिन्न है इसलिये वह सुख-दुखों के भोगने वाले फलफलों से

---

[1] जय राम मिश्र- आदि शंकराचार्य जीवन और दर्शन पृ० ८२

[2] शंकर दिग्विजय- ८/७८ से ६१।

[3] द्वा सुपर्णा सुयजा सखाया समानं वृक्ष परिषस्वजाते।
तरोरन्य. पिप्पल स्वाद्वत्ति अनश्ननन्यो अभिचाकशीति।। मुण्डकोपनिषद्- ३/१/१

सर्वथा विमुक्त है। इसके बाद भी मण्डन मिश्र ने जीव और ब्रह्म का भेद दिखाने वाली कठोपनिषद की एक श्रुति का उदाहरण दिया।[1]

आचार्य शङ्कर ने उत्तर में कहा इससे भी अद्वैत सिद्धान्त में कोई बाधा नहीं पहुंचती यह तो लोकसिद्ध भेद का प्रतिपादन मात्र करती है। ऐसे अर्थ लोक में सिद्ध नहीं दिखलायी पड़ेगे। जगत् में अभेद दिखलायी नही पड़ता है।[2] 'तत्वमसि' महावाक्य से जीव और ब्रह्म की एकता प्रतिपादित होती है।[3] जो प्रमाणो, श्रुति, स्मृति अर्थात तर्क से वाधित नहीं हो सकती है। आचार्य शङ्कर ने मीमांसक मर्मज्ञ मण्डन मिश्र को भरी विद्वन्मण्डली में पराजित कर दिया। मीमांसा कर्मकाण्ड पर अद्वैतज्ञान की पूर्ण विजय हुई। भारती ने भरी सभा में निर्णय घोषित किया– "मेरे पतिदेव इस शास्त्रार्थ में पराजित हो गये है, और आचार्य प्रवर विजयी।"

मण्डन मिश्र द्वारा स्तुति

ब्रह्मा के अवतार, मीमांसक शिरोमणि, महान कर्मकाण्डी मण्डन मिश्र शङ्कराचार्य से शास्त्रार्थ में पराजित होने पर आचार्य को गुरु मानकर याज्ञिको की भरी सभा में उनकी स्तुति करने लगे– हे भगवन्! अब मुझे आपके वास्तविक स्वरूप का पूर्ण बोध हो गया। आप संसार के आदिकारण है, आपका स्वरुप ज्ञानमात्र है, पर अज्ञानियों के उद्धार के निमित्त इस शरीर को धारण किये हुये है। वास्तव में आप अशरीरी हैं। हे यतिशिरोमणि! आपने उपनिषदों द्वारा निरूपित एक अद्वितीय, अखण्ड, अनादि, अनन्त, सत् चित् आनन्द ब्रह्म के स्वरूप की सम्यक् व्याख्या की है। 'तत्वमसि' महावाक्य का अस्त्र आपने वेदविरोधी और नास्तिक बौद्धों के सिद्धान्त का शिरछेदन करनें के लिए किया है। यदि आप ऐसा न करते तो वैदिक धर्म रसातल में चला गया होता।

---

[1] ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्यलोके, गुहां प्रविप्टौ परमे परार्धे।छायातपौ ब्रह्मविदो वदन्ति, पंचाग्नयो ये च त्रिणाचिकेतः।। कठोपनिषद् १/३/१

[2] 'मृत्यो स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्चति।' तथा शंकर दिग्विजय– ८/११३

[3] शंकर दिग्विजय–८/७६, ८/७७

हे शाश्वत गुरु! हे जगद्गुरु! श्रुतियों के अर्थ निरूपण में कपिल, कणाद और गौतम ऐसे प्रतिभाशाली ऋषियों ने भी भूलें की, ठीक–ठीक विवेचन में वे भी भ्रमित हो गये। आप शिवरूप में अवतीर्ण हुये हैं आप अज्ञानान्धकार दूर करने के लिये श्रुतियों के अर्थ की वास्तविक व्याख्या की है। अल्पबुद्धि वाले टीकाकारों की टीकाएं विषधर सर्पों के समान है उनके दंशन से श्रुतियां जर्जर हो गयी थी। मैं आज गृहस्थ धर्म को छोडकर आपका शिष्यत्व स्वीकार करता हूँ। कृपया ब्रह्मतत्व का उपदेश कीजिये। आचार्य शङ्कर ने प्रसन्न होकर इनके सन्यास का नाम सुरेश्वराचार्य रखा।

शंङ्कर और भारती का शास्त्रार्थ

शास्त्रार्थ में पति के पराजित हो जाने पर भारती ने आचार्य शङ्कर से कहा हे विद्वान! मेरे पति की पराजय अभी अपूर्ण है क्योंकि शास्त्रों में पत्नी को पति की अर्द्धांगिनी माना गया है। मैं पूर्ण रूप से मानती हूँ कि आप सर्वज्ञ है। तथापि मेरी इच्छा है कि शास्त्रार्थ करुँ।[1] शास्त्रार्थ वाली घटना एक तपस्वी के मुख से मैं बचपन में सुन चुकी हूँ जिसने मेरे भूत और भविष्य से सम्बन्धित महत्वपूर्ण घटनाओं का उद्घाटन किया था। जिसमें कहा था कि शङ्कर के साथ तुम्हारे पति (ब्रह्म) मण्डन का शास्त्रार्थ होगा और वे पराजित होगें और गृहस्थ कर्म छोड़कर सन्यास ग्रहण करेंगें। जो अक्षरशः आज सत्य हुई। आचार्य शङ्कर ने कहा– हे अबले! तुम्हारा हृदय मेरे साथ शास्त्रार्थ करने के लिये उत्कंठित हो रहा है, यह जो वचन तुमने कहा वह अनुचित है, क्योंकि यशस्वी पुरुष महिलाजनों के साथ वाद–विवाद नहीं करते।

किन्तु वाद में शङ्कर तथा भारती (साक्षात् सरस्वती) से शास्त्रार्थ हुआ और लगभग सत्रह दिन तक चला। सरस्वती ने सोचा कि शङ्कर बचपन में ही सन्यासी हो गये थे अतः कामशास्त्र में इनका ज्ञान नहीं होगा। अतः इसी कामशास्त्र के द्वारा मैं

[1] शङ्कर दिग्विजय– [illegible], ५८, ५६, ६० प्रकाशक– महन्त नरोत्तम गिरि– हरिद्वार

इन्हें जीतूँगी। भारती ने पूछा– काम की कलाएं कितनी है? इसका स्वरूप कैसा है, किस स्थान पर वे निवास करती है शुक्ल पक्ष और कृष्ण पक्ष में उनकी स्थिति कहां–कहां रहती है आदि। इस पर आचार्य शङ्कर ने कहा इस विषय में मुझे एक मास की अवधि दीजिये। हे सुन्दरी! इसके बाद तुम कामशास्त्र में अपनी निपुणता छोड़ दोगी। बाद में जब शंकराचार्य आये तब उभयभारती ने कहा हे भगवन्! आप सदाशिव है, ब्रह्मा के भी अधिपति है, सभी देवताओं और प्राणियों के भी अधिपति है। कौमारि, आप सभी विद्याओं के अधिपति तथा सर्वज्ञ है। आपने सर्वज्ञ होते हुये भी शास्त्रार्थ में मुझे पहले नहीं पराजित किया। अवधि मांगकर आपने जगत के मर्यादा की रक्षा किये है। हम लोगों के लिये यह शर्म की बात नहीं है। सूर्य की प्रचण्ड ज्योति के सामने तारे और चन्द्रमा की ज्योति (फीकी) मन्द पड़ जाती है। ऐसा कहकर वे संसार छोड़ने के लिये उद्यत हुई और शङ्कराचार्य ने प्रार्थना किया कि भविष्य में मैं ऋष्यश्रृंग में मन्दिर की स्थापना कराऊँगा आप उसमें अपनी शक्ति से प्रत्यक्ष निवास करें और भक्तजन की मनोकामनाएं पूर्ण करती रहें।

७. शाङ्कर दर्शन के स्रोत

आचार्य शङ्कर का सिद्धान्त कोई अभिनव सिद्धान्त नहीं था। वह तो वेद प्रतिपादित निर्दोष वेदान्त शास्त्रीय सिद्धान्त के प्रतिपादक रहे है। श्रुति प्रतिपादित अद्वैत मार्ग के पथ–प्रदर्शक मात्र थे। इसको नया शांङ्कर सिद्धान्त देना एक भ्रान्ति थी, और है। शुद्ध ब्रह्मवाद ही उनका सिद्धान्त है। वे जीवन भर वेद एवं उपनिषदों की पूजा करते रहे। अतएव उनके विचारों पर वेदों का अत्यधिक प्रभाव पड़ा है और यह उनकी सभी कृतियों में समान रूप से परिलक्षित भी होता है। यह हमारा दृढ़ विश्वास है कि शङ्कर के धर्मदर्शन का मुख्य स्रोत उपनिषद साहित्य है। किन्तु इसके अतिरिक्त भी कुछ ऐसे तथ्य और कारक अवश्य है जिनका प्रभाव भी उनकी अभिव्यक्ति विधि तथा

विचारों पर पड़ा है। कतिपय विद्वान आचार्य शङ्कर के विचारों एवं अभिव्यक्त विधियों पर बौद्ध दर्शन का प्रभाव स्वीकार करते है, किन्तु वहीं अधिकांश इस प्रभाव को अस्वीकार करने के पक्ष में भी अकाट्य तर्क प्रस्तुत करते है। अतएव इस विवादास्पद बिन्दु को यहीं छोड़कर देना प्रासंगिक होगा।

कतिपय दार्शनिक 'योगवासिष्ठ' ग्रन्थ का प्रभाव भी शङ्कर की रचनाओं पर स्वीकार करते है क्योंकि कुछ दार्शनिकों का मत है कि ब्रह्म के स्वरूप सम्बन्धी विचार और व्यक्तिगत आत्मा के साथ ब्रह्म के तादात्म्य का सिद्धान्त विशेष रुप से उसी से प्रभावित है।[1] **डा० बी० एल० आत्रेय** लिखते हैं कि– "शङ्कर की विवेकचूड़मणि, अपरोक्षानुभूति, शतश्लोकी जैसी काव्यात्मक रचनाओं की तुलना करने पर स्पष्ट ज्ञात हो जाता है कि शङ्कर योगवासिष्ठ से केवल प्रभावित ही नहीं थे वरन् उनकी शिक्षाओं को यथावत् ग्रहण किया है। डा० दास गुप्ता ने स्पष्ट रूप से सिद्ध किया है कि योगवासिष्ठ का काल हर–हालत में शङ्कर का पूर्ववर्ती है।[2] अतएव शंकर पर योगवासिष्ठ का प्रभाव मानना तर्कसंगत है।

शङ्कर के धार्मिक एवं दार्शनिक विचारों पर आचार्य गौणपाद के प्रभाव को भी स्वीकार किये बिना नहीं रहा जा सकता है। शंकर ने गौणपाद की माण्डूक्य कारिका पर भाष्य लिखकर स्वयं उनसे सम्बन्धित बताया है।

वस्तुतः उपनिषद् शङ्कर के धार्मिक एवं दार्शनिक विचारों के मुख्य स्रोत है। यह मत समस्त अन्तः वाह्य साक्ष्यों से प्रमाणित सिद्ध होता है। ब्रह्मज्ञान के सम्बन्ध में स्वयं शङ्कर ने उपनिषदों को सर्वोच्च और स्वतंत्र आप्तवाक्य के रूप में माना है। उदाहरणार्थ– उन्होंने स्पष्ट रूप से स्वीकारा है कि परमात्मा या ब्रह्म केवल वेदान्त

---

[1] योगवसिप्ठ तृतीय अध्याय – ७–२० चतुर्थ अध्याय – २२–२५ पंचम अध्याय ४३, २०

[2] इण्डियन आइडियलिज्म– पृ० १५४

द्वारा ही जाना जा सकता है[1] और शब्द ही ब्रह्म का स्रोत है। शुद्ध ज्ञानस्वरूप परमसत को उपनिषदों द्वारा ही जाना जा सकता है।[2]

आचार्य शङ्कर ने सभी मुख्य उपनिषदों और ब्रह्मसूत्रों पर भाष्य लिखे है। ब्रह्मसूत्र उपनिषदों का ही सार है। भाष्यों का उद्देश्य यही प्रतीत होता है कि शंकर उनके विचारों का स्पष्टीकरण और प्रचार करना चाहते थे। शङ्कर के विचारों का स्रोत उपनिषद् ही रहे है इस तथ्य को पूर्वी साहित्य के अनेक विद्वान भी स्वीकार करते है।

प्रो० पाल. ड्युसन के मतानुसार 'भारतीय प्रज्ञान के वृक्ष पर उपनिषदों से अच्छा पुष्प और वेदान्त दर्शन से अच्छा कोई फल नहीं है। इस दर्शनतन्त्र का जन्म उपनिषदों की शिक्षाओं से ही हुआ और शंकर ने इसे इसके उत्कृष्ठतम स्तर तक पहुंचाया।[3] प्रो० मैक्समूलर के अनुसार भी शङ्कर के दर्शन में उपनिषदों के लगभग सभी बीज विद्यमान है। इस सम्बन्ध में वे कहते है कि जब हम विचार करते है कि वेदान्त दर्शन के सारभूत तत्वमीमांसीय विचार कितने सूक्ष्म एवं गूढ़ है तो यह जानकर आश्चर्य होता है कि शंकर ने उनको या उनके बीजों को प्राचीन उपनिषदों में से खोज निकाला है। ...... हम यह अस्वीकार नहीं कर सकते कि वेदान्ती दार्शनिकों के बहुत से गूढ़ विचारों की जुड़े उपनिषदों में निहित है।[4]

प्रो० रानाडे भी मानते है कि ब्रह्मसूत्र और उपनिषद् वे आधार शिलाएं है जिनपर समस्त वेदान्त दर्शन का भवन खड़ा है। किन्तु ब्रह्मसूत्र उपनिषदों के सिद्धान्तों का सारांश मात्र है और भगवतगीता भी उन्हीं सिद्धान्तों का प्रतिपादन करती हैं जो उपनिषदों में निहित है। अतः आचार्य शङ्कर ही नहीं वरन् लगभग सभी अनुपंथी लोग शंकर के धर्म–दर्शन का स्रोत उपनिषदों को ही मानना उचित समझते है।

---

[1] शाङ्कर भाष्य, ब्रह्मसूत्र (प्रस्तावना)

[2] सिद्धान्त मुक्तावली पृ० २३

[3] आउट लाइन्स आफ वेदान्त सिस्टम ऑफ फिलासफी, प्रीफेस

[4] दि लेक्चर्स आन वेदान्त फिलासफी, पृ० १३५, १३६

प्रत्येक भाष्यकार ने अपनी भाष्य की पुष्टि हेतु वेद और उपनिषद् में वर्णित विचारों का उल्लेख किया। जितने भाष्यकार हुये उतना ही वेदान्त दर्शन का सम्प्रदाय विकसित हुआ। वेदान्त दर्शन के चार सम्प्रदाय मुख्य रूप से है–

१. अद्वैतवाद– आचार्य शङ्कर २. विशिप्टाद्वैतवाद– रामानुज

३. द्वैतवाद– मध्वाचार्य ४. द्वैताद्वैत– निम्बार्काचार्य

शाङ्कर दर्शन– अद्वैतवेदान्त

ब्रह्मविचार– आचार्य शङ्कर के सुप्रसिद्ध वेदान्त सिद्धान्त को समझने के लिये यह श्लोक परम विख्यात है–

श्लोकार्द्धेन प्रवक्ष्यामि यदुक्तं ग्रन्थकोटिभिः।

ब्रह्मसत्यं जगन्निमिथ्या जीवो ब्रह्मैव नाऽपरः।।

अर्थात् जो सिद्धान्त विस्तार से करोड़ो ग्रन्थों के द्वारा कहा गया है वह यह है कि एकमात्र सर्वात्मा या परमात्मा (१) ब्रह्म ही सत्य है। (२) नाम रूपात्मक यह जगत मिथ्या है। वस्तुतः यह स्थिर सत्ता के अभाव में प्रतीयमान है और (३) यह जीव ब्रह्म ही है (४) जीव और ब्रह्म में कोई भेद नहीं। उपर्युक्त इन्हीं चार तथ्यों पर अद्वैतवाद का पूरा दर्शन आधारित है।

सत्य और मिथ्या की परिभाषा के अनुसार परमार्थ सत्य वह है– 'यत् स्यात् सर्वत्र सर्वदा' (चतुःश्लोकी भागवत्) अर्थात् जो सभी कालों में विद्यमान हो, किसी भी काल में जिसका बाध न हो अर्थात् त्रिकालाबाधित हो और जो सर्वत्र अवस्थित है। यदि उस परमार्थ सत् को कोई छोड़ना चाहे तो नहीं छोड़ सकता है क्योकि उसका सभी के साथ तादात्म्य सम्बन्ध है। भेद सहिष्णु, अभेद सम्बन्ध का नाम तादात्म्य है अर्थात् जिसमें वास्तविक अभेद एवं काल्पनिक भेद हो जैसे सुवर्ण के साथ आभूषणों का। वह ब्रह्म सर्वत्र कालपरिच्छिन्न से रहित है। अतः श्रुति द्वारा 'सत्यंज्ञानमनन्तं ब्रह्म' कहा गया

है। मिथ्या वह है जो कभी रहे या कभी न रहे। यहा 'रहने' का अभिप्राय केवल 'प्रतीति' से है। कल्पित पदार्थ मध्य में भासित होने पर भी वस्तुतः आदि एवं अन्त की तरह मध्य में भी अविद्यमान ही है। अतएव माण्डूक्योपनिषद् कारिकार श्री गौडपादाचार्य जी ने कहा है– 'आदावन्ते च यन्नस्ति वर्तमानेऽपि तत्तथा।' आचार्य नृसिंह सरस्वती ने 'वेदान्त डिण्डिम' नामक ग्रन्थ में लिखा है–

यदस्त्पादौ यदस्त्यन्ते यन्मध्ये भाति तत्स्वयम्।
ब्रह्मैवैकमिदं सत्यमिति वेदान्तडिण्डिमः।।
यन्नादौ यच्च नास्त्यन्ते तन्मध्येभातमप्यसत्।
अतोमिथ्या जगत् सर्वमिति वेदान्तडिण्डिमः।।

अर्थात् जो आदि में है, अन्त में है, एवं मध्य में स्वयं भासित है वह एक मात्र ब्रह्म ही सत्य है, यह वेदान्त का डिण्डिम घोष है। जो आदि में नहीं, अन्त में नहीं, मध्य में भासित होने पर भी असत् मिथ्या ही माना गया है। अतः यह जगत् मिथ्या ही है। ऐसा वेदान्त का मत है।

विश्व के प्रति सामान्यतः मनुष्य का दृष्टिकोण वस्तुवादी होता है। वह समझता है कि संसार में अन्य वस्तुओं के साथ उसकी भी सत्ता है और वे वस्तुएं उससे स्वतंत्र है। प्रो० मैक्समूलर के शब्दों– "अधिकांश मनुष्य जाति के लिये दृष्टिगत जगत् पूर्णतः सत्य है, वे उससे अधिक सत्य कुछ भी नहीं समझते है।[1] संसार में जो कुछ इन्द्रिय प्रत्यक्ष का विषय है वह सत् समझा जाता है और इसके विपरीत असत्।[2] इसी दृष्टिकोण से शंकर ने मनुष्य के सामने उपस्थित और दृश्यमान वस्तुओं को सत् माना है तथा इसके विपरीत प्रकार की वस्तुओं को असत् कहा है किन्तु सत् के विषय में सामान्य दृष्टिकोण विश्वसनीय नहीं है। यदि जो कुछ दिखाई देता है, वहीं सत् होता

[1] थ्री लेक्चर्स आन दि वेदान्त फिलासफी, पृ० १२६
[2] शाङ्कर भाष्य, केनोपनिषद्– ६–१२

तो हम भ्रान्त प्रत्यक्षीकरण और यथार्थ प्रत्यक्षीकरण में भेद न कर पाते। यदि दिखाई देना मात्र सत् का मानदण्ड हो तो मृगमरीचिका का जल या रस्सी का सर्प कभी असत् न माना जा सकता।

इसका तात्पर्य यह है कि कम से कम कुछ परिस्थितियों में हमें सामान्य वस्तुवाद छोड़ना ही पड़ेगा। शङ्कर ने भी कहा कि–'कोई वस्तु केवल इसलिये सत् नहीं कही जा सकती क्योंकि वह दिखाई देता है। प्रतिपत्ति तो सत्यत्त्व और मिथ्यात्त्व की समान रूप से होती है। रज्जु में सर्प की प्रतीति भ्रम है और इस प्रकार की दिखाई देने वाली वस्तुएं मिथ्या है।

आचार्य शङ्कर कहते है कि– 'सत्य वह है जिसके विषय में हमारी बुद्धि परिवर्तित न हो। 'यद्विषया बुद्धिर्न व्यभिचरति तत्सत्'।[1] महाभारतकार कहते हैं– सत्य वह है जो अव्यय और निर्विकार हो।[2]

'ब्रह्म' शब्द का तात्पर्य

'ब्रह्म' शब्द की व्युत्पत्ति संस्कृत की 'बृह' धातु से हुई है। 'बृह' का अर्थ है– वृद्धि को प्राप्त होना अथवा बढ़ना। शंकर के अनुसार यदि हम इसके धात्वर्थ पर विचार करें तो ब्रह्म शब्द का अर्थ चिर, शुद्ध आदि स्मरण आने लगता है।[3] अपनी महानता के कारण निरतिशय अथवा भूमा ब्रह्म कहलाता है।[4] ब्रह्म का यह नाम पड़ने का यही कारण है कि यह बृहत्तम और पूर्ण है।

ब्रह्मसूत्रकार वादरायण का मत है कि ब्रह्म शब्द का प्रयोग उपनिषद् में निरपेक्ष सत् के अर्थ में किया जाता रहा है। वह सम्पूर्ण संसार का उपादान और निमित्तकारण माना जाता है।

---

[1] शाङ्कर भाष्य गीता, २/१६
[2] शन्तिपर्व– १६२, १०
[3] शाङ्कर भाष्य ब्रह्मसूत्र १/१/१
[4] शाङ्कर भाष्य केनोपनिषद् १.५

शांकर भाष्य में 'ब्रह्म' का लक्षण इस प्रकार दिया गया है– 'लक्षणन्तु असाधारण धर्म वचनं'। लक्षण दो प्रकार का होता है– १. स्वरूप लक्षण २. तटस्थ लक्षण। स्वरूप लक्षण से तात्पर्य है– 'स्वरूपं सत्व्यावर्तकं स्वरूपलक्षणम्' अर्थात् जो लक्षण अपने लक्ष्य का स्वरूप होता हुआ स्वलक्ष्य को अन्य अलक्ष्यों से पृथक् करता है वह स्वरूप लक्षण है। उदाहरणार्थ– 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म', 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म', 'सच्चिदानन्दं ब्रह्म' इत्यादि।

तटस्थ लक्षण से तात्पर्य है– 'कदाचित् कत्वे सति व्यावर्तकम् तटस्थलक्षण्।' अर्थात् जो लक्षण स्वलक्ष्य में यदा–कदा रहकर अपने लक्ष्य का अन्य अलक्ष्यों से पृथक बोध कराता है वह तटस्थ लक्षण है। जन्माधाधिकरण में ब्रह्म का तटस्थ लक्षण करते हुये महर्षि वादरायण ने लिखा है– 'जन्माहास्य यतः।' यहां पर जन्म, स्थिति तथा लय की कारणता ब्रह्म में सदैव नही रहती, अपितु केवल माया के अधिष्ठान काल में ही रहती है।

'जन्माहास्य यतः इस सूत्र के भाष्य में आचार्य शंङ्कर ने ब्रह्मज्ञान को सिद्धवस्तु विषयक माना है। यह धर्मजिज्ञासा की भांति, पुरुष बुद्धि की अपेक्षा नहीं रखता है, अपितु वस्त्वाधीन होता है। इसी प्रकार ब्रह्मज्ञान भी वस्त्वाधीन है, क्योंकि वह भी सिद्धवस्तुविषयक है– 'एवं भूत वस्तु विषयाणां प्रामाण्यं वस्तुतन्त्रम्। तत्रैवं सति ब्रह्मज्ञानमपि वस्तुतन्त्रमेव भूतवस्तुविषयत्वात्'।

उपनिषद् में सगुण और निर्गुण दो रुपों में ब्रह्म का वर्णन किया गया है। शंकर ने ब्रह्म को निर्गुण कहा है फिर भी ब्रह्म को शून्य नहीं समझा जा सकता है। उपनिषद् ने भी 'निर्गुणों गुणी' कहकर निर्गुण को भी गुणयुक्त माना है। निर्गुण ब्रह्म का वर्णन 'नेति–नेति' से किया जाता है। 'अर्थात् आदेशो नेति–नेति' ब्रह्म ही परमार्थिक दृष्टि से

पूर्णतः सत्य है। ब्रह्म स्वयंज्ञान है वह प्रकाश की तरह ज्योतिर्मय है।[1] ब्रह्म का साक्षात्कार ही चरम लक्ष्य है। वह सर्वोच्च ज्ञान है। ब्रह्म अनन्त, सर्वव्यापी, सर्वशक्तिमान है।

शङ्कर ने ब्रह्म को ही आत्मा कहा है। इसलिये शङ्कर के दर्शन में आत्मा को ब्रह्म कहकर अभिन्नता को प्रमाणित किया है।[2] ब्रह्म को सिद्ध करने के लिये शङ्कराचार्य किसी प्रामाण्य की आवश्यकता महसूस नहीं करते। इसका कारण है कि ब्रह्म स्वतः सिद्ध है। ब्रह्म व्यक्तित्व से शून्य, अपरिवर्तनशील, अनिर्वचनीय, निर्विशेष, निराकार है। ब्रह्म की अनुभूति होती है ब्रह्म परमसत् होने के कारण यद्यपि उस सब में व्याप्त है जिसका हम अनुभव करते है या जिसके अस्तित्व की कल्पना कर सकते है तो भी हमारे अनुभव या कल्पना की कोई वस्तु ब्रह्म पर आरोपित नहीं की जा सकती।[3]

आचार्य शङ्कर ब्रह्म को अनन्त ज्ञान और अनन्त शक्ति सम्पन्न भी मानते है। वह समस्त विश्व का उपादान और निमित्त कारण है। यदि ब्रह्म निरपेक्ष और अद्वितीय है तो नानात्वपूर्ण संसार का मूल इसी में खोजना पड़ेगा। दृश्य जगत का उपादान और निमित्तकरण उससे भिन्न कुछ और मानने का अर्थ ब्रह्म की अद्वितीयता और निरपेक्षता को अस्वीकार करना होगा इसलिये शङ्कर ने यह स्वीकार किया है कि स्वयं ब्रह्म ही संसार की रचना करने वाली अनिर्वचनीय शक्ति माया से विभूषित है और वही माया संसार की उपादान और निमित्तकरण है। ऐसी स्थिति में शङ्कर उसे सगुण ब्रह्म, अपरब्रह्म या ईश्वर कहते है।[4] ब्रह्म को जब हम विचार से जानने का प्रयत्न करते है तब वह 'ईश्वर' हो जाता है। ईश्वर को 'सविशेष' ब्रह्म भी कहते है। ब्रह्म का प्रतिबिम्ब जब माया में पड़ता है तब वह ईश्वर हो जाता है। शंकर के दर्शन में ईश्वर को

---

[1] शाङ्करभाष्य, ब्रह्मसूत्र १.१.५, श्वेताश्वर ३.१६

[2] प्रो० हरेन्द्र प्रसाद सिन्हा– भा० दर्शन की रुपरेखा– पृ० २६६

[3] शाङ्कर भाष्य छान्दोग्य– ६.२१

[4] शाङ्कर भाष्य– केनोपनिषद् १.५

'मायोपहित ब्रह्म' भी कहा जाता है। ईश्वर माया के द्वारा विश्व की सृष्टि करता है माया ईश्वर की शक्ति है जिसके कारण वह विश्व का प्रपञ्च रचता है। ईश्वर विश्व का कारण है लेकिन स्वयं अकारण है। यदि ईश्वर के कारण को माना जाय तो अनवरत् श्रृंखला चलती जायेगी और अनवस्था दोष प्रसक्त हो जायेगा। ईश्वर को विश्व का स्रष्टा माना जाता है। ईश्वर विश्व का उपादान और निमित्त दोनों कारण है वह स्वभावतः निष्क्रिय है परन्तु माया से युक्त होने के कारण वह सक्रिय हो जाता है।

ईश्वर व्यक्तित्वपूर्ण है। वह उपासना का विषय है। कर्म नियम का अध्यक्ष ईश्वर है। ईश्वर ही व्यक्तियों को उनके शुभ और अशुभ कर्मो के आधार पर सुख–दुख का वितरण करता है। ईश्वर कर्मफल दाता है। ईश्वर नैतिकता का आधार है। ईश्वर स्वयं पूर्ण है यह धर्म अधर्म से परे है शंकर ने ईश्वर को विश्व में व्याप्त तथा विश्वातीत माना है। जिस प्रकार दूध में उजलापन अर्न्तभूत है वैसे ही ईश्वर विश्व में व्याप्त है। ईश्वर विश्वातीत भी है, जिस प्रकार घड़ी साज की सत्ता घड़ी से अलग रहती है उसी प्रकार ईश्वर विश्व का निर्माण कर अपना सम्बन्ध विश्व से विच्छिन्न कर विश्वातीत रहता है।

ब्रह्म परमार्थिक दृष्टि से सत्य है जबकि ईश्वर व्यवहारिक दृष्टि से सत्य है ब्रह्म निर्गुण, निराकार और निर्विशेष है परन्तु ईश्वर सगुण और सविशेष है। ब्रह्म उपासना का विषय नहीं है, परन्तु ईश्वर उपासना का विषय है। ईश्वर विश्व का सृष्टा, पालनकर्ता, संहारकर्ता है, परन्तु ब्रह्म इन गुणों से शून्य है। ईश्वर मायोपहित है, ब्रह्म माया से शून्य है। इस प्रकार ईश्वर और ब्रह्म में यह व्यवहारिक भेद है।

अब प्रश्न यह उठता है कि ब्रह्म या ईश्वर के लिये प्रमाण क्या है? शंकराचार्य मानते है कि ब्रह्म के लिये प्रथम प्रमाण श्रुति है जो उसके स्वरूप का वर्णन विशद रूप

से करती है। द्वितीय प्रमाण स्वानुभूति है जिसके आधार पर महर्षियों ने अनुभव किया कि उनकी आत्मा ही ब्रह्म है– 'अयमात्मा ब्रह्म' या मैं ही ब्रह्म हूँ, 'अहं ब्रह्मास्मि'।

जीव विचार

ब्रह्मसूत्र शांकर भाष्य के अनुसार जब आत्मा का प्रतिबिम्ब अविद्या में पड़ता है तब वह जीव हो जाता है। इस प्रकार जीव आत्मा का आभासमात्र है। जहां आत्मा की परमार्थिक सत्ता होती है वहां जीव को व्यावहारिक सत्ता होती है। जब आत्मा शरीर, इन्द्रिय–मन इत्यादि उपाधियों से सीमित होता है तब वह जीव हो जाता है।[1] आत्मा एक है जब कि जीव–भिन्न शरीरों में अलग–अलग है इससे सिद्ध होता है कि जीव अनेक है। जीव संसार के कर्मो में भाग लेता है। शुभ–अशुभ के कारण वह पुण्य और पाप का भागी होता है। जीव ज्ञाता, कर्ता अनुभविता भी होता है क्योंकि सुख–दुख की अनुभूति जीव को होती है। शंकर ने जीव को बन्धन–ग्रस्त माना है अपने प्रयासों से जीव मोक्ष को प्राप्त कर सकता है। शरीर के नष्ट हो जाने के बाद जीव आत्मा में लीन हो जाता है।

जीव आत्मा का वह रुप है जो देह से युक्त है। उसके तीन शरीर है– स्थूल शरीर, लिंग शरीर, कारण शरीर। जब आत्मा का अज्ञान के वशीभूत होकर बुद्धि से सम्बन्ध होता है तब आत्मा जीव का स्थान ग्रहण करती है।

जिस प्रकार एक ही आकाश उपाधि भेद के कारण घटाकाश, मठाकाश इत्यादि रुपों में दिखाई पड़ता है उसी प्रकार एक ही आत्मा शरीर और मनस् की उपाधियों के कारण अनेक दीख पड़ता है।

जीव और ईश्वर

---

[1] 'तथाक्षराद विविधा सोम्य भावाः, प्रजायन्ते तत्र चैवा पियन्ति।। मुण्डकोपनिषद् २/१/१

जब ब्रह्म का माया से सम्बन्ध होता है तब वह ईश्वर हो जाता है और जब ब्रह्म का अविद्या से सम्बन्ध होता है तब वह जीव हो जाता है इस प्रकार जीव और ईश्वर दोनों ही ब्रह्म के विवर्त है। ईश्वर और जीव दोनों की व्यवहारिक दृष्टि से ही सत्यता है परमार्थिक दृष्टि से नहीं।[1] इससे स्पष्ट होता है कि जीव और ईश्वर एक दूसरे के शारीरिक उपाधियां ही उत्पन्न होती है, आत्मा नित्य होने से कभी उत्पन्न नहीं होता है।[2] जीव और ईश्वर में समानताओं के अतिरिक्त भिन्नता भी है यथा– ईश्वर मुक्त है जीव बन्धन ग्रस्त है, ईश्वर अकर्ता है जब कि जीव कर्ता है। ईश्वर उपासना का विषय है जब कि जीव उपासक है। ईश्वर जीव का शासक है जबकि जीव शासित है ईश्वर जीवों को कर्मो के अनुसार सुख–दुःख प्रदान करता है। जीव ईश्वर के अंशों की तरह है, यद्यपि ईश्वर निरवय है।

शङ्कर ने जीव और ईश्वर के सम्बन्ध को बताने के लिये मुण्डकोपनिषद् में वर्णित उपमा की ओर संकेत किया है–

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति, अनश्ननन्यों अभिचाकशीति।।

(मुण्डको० ३/१/१)

अर्थात् साथ–साथ रहने वाले तथा समान आख्यान वाले दो पक्षी एक ही वृक्ष का आश्रय करके रहते है। उनमें से एक फल को मधुर समझकर बड़े चाव से खाता है और दूसरा बिना खाये सिर्फ देखा करता है। पहला जीव है जब कि दूसरा ईश्वर है। जीव भोक्ता है जब कि ईश्वर द्रष्टा है। जीव कर्ता है ईश्वर नियन्ता है। शंकराचार्य के मत में दोनों अविद्योपाधिक और काल्पनिक है शंकर के मत में प्रतिबिम्बवाद अवच्छेदवाद और आभासवाद के बीज है जिसका विकास परवर्ती अनुवायियों ने किया।

---

[1] शाङ्कर भाष्य १/१/३२ (ब्रह्मसूत्र)
[2] ब्रह्मसूत्र २/३/१७

तत्वमसिवाक्य के उद्घाटन में जीव और ईश्वर का सम्बन्ध स्पष्ट होता है । ततः त्वम् का वाच्यार्थ क्रमशः ईश्वर और जीव है।

जीव और ब्रह्म

वस्तुतः ब्रह्म और जीव दोनों उसी प्रकार अभिन्न है जिस प्रकार चिनगारियां अग्नि से अभिन्न होती है। यदि जीव को ब्रह्म या आत्मा से भिन्न माना जाय तब जीव का ब्रह्म से तादात्म्य नहीं हो सकता। क्योंकि दो विभिन्न वस्तुओं में तादात्म्य नहीं सोची जा सकती है। जीव और ब्रह्म में भेद उपाधि के कारण है।[1] जीव और ब्रह्म के सम्बन्ध की व्याख्या के लिये शंकर ने उपमा क सहारा लिया है जिसे प्रतिबिम्बवाद कहते है– जिस प्रकार एक चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब जब जल की भिन्न–भिन्न सतहों पर पड़ता है तब जल की स्वच्छता और मलिनता के अनुरुप प्रतिबिम्ब भी स्वच्छ और मलिन दीख पड़ता है उसी प्रकार जब एंक ब्रह्म का प्रतिबिम्ब अविद्या पर पड़ता है तब अविद्या को प्रकृति के कारण जीव भी भिन्न आकार प्रकार का दीख पड़ता है।

माया

आत्मा से भिन्न जो कुछ भी हो सकता है उसे शंकराचार्य ने 'माया' कहा है। 'माया' शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम ऋग्वेद में हुआ है। ऋग्वेद का प्रसिद्ध मंत्र है– "इन्द्रो मायाभिः पररुप ईयते।[2] इसका अर्थ है कि इन्द्र रहस्यमयी शक्ति के द्वारा अनेक रुप धारण करता है। इनसाइक्लोपीडिया आफ रिलीजन एण्ड एथिक्स में कहा गया है कि 'माया' शब्द का प्रयोग सुर एवं असुर दोनों के छल–कपट के लिये किया गया है। जैसे– असुरों की माया को जीतकर ही इन्द्र ने सोम को जीता। माया के कारण ही सूर्य और चन्द्रमा एक दूसरे के बाद आते है।[3] <u>अथर्ववेद में भी 'माया' शब्द का प्रयोग</u>

---

[1] ब्रह्मसूत्र २/३/४८

[2] ऋग्वेद– ६/४७/१८ (इनसाइक्लोपीडिया आफ रिलीजन एण्ड एथिक्स मे उद्धृत

[3] ऋग्वेद १०/५८/१८ (वही)

इसी अर्थ में किया गया है– 'द्यूत क्रीडा में माया के द्वारा ही भाग्य जगाता है।'[1] शंकराचार्य के अनुसार माया सत् भी नहीं है, असत् भी नहीं है क्योंकि जो सत् है वह आत्मा है इसलिये माया सदसद् विलक्षण है इतना ही नहीं, शंकराचार्य ने उसे तत्त्व और अन्यत्व से भी अनिर्वचनीय कहा है। 'अव्यक्ता हि माया तत्त्वान्यत्वनिरुपणस्य अशक्यत्वात्।' (शारीरक भाष्य १/४/३)

परमार्थिक दृष्टि से माया अनिर्वचनीय है परन्तु व्यवहारिक दृष्टि से माया नामरुपात्मक सत् है इस अर्थ में जितने विषय है वे सब मायिक या माया के अन्तर्गत है। उनकी उत्पत्ति स्थिति और लय माया में है।

'माया' शब्द का प्रयोग भगवद्गीता में भी उपलब्ध होता है भगवान कृष्ण ईश्वरभाव में बोलते हुये स्वयं कहते है कि "मै अविनाशी और अजन्मा होने पर भी समस्त भूत–प्राणियों का ईश्वर होने पर भी अपनी प्रकृति को अधीन करके योगमाया से प्रकट होता हूँ।[2] गीता के उपर्युक्त कथन से स्पष्ट होता है कि माया दिव्य आध्यात्मिक सत्ता पर अवलम्बित है। उसका स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है माया के कारण ही ईश्वर अनेक रूप धारण करता है, किन्तु अपने को अलिप्त रखता है।

योगवासिष्ठ में भी 'माया' शब्द का प्रयोग किया गया है और माया को प्रकृति कहा गया है वह शिव की स्पन्दनकारी एवं दैवी इच्छा है।[4] पुराणों में भी विश्व को ईश्वर की रहस्यमयी शक्ति का कार्य कहा गया है– उदाहरणार्थ– ब्रम्हपुराण में कहा गया है कि द्वैत की दोषपूर्ण दृष्टि को अविद्या कहते हैं[3] और मनुष्य द्वैत दिखाने वाली अपनी माया से ही अपने को भ्रमित करता है।[4]

---

[1] अथर्ववेद– ४/३७/३

[2] भगवद्गीता ४.६

[4] योगवशिष्ठ – ६/२८५ १४ सा राम ..... स्वन्दशक्तिरकृत्रिमा

[3] शाकरभाष्य–श्वेताश्वरतर, प्रस्तावना।

[4] शांकरभाष्य– श्वेताश्वतर प्रस्तावना। स्वमायया स्वमात्मानं मोहयेत् द्वैतरूपा

शङ्कर माया का प्रयोग करने वाले पहले दार्शनिक नहीं थे। यदि व्यवहारिक जगत की व्याख्या के लिये माया का प्रयोग करने के कारण शङ्कर को मायावादी कहा जा सकता है तो प्राचीन काल के उन ऋषियों और विद्वानों को भी मायावादी कहना चाहिए जिन्होंने शास्त्रों की रचना की है।

शङ्कर माया को सर्वशक्तिमान ईश्वर की रहस्यमयी शक्ति मानते है ईश्वर अनिर्वचनीय दिव्य शक्ति के द्वारा विश्व की रचना करता है और स्वयं उससे अप्रभावित उसी प्रकार से रहता है जैसे जादूगर अपनी जादू की शक्ति से अप्रभावित रहता है।[1] माया का आश्रय ईश्वर ही है। सर्वत्र ईश्वर से ही संबन्ध रखने वाले जो नाम रूप हैं जिसे इस दृश्य जगत का बीज कहा गया है, और जिसे न सत् कह सकते है और न ही असत्, वह माया ही है।[2] इस माया के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। वह त्रिगुणात्मिका माया सम्पूर्ण संसार की बीज है।[3] वह समस्त इन्द्रियानुभाविक विश्व का कारण है। तीन गुणों वाली माया ईश्वर की अपनी शक्ति है और वहीं संसार की सब वस्तुओं की मूलस्रोत है।[4] शंकर कहते है कि यह माया सांख्य की प्रकृति से भिन्न है क्योंकि यह स्वतंत्र और सत् है जबकि माया दूसरे पर आश्रित है।[5] शंकर का विचार है कि संसार की उत्पत्ति सर्वज्ञ एवं सर्वशक्तिमान ईश्वर के अतिरिक्त अन्य किसी प्रकार नहीं हो सकती है।[6] इस प्रकार शङ्कर के मत में माया अनादि है, भौतिक और जड़ है, ज्ञाननिरस्या है माया विवर्तहै, भावरूप हैतथा सदसद्निर्वचनीय या भावाभाव विलक्षण है।

जगत प्रपञ्च माया की प्रतीति है, जीव और जगत दोनों मायाकृत है। जिस प्रकार रज्जु में भ्रम से सर्प की प्रतीति होती है और रज्जु का ज्ञान हो जाने पर सर्प

---

[1] शाङ्कर भाष्य ब्रह्मसूत्र २.१.३
[2] शाङ्कर भाष्य ब्रह्मसूत्र २.१.१४
[3] शाङ्कर भाष्य ७.४, १३.१६, १३.२६
[4] शाङ्कर भाष्य (ब्रह्मसूत्र) १४.३
[5] शाङ्कर भाष्य (ब्रह्मसूत्र) १४.३
[6] ब्रह्मसूत्र शाङ्कर भाष्य १.१.२

का बाध हो जाता है उसी प्रकार ब्रह्म, माया या अविद्या के कारण जीव जगत प्रपञ्च रुप में भासित होता है। और निर्विकल्प अपरोक्ष ज्ञान से जब ब्रह्मानुभव हो जाता है तब जीव जगत प्रपञ्च का बाध हो जाता है। यही मोक्ष या आत्म स्वरुप का ज्ञान है।

अविद्या

शङ्कर माया को ईश्वर की मूल शक्ति मानते है किन्तु इससे भी अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि कहीं–कहीं विश्व को 'अविद्यात्मक', 'अविद्याकल्पित' तथा 'अविद्याप्रत्युत स्थापित' भी कहा है।[1] किन्तु यह भी निश्चत है कि शङ्कर ने अविद्या को ईश्वर नहीं कहा है उन्होंने ईश्वर को 'मायिनः' तो कई बार कहा है, किन्तु 'अविद्यावान' एक बार भी नहीं कहा। इसके विपरीत उन्होंने ईश्वर को सर्वज्ञ, सर्वविद् आदि नामों से अवश्य अभिहित किया है। शङ्कर के ये कथन इस बात को इंगित करते है कि उनके अनुसार अविद्या और माया को पर्यायवाची नहीं माना जा सकता। ईश्वर अथवा जगन्नियन्ता को अविद्या का विषय नहीं कहा जा सकता । ईश्वर को अविद्या का विषय मानना आत्म–व्याघाती होगा। देह संघात आदि के साथ आत्मा की तद्रूपता मान लेना ही अविद्या या अज्ञान है। कर्ममात्र से अज्ञान का नाश नहीं हो सकता क्योंकि कर्म और अज्ञान का नाश नहीं हो सकता क्योंकि कर्म और अज्ञान में कोई विरोध नहीं है। जिस प्रकार अंधकार का नाश केवल ज्ञान से ही होता है, उसी प्रकार अज्ञान का नाश केवल ज्ञान से ही होगा। यह अविद्या के ही कारण है कि हमें आत्मा ससीम प्रतीत होती है, अविद्या के नष्ट हो जाने पर आत्मा जो नितान्त अभेद है, स्वस्वरूप को अपने आप प्रकट कर देता है। यह उसी प्रकार हे जैसे बादलों के छट जाने पर सूर्य स्वतः प्रकाशित हो जाता है। अविद्या अनिर्वचनीय और अनादि है यह आत्मा या जीव पर आरोपित एक उपाधि है।

---

[1] ब्रह्मसूत्र, शाङ्कर भाष्य २.१.१४

अध्यास

शङ्कराचार्य ने ब्रह्मसूत्र शाङ्कर भाष्य में अध्यास के तीन लक्षण दिये है– जिनमें कोई तात्विक भेद नहीं है। प्रथम लक्षण के अनुसार– 'अध्यासो नाम स्मृतिरूपः परत्र पूर्व दृष्टावभासः।' अर्थात् अध्यास अवभास है,[1] जो भासित हो रहा है वह उत्तर ज्ञान से निरसित हो जायेगा। यथा– रज्जु में सर्प की प्रतीति। द्वितीय लक्षण के अनुसार– 'अन्यस्य अन्यधर्मावभासता' अर्थात् किसी अन्य वस्तु का किसी अन्य वस्तु के धर्म के रूप में अनुभासित होना है। यथा सीपी में रजत का भान तृतीय· लक्षण है– 'अतस्मिन तद्बुद्धिः'। अर्थात् अध्यास– 'अतद' में तद् का मिथ्या भान है। यह असत् का सत् पर आरोप है। यह सत् और असत् का, सत्य और अनृत का, मिथुनीकरण है।[2]

अध्यास ही माया का हेतु है यदि अध्यास का निराकरण हो जाय तो माया का स्वतः निराकरण हो जायेगा। अविद्या के कारण शुद्ध आत्मत्व पर अनात्मा का तथा देहेन्द्रियान्तःकरणादि अनात्मधर्मो का अभ्यास होते ही यह शुद्ध साक्षि चैतन्य जीव या प्रमाता के रूप में प्रतीत होता है यही अध्यास है।[3] यह अनादि, अनन्त, नैसर्गिक तथा मिथ्याज्ञानरूप अध्यास सारे अनर्थो का मूल कारण है। अद्वैत आत्मतत्व के अपरोक्ष ज्ञान से इसका नाश होता है तथा वेदान्त शास्त्र प्रारम्भ होता है[4]–अविद्या और माया में मुख्य भेद है कि अविद्या ज्ञानमीमांसीय और माया तत्वमीमांसीय संम्प्रत्यय है। माया ईश्वर की शक्ति है श्रुति और स्मृति में उसी को प्रकृति कहा गया है वह संसार का बीज है। शंकर कहतेहै–'सर्वज्ञस्य ईश्वरस्य आत्मभूतइव अविद्याकल्पिते, नाम रुपेतत्वान्यत्वाभ्याम निर्वचनीये संसारबीज भूते च श्रुति स्मृत्योरभिलप्यते'। (शारीरक भाष्य २/१/४) स्वामी

---

[1] शाङ्कर भाष्य ब्रह्मसूत्र, उपोद्धात

[2] वही अत्यन्त विविक्तयोधर्मधर्मिणोः मिथ्याज्ञाननिमितः सत्यानृत मिथुनीकृत्य 'अहमिदम्, ममेदम्' इति नैसिर्गिकोऽयं लोकव्यवहारः।

[3] एवं लंक्षणमध्यास पण्डिता अविद्येति मन्यन्ते, तद्विवेकेन च वस्तुस्वरुपावधारणं विद्यामाहुः। वही।

[4] वही,– अस्यानर्थ हेतो· प्रहाणाय आत्मैकत्व विद्याप्रतिपत्यये सर्वे वेदान्ता आरम्भयन्ते।

विद्यारण्य ने पञ्चदशी में माया या अविद्या के तीनों रूपों का वास्तव, अनिर्वचनीय और तुच्छ का वर्णन किया है।[५]

जगत विचार

<u>'ब्रह्मसत्यं जगन्निमिथ्या जीवो ब्रह्मैव नाऽपरः'</u>। अर्थात् शङ्कर के मतानुसार ब्रह्म ही सत्य है, जगत् मिथ्या है तथा जीव और ब्रह्म अभिन्न है। जगत् की उत्पत्ति के सम्बन्ध में दार्शनिकों में पर्याप्त मतभेद है कोई अचेतन परमाणुओं से उत्पत्ति मानता है, कोई सत्कार्यवाद, कोई असत्कार्यवाद तथा परिणामवाद और विवर्तवाद को मानता है। इसमें से आचार्य शंकर विवर्तवाद को मानते है। तालिका से स्पष्ट है–

परिणामवाद (रामानुज)   विवर्तवाद (शंकर)
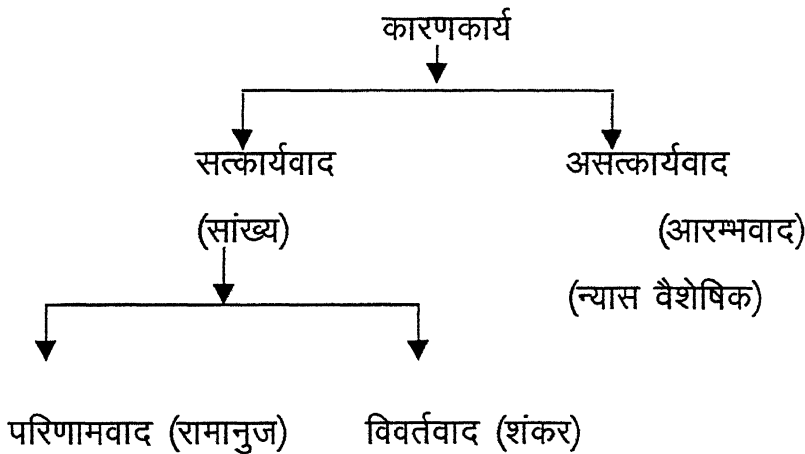
शंकराचार्य के अनुसार जगत् ब्रह्म का विवर्त है, परिणाम नहीं। जगत् ब्रह्म की प्रतीति मात्र है, विकार या तात्विक परिवर्तन नहीं। ब्रह्म कूटस्थ नित्य है अतः उसमें किसी प्रकार का परिवर्तन संभव नहीं है। <u>माया या अविद्या के कारण ब्रह्म जीव और जगत् के रूप में प्रतीत होता है अतः जगत्कारणता सगुण ब्रह्म का तटस्थ लक्षण है</u>। शंकर ने अपने दर्शन में विध कोटियों का उल्लेख किया है–

१. प्रतिभासिक सत्ता – यथा–स्वप्न, भ्रम

२. व्यवहारिक सत्ता – जगत–जीव, ईश्वर

---

[५] तुच्छाऽनिर्वचनीया च वास्तवी चैत्यसौ त्रिधा। ज्ञेया माया त्रिभिर्बोधै· श्रौतयौक्तिकलौकिकैः।। पचदशी

३. परमार्थिक सत्ता – ब्रह्म

शङ्कर ने जगत को व्यवहारिक सत्ता के अन्तर्गत रखा है। जगत् व्यवहारिक दृष्टिकोण से पूर्णतः सत्य है। जगत प्रतिभासिक सत्ता की अपेक्षा अधिक सत्य है और परमार्थिक सत्ता की अपेक्षा कम सत्य है। जगत् तभी असत्य होता है जब जगत् की व्याख्या परमार्थिक दृष्टिकोण से की जाती है। जो देश, काल और कारण–नियम के अधीन है वह सत्य नहीं है क्योंकि इसकी उत्पत्ति और विनाश होता है। अतः जगत भी सत्य नहीं है। जगत् ब्रह्म का विवर्त है। ब्रह्म जगत्रुपी प्रपञ्च का अधिष्ठान है जो विवर्त है उसे परमार्थतः सत्य नहीं कहा जा सकता। अतः विश्व असत्य है।

शङ्कर का जगत् विचार बौद्ध मत के शून्यवाद के जगत् विचार से भिन्न है। शून्यवाद के अनुसार जो शून्य है वहीं जगत् के रूप में दिखाई देता है। परन्तु शंकर के मतानुसार ब्रह्म जो सत्य है वही जगत के रुप में दिखाई देता है। शून्यवाद के अनुसार जगत का आधार असत् है जबकि शंकर के अनुसार जगत का आधार सत् है।[1]

मोक्ष

मोक्ष आत्मा या ब्रह्म के स्वरूप की अनुभूति है। आत्मा या ब्रह्म नित्य शुद्ध चैतन्य एवं अखण्ड आनन्द स्वरूप है। आत्मा ज्ञान स्वरूप है और मोक्ष आत्मा का स्वरूप ज्ञान है। भगवान बुद्ध ने अद्वैत परमतत्व और निर्वाण को एक ही माना है उसी प्रकार शंकराचार्य के अनुसार ब्रह्म और मोक्ष एक ही है। जो ब्रह्म को जानता है वह स्वयं ब्रह्म ही हो जाता है।[2] इस प्रकार ब्रह्मज्ञान और ब्रह्मभाव एक ही है। मोक्ष उत्पाद्य नहीं है और न तो कोई नवीन बात होती है बल्कि मोक्ष प्राप्त हुये की प्राप्ति है–'प्राप्तस्य प्राप्ति मोक्षः।' जीव का जीवत्व अविद्या के करण है। अविद्या के वशीभूत जीव देहेन्द्रियान्तः करणदि से तादात्म्य कर लेता है और देह की सुख–दुख की

---

[1] शाङ्करभाष्योपनिषद् ४.१, शाङ्कर भाष्य ब्रह्मसूत्र १.१.४

[2] ब्रह्मविद ब्रह्मैव भवति– मुण्डकोपनिषद् ३.२.६

अनुभूतियों को अपना समझ लेता है और भोक्ता बनकर जन्म–मरण के चक्र में फंस जाता है और संसरण करता रहता है यही बन्धन है। अर्थात् आत्मा का शरीर और मन से अपनापन का सम्बन्ध ही बन्धन है। वस्तुतः बन्धन और मोक्ष दोनों व्यवहारिक है तथा परमार्थतः मिथ्या है। ब्रह्म साक्षात्कार, अविद्यानिवृत्ति प्रपञ्च विलय, मोक्ष प्राप्ति ये सब एक बात है और उपचार मात्र है अविद्यानिवृत्ति और ब्रह्म भाव या मोक्ष में कार्यान्तर नहीं है।[1]

आचार्य शङ्कर ने ब्रह्मसूत्र शाङ्कर भाष्य में समन्वयाधिकरणस्थ 'तत्तुसमन्वयात्' इस सूत्र के विवेचन क्रम में 'ब्रह्मभावश्च मोक्षः' अर्थात् ब्रह्मभाव या ब्रह्मावगति को मोक्ष कहा गया है यह मोक्ष नित्य, शुद्ध, ब्रह्मस्वरूपवान मोक्ष सुख के समान आपेक्षिक या परिणामी सुख नहीं है जो धर्म के क्षीण होने पर नष्ट हो जाय– 'क्षीर्णपुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति' अर्थात् मोक्ष परमार्थिक नित्य है।[2] मोक्ष किसी कर्म से प्राप्त नहीं हो सकता है उसके लिये ब्रह्म या परमसत् का अव्यवाहित ज्ञान अपेक्षित है। अनासक्त भाव से किये गये कर्म इस मार्ग को प्रशस्त कर सकते है। किन्तु इसके द्वारा भी साक्षात ज्ञान नहीं हो सकता है। उसके लिये ब्रह्म या परमसत् का अव्यवहित ज्ञान अपेक्षित है। अनासक्त भाव से किये गये कर्म इस मार्ग को प्रशस्त कर सकते है किन्तु इसके द्वारा साक्षात् ज्ञान नहीं हो सकता है। कर्म का परिणाम तो केवल रचना–रूपान्तरण, परिवर्तन या किसी वस्तु की उपलब्धि रुप में देखा जाता है।[3] किन्तु मोक्ष इसमें से कुछ नहीं है अर्थात् कर्मो से शंकराचार्य मोक्ष का सीधा सम्बन्ध नहीं मानते है।[4]

ब्रह्मभाव को प्राप्त करने के पश्चात् 'भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशया। क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे पराऽवरे।' अर्थात् सभी प्रकार के शोक एवं मोह से

---

[1] श्रुतयो मध्ये कार्यान्तरं वारयन्ति। शाङ्कर भाष्य १/१/१४
[2] नित्यो हि मोक्षः– शाङ्कर भाष्य तैत्तिरीय १.२
[3] शाङ्कर भाष्य तैत्तिरीय – १.२
[4] शाङ्कर भाष्य ब्रह्मसूत्र– ४–१–१३

रहित ऐसा मुक्त पुरुष सर्वत्र ब्रह्म का ही दर्शन करता है क्योकि वह स्वयं ब्रह्म स्वरुप हो जाता है– 'तत्र को मोहः कः शोकः एकत्वमनुपश्यतः।'

इस प्रकार शङ्कराचार्य ने माक्ष के तीन लक्षण बताये है– १. अविद्यानिवृत्तिरेव मोक्षः (मोक्ष अविद्यानिवृत्ति है। २. ब्रम्हभावश्च मोक्षः (ब्रह्मभाव मोक्ष है) ३. नित्यमशरीरत्वं मोक्षाख्यम् (नित्य शरीरत्व मोक्ष है)

शङ्कर मुक्ति के दोनों रूपों को मानते है– सदेह मुक्ति और विदेह मुक्ति। अधिष्ठान भूत आत्म साक्षात्कार से अविद्या निवृत्त होते ही शरीर के रहने पर भी अशरीरत्व या जीवनमुक्ति सिद्ध होती है जीवनमुक्त व्यक्ति को अपने शरीर से उसी प्रकार कोई आसक्ति नहीं होती है जिस प्रकार सर्प को अपनी केंचुली से नहीं होती है।

जिस प्रकार कुलाचक्र पूर्ववेग के कारण कुछ देर तक घूमता रहता है उसी प्रकार जीवन मुक्त का शरीर प्रारब्ध कर्म के कारण कुछ समय तक बना रहता है किन्तु इस समय किसी नवीन कर्म का संचय नहीं होता है। प्रारब्ध कर्म के नष्ट होने पर ही देहपात होकर विदेह मुक्ति होती है।

अर्थात् जब 'तत्वमसि' महावाक्य की (उपदेश) परिणति 'अहं ब्रह्मास्मि' इस अनुभव वाक्य में होती है तब ब्रह्म साक्षात्कार होता है।

शङ्कर ने कर्म और भक्ति को ज्ञान प्राप्ति में सहायक न मानकर केवल ज्ञान को माना है। ज्ञान की प्राप्ति वेदान्त दर्शन के अध्ययन से ही संभव है। जो साधनचतुष्टय का पालन करता है वहीं वेदान्त का सच्चा अधिकारी बनता है– जो निम्न है–

१. **नित्यानित्य वस्तु विवेक**– साधक को नित्य और अनित्य वस्तुओं में भेद करने का विवेक होना चाहिए।

२. **इहामुत्रार्थ भोग विराग**— साधक को लौकिक पारलौकिक भोगों की कामना का परित्याग करना चाहिए।

३. **शमदमादि— साधन—सम्पत्**— साधक को शम, दम, श्रद्धा, समाधान, उपरति और तितिक्षा इन छः साधनों को अपनाना चाहिए।

४. साधक को मोक्ष प्राप्त करने का दृढ़ संकल्प होना चाहिए। जो साधक उपर्युक्त चार साधनों से युक्त होता है उसे वेदान्त की शिक्षा लेने के लिये ब्रह्मज्ञान अनुभूति प्राप्त गुरु के चरणों में उपस्थित होना चाहिए। गुरु के साथ साधक को श्रवण—मनन—निदिध्यासन प्रणाली का पालन करना चाहिये।

गुरु के उपदेशों को सुनना ही 'श्रवण' है, उस पर तार्किक दृष्टि से विचार करना 'मनन' है फिर सत्य पर निरन्तर ध्यान रखना 'निदिध्यासन' है।

स्पष्ट है, कि शंकराचार्य के ज्ञानमार्ग में तर्क और श्रुतिज्ञान का समन्वय है। तर्क का प्रयोग श्रुत्यर्थ को ग्रहण करने में आवश्यक है। श्रुतिज्ञान तर्क ज्ञान को प्रेरित करता है उसके समक्ष एक आदर्श रखता है। तर्कज्ञान उस आदर्श को प्राप्त करने के लिये अपनी अन्तरंग समीक्षा करता है। वह अपने को जितना युक्ति युक्त और परिपूर्ण बनाता है उतना ही वह ब्रह्मात्मैक्य के अनुभव के सन्निकट पहुंचता है— 'तर्को वै ऋषिः'— अर्थात् तर्क ही आर्षज्ञान का प्राप्तकर्ता है।

इस प्रकार शाङ्कर दर्शन पर विचार करने से स्पष्ट होता है कि शाङ्कर दर्शन जीवन दर्शन है। अन्य भारतीय दर्शन सिद्धान्तों की ही भाँति आचार्य शङ्कर के दर्शन में भी न केवल मानव जीवन के सर्वोच्च आदर्श पर ही विचार किया गया बल्कि प्राप्त करने का मार्ग भी बताया गया है और व्यवहारिक जीवन में भी अपनाने पर बल दिया गया है।

पञ्चम–अध्याय

शङ्कराचा।यामन्त्र अद्वैतवादी आचार्य और उनके सिद्धात

शङ्कराचार्य ने संहिताओं, उपनिषदों, आरण्यकों, ब्राह्मणों, ब्रह्मसूत्र एवं श्रीमद्भागवत गीता के आधार पर जिस अद्वैतवाद सिद्धान्त की व्यवस्थित एवं सैद्धान्तिक स्थापना की थी, बाद में उनके शिष्यो–प्रशिष्यों ने भी अद्वैतवाद को सुदृढ़ता प्रदान करने में योगदान दिया। शङ्करोत्तर मुख्य आचार्यो में आचार्य पद्मपाद, सुरेश्वराचार्य, प्रकाशात्मा, सर्वज्ञात्ममुनि और वाचस्पतिमिश्र का महत्वपूर्ण योगदान है। इन महान आचार्यो का आविर्भाव ईसा की अष्टम एवं नवम शताब्दी में हुआ था जो अद्वैतवाद का स्वर्णकाल था। निःसन्देह आचार्य शङ्कर ने अपने भाष्यों में तर्कपूर्ण ढ़ंग से अद्वैतवाद की स्थापना की थी किन्तु उपर्युक्त दार्शनिकों द्वारा अध्यास, मिथ्यात्व, अविद्या, जीव ब्रह्म सम्बन्ध, अविद्या निवृत्ति आदि सम्बन्धें पर अद्वैत विरोधी बौद्ध, न्याय आदि मतों का तर्कतः खण्डन किया तथा युक्तियुक्त ढंग से अद्वैतवाद की व्याख्या की है। शंकरोत्तर अद्वैत वेदान्तियों द्वारा रामानुज, मध्वादि वैष्णवों के द्वैतपरक युक्तियों का भी खण्डन किया। शङ्करोत्तर अद्वैत वेदान्तियों में शङ्कराचार्य के दो शिष्य सुरेश्वराचार्य तथा पद्मपादाचार्य ने अपने महत्वपूर्ण ग्रन्थर लिखकर अद्वैतवाद का विकास किया तथा इन आचार्यो के अतिरिक्त वाचस्पतिमिश्र, सर्वज्ञात्ममुनि, विमुक्तात्मा, प्रकाशात्मयति, श्रीहर्ष, आनन्दबोध, चित्सुखाचार्य अमलानन्द, विद्यारण्य स्वामी प्रकाशानन्द यति मधुसूदन सरस्वती, ब्रह्मानन्द सरस्वती नृसिंहाश्रम सरस्वती, अप्पय दीक्षित, धर्मराजा हरवीन्द्र और सदानन्द आदि प्रसिद्ध है।

उपर्युक्त प्रमुख आचार्यो में शङ्कर के शारीरक भाष्य पर वाचस्पति मिश्र की प्रसिद्ध 'भामती' नामक टीका है भामती के नाम पर 'भामती–प्रस्थान' कहलाता है। भामती पर अमलानन्द सरस्वती ने वेदान्त कल्पतरु नामक टीका लिखी है। पद्मपाद् द्वारा रचित शारीरक भाष्य मुख्यतः चतुःसूत्री पर, पञ्चपादिका नामक वृत्ति पर

प्रकाशात्मयति की पंचपादिका 'विवरण' नामक टीका है जिसके आधार पर 'विवरण प्रस्थान' कहलाता है। ये दोनों प्रस्थान अद्वैतवाद के प्रामाणिक प्रस्थान है। इस प्रस्थान के प्रमुख दार्शनिक, प्रकाशात्मयति, तत्वदीपनकार अखण्डानन्द, चित्सुखाचार्य, सर्वज्ञ विष्णुभट्ट (ऋजुविवरणकार) नृसिंहाश्रम, आनंदपूर्ण विद्यासागर, यज्ञेश्वर दीक्षित, विवरण प्रमेय संग्रहकार विद्यारण्य स्वामी आदि। सुरेश्वराचार्य ने शङ्कराचार्य के बृहदारण्यक भाष्य और तैत्तिरीय भाष्य पर वार्तिक लिखे है जिसके कारण उन्हे 'वार्तिककार' कहा जाता है। इनका प्रसिद्ध ग्रन्थ 'नैष्कर्म्य सिद्धि' है। वार्तिक प्रस्थान के संस्थापक सुरेश्वराचार्य के आधार ग्रन्थ वृहदारण्यकोपनिषद् भाष्य वार्तिक पर आनन्दगिरि ने टीका लिखी तथा विद्यारण्य स्वामी का वृहदारण्यवार्तिक सार संक्षेप रूप में है। सुरेश्वराचार्य के अन्य ग्रन्थों में पंचीकरण वार्तिक, मानसोल्लास– जो शंकराचार्य कृत दक्षिणा मूर्ति स्तोत्र पर वार्तिक है। सुरेश्वराचार्य के नाम से स्वराजसिद्धि और काशीमृतिमोक्ष विचार नामक ग्रन्थ भी हस्त लिखित ग्रन्थों की सूची में दिये गये है। किन्तु जो स्वराज्यसिद्धि प्रकाशित है उसके प्रणेता गंगाधरेन्द्र सरस्वती (१६वीं शती) है। सुरेश्वराचार्य नहीं। तैत्तिरीयोपनिन्द् भाष्य वार्तिक पर भी आनन्द गिरि की टीका है।

मण्डन मिश्र की जन्म स्थान के विषय में भी दो मत हैं– कुछ विद्वान मानते है कि बिहार के सहरसा जिल के 'महिषी' ग्राम में हुआ था। ये मीमांसक और कर्मकाण्ड में आस्था रखते थे। दूसरे मत के अनुसार इनकी जन्मस्थली माहिष्मती नगरी मानी जाती है। जो इन्दौर के पास मान्धाता नाम से भी प्रसिद्ध है। ये प्रसिद्ध मीमांसक कुमारिल के शिप्य थे। इनकी पत्नी का नाम उम्बा था जो विदुषी थी। माधवाचार्य ने अपने ग्रन्थ 'शंकर दिग्विजय' इनके पिता का नाम हिममित्र लिखा है। सुरेश्वराचार्य का समय ८०० ई० है।

ग्रहण करने के उपरान्त ही गुरु की आज्ञा से कई अद्वैत पोषक ग्रन्थों का प्रणयन किया।

संयोगवश एक दिन सुरेश्वराचार्य ने आचार्य शंकर को षाष्टांग प्रणाम करते हुए निवेदन किया— 'हे महान गुरु! मै जिस प्रकार आपकी लक्ष्य प्राप्ति में सहायक हूँ उसे पूरा करने के लिए सब तरह से तैयार हूँ। आप मुझे निःसंकोच आज्ञा प्रदान कीजिये।

सुरेश्वराचार्य की प्रार्थना सुनकर आचार्य शंकर बहुत प्रसन्न हुये और बोले— 'वत्स! तुम मेरे शारीरिक भाष्य पर सुन्दर वार्तिक की रचना करो।'

सुरेश्वराचार्य ने कहा प्रभो तर्कयुक्त गंभीर वाक्य सम्पन्न आपके भाष्य को समझने की शक्ति तो मुझमें नहीं है फिर भी आपकी कृपा से मैं यथाशक्ति ग्रन्थ रचना करने की पूर्ण चेष्टा करूँगा। आचार्य ने अपनी स्वीकृति दे दी। किन्तु आचार्य के अन्य शिष्यों को जब यह बात मालुम हुयी तो उन्होंने इसका विरोध किया। वे आचार्य के पास पहुंचकर उनसे निवेदन किया— भगवन! आप सुरेश्वराचार्य से अपने भाष्य पर वार्तिक लिखा रहे है पर इससे आपका अभीष्ट सिद्ध नही होगा। क्या कुछ ही दिन पहले सुरेश्वर प्रबल मीमांसक नही थे? उन्होंने मण्डन मिश्र के रूप में मीमांसा के कर्मकाण्ड का प्रतिपादन किया। उन्होंने इस बात पर बहुत अधिक जोर दिया कि समस्त वेदों का लक्ष्य कर्म के प्रतिपादन में है। कर्म करने से ही स्वर्ग की प्राप्ति होती है। कर्म ही फलदाता है। कर्म के अतिरिक्त ईश्वर कोई वस्तु नहीं। हे प्रभो ऐसे कर्मकाण्डी द्वारा आपके भाष्य पर वार्तिक लिखना आपके अद्वैतपरक भाष्य के सर्वथा प्रतिकूल होगा क्योंकि उसमें वैदिक कर्मकाण्ड की प्रधानता रहेगी। अतः सुरेश्वराचार्य की वार्तिक रचना आपके अद्वैत सिद्धान्त पर कुठाराघात के समान सिद्ध होगी। हम लोग आपका ध्यान आपके योग्यतम शिष्य पद्मपाद की ओर आकृष्ट करना चाहते हैं। आप इनकी भी पहले परीक्षा ले चुके हैं आपने प्रसन्न होकर सनन्दन से पद्मपाद नाम

रखा है ये वे ही पद्मपाद है जो आपकी अपूर्व सेवा करके आपकी कृपा से अद्वैत ज्ञान में पूर्ण रूप से प्रतिष्ठित हुए है। ये जितेन्द्रिय और पूर्ण ब्रह्मज्ञानी है। द्वैतभाव का इनमें लेश भी नहीं है। पद्मपाद के अभाव में यह काम त्रोटक को भी सौंपा जा सकता है। जिन पर सरस्वती की अद्भुत कृपा है। अपनी कठिन तपश्चर्या और अलौकिक गुरु भक्ति से आपकी महती अनुकम्पा अर्जित की है। इसके बाद पद्मपाद ने आचार्य से प्रार्थना की–'यह हस्तामलक आपके भाष्य पर वार्तिक लिखने में सर्वथा समर्थ है।' सभी शास्त्रों का ज्ञान उन्हें 'हस्तामलकवत्' है। उनकी इसी विशिष्टता पर मुग्ध होकर आपने 'हस्तामलक' नाम रखा था।

पद्मपाद का निवेदन सुनकर आचार्य ने कहा वत्स पद्मपाद! तुम्हारी बात हस्तामलक के सम्बन्ध में यथार्थ है पर इसमें कठिनाई यह है कि वह निरन्तर अर्न्तमुखी रहता है। सांसारिक प्रपञ्चों से वह सर्वथा विमुक्त है। उसकी वृत्ति बर्हिमुख नहीं है। ब्रह्मज्ञान के अद्वैततत्त्व में सदैव प्रतिष्ठित रहता हे उसे सारी वस्तुओं का ज्ञान प्राप्त है फिर भी वह अपनी नितान्त अर्न्तमुखता के कारण वार्तिक लिखने के योग्य नहीं है। पर मुझे आशंका है कि सुरेश्वर के बिना वार्तिक रचना की योजना असफल हो जायेगी।

शिष्य की बात सुनकर आचार्य ने कहा– इसमें सन्देह नही है कि पद्मपाद बड़ा ही योग्य और विद्वान है, ब्रह्मज्ञानी भी है। अतः मेरी राय है कि पद्मपाद इस भाष्य पर 'वृत्ति' लिखे और सुरेश्वर वार्तिक। वार्तिक लिखने के लिये सुरेश्वर स्वयं प्रतिज्ञाबद्ध है। इसके बाद आचार्य शङ्कर ने सुरेश्वराचार्य को एकान्त में बुलाकर कहा– 'वत्स सुरेश्वर! अभी तुम वार्तिक मत लिखो तुम्हारे गुरु भाईयों को सन्देह है कि सुरेश्वराचार्य वार्तिक लिखने में सक्षम नहीं है क्योंकि सन्यास ग्रहण करने से पूर्व मीमांसा शास्त्र के कर्मकाण्ड के प्रति उनका आग्रह बहुत अधिक था। उनका यह आग्रह अभी छूटा नहीं होगा।

शङ्कराचार्य ने कहा कि अतएव तुम वार्तिक रचना के पूर्व एक स्वतंत्र अद्वैतपरक ग्रन्थ की रचना करके मुझे दिखाओ इससे अन्य शिष्यों की आशंका निर्मूल हो जायेगी।

शिष्यों की मनोभावनानुसार आचार्य का नया आदेश पाकर सुरेश्वराचार्य अद्वैत सिद्धान्त के नये ग्रन्थ के प्रणयन में जुट गये। थोड़े ही समय में 'नैष्कर्म्यसिद्धि' नामक ग्रन्थ की रचना कर डाली। इस ग्रन्थ में आत्मा के स्वरूप का स्वतंत्र और मौलिक निरूपण किया गया है। इसकी कीर्ति आज तक अक्षुण्ण बनी हुई है। उन्होंने इस ग्रन्थ को आचार्य के कर कमलों में समर्पित किया। इस ग्रन्थ को पढ़कर आचार्य शङ्कर अति प्रसन्न हुये और उन्हें यह पूर्ण निश्चय हो गया कि सुरेश्वराचार्य की बुद्धि शास्त्रों के यथार्थ और सूक्ष्म भावों को ग्रहण करने में अप्रतिम है। ऐसा शास्त्र मर्मज्ञ कोई दूसरा नहीं है। आजकल भी बड़े–बड़े सन्यासी और दार्शनिक नैष्कर्म्य सिद्धि का अध्ययन करते है। और उसकी मुक्त कंठ से प्रशंसा करते है। इस पर निम्नलिखित टीकाएं है– ज्ञानोत्तम की 'चन्द्रिका टीका', चित्सुख की 'भावतत्व प्रकाशिका', ज्ञानामृते की 'विद्यासुरभि' आदि। सुरेश्वराचार्य ने कहा कि यदि कोई भी विद्वान भाष्य (शाङ्कर भाष्य) का वार्तिक लिखेगा तो वह यशस्वी नहीं होगा और उसकी कृति विद्वान मण्डली में प्रसिद्ध न हो सकेगी। ऐसा अभिशाप देकर और अपनी रचना शङ्कराचार्य को देकर निवेदन किया– गुरुवर! इस ग्रन्थ की रचना मैंने अपनी ख्याति या लोकसिद्धि के लिए नहीं किया है गुरु के आदेशानुसार ही इसकी रचना किया है। मैने सन्यास केवल इसलिये नहीं ग्रहण किया कि शास्त्रार्थ की शर्त थी बल्कि मैने आपके उपदेश से भलीभाँति अनुभव किया कि मोक्ष कामी पुरुष के लिये त्यागवृत्ति ही सब कुछ है। आपकी महती कृपा से मुझे आत्मसाक्षात्कार हो गया और सत् चित् आनन्द ब्रह्म में मैं पूर्ण रूप से प्रतिष्ठित हो गया।

शङ्कराचार्य ने क्षुब्ध होकर सुरेश्वराचार्य से कहा कि मेरी दो कृतियां– बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्य और तैत्तिरीयोपनिषद् भाष्य है। तुम जानते हो कि मेरी तैत्तिरीय शाखा है और तुम्हारी काण्व। अतः तुम जगत कल्याण के लिये उन दोनों पर वार्तिक रचना करो ये दोनों भाष्य मुझे परम प्रिय है। इन दोनों उपनिषद् भाष्यों पर वार्तिक लिखकर तुम सदैव के लिये अमर हो जाओगे। आचार्य शङ्कर की आज्ञा से सुरेश्वराचार्य ने बहुत ही अल्प समय में अद्वैत मार्ग का बड़ी ही कुशलता से प्रतिपादन किया गया है तथा साथ ही अद्वैत विरोधी मतों का अकाट्य तर्कों और युक्तियों से खण्डन किया गया है। यतिराज शङ्कर इन वार्तिक ग्रन्थों को देखकर अति प्रसन्न हुये। ये दोनों ग्रन्थ आज भी उपलब्ध है।

दार्शनिक मत

सुरेश्वराचार्य का दार्शनिक दृष्टिकोण अपने गुरु शङ्कराचार्य के सिद्धान्तों का ही समर्थक था किन्तु कहीं–कहीं अपनी प्रतिभा शक्ति के द्वारा नवीन उद्भावनाएं भी की थी। यथा– आभासवाद का सिद्धान्त सुरेश्वराचार्य का प्रमुख सिद्धान्त है। सुरेश्वराचार्य का प्रमुख सिद्धान्त है। सुरेश्वराचार्य जगत को न प्रतिबिम्ब स्वीकार करने के पक्ष में और न अवच्छेद स्वीकार करने के पक्ष में प्रतिबिम्बवाद और अच्छेदवाद के विपरीत वे जगत् को आभासमात्र मानते है।[1] इनके मत में व्यवहारिक सत्यों से पूर्ण जगत् की सत्ता उसी प्रकार आभासमात्र होने के कारण मिथ्या है जिस प्रकार मायिक (ऐन्द्रजालिक) विषय आभासमात्र होने के कारण मिथ्या होते है। दोनों में अन्तर है कि व्यवहारिक जगत् के सत्य, जगत् में अविद्या के कारण सत्य दिखाई पड़ते है और मायिक विषयों का मिथ्यात्व व्यवहारिक जगत में ही होता है। परन्तु व्यवहारिक सत्यता तभी तक कही जा सकती है जब तक कि सिद्ध अविद्या की निवृत्ति नहीं होती। इस

[1] बृहदारण्यक भाष्य वार्तिक पृ० १२४५

प्रकार आचार्य सुरेश्वर के मत में जगत् की सत्यता आभासमात्र है वास्तविक नहीं। इस प्रकार परमार्थ सत्य ब्रह्म के अनेक जागतिक रूपो में आभासन का कारण अविद्या है।

जहां तक प्रतिबिम्बवाद का प्रश्न है, बिम्ब (मूलतत्त्व) एवं प्रतिबिम्ब में अभिन्नत्व है परन्तु इसके विपरीत आभासवाद सिद्धान्त के अनुसार मूलतत्त्व (ब्रम्ह) एवं आभास मात्र द्वैतरूप जगत में अभिन्नत्व नहीं है।[1] प्रतिबिम्बवाद के अनुसार अविद्या में परमार्थ सत्य रुप ब्रह्म का जो प्रतिबिम्ब दिखाई पड़ता है वह ब्रह्म से पृथक न होने के कारण सत्य है। परन्तु सुरेश्वराचार्य के आभासवाद के अनुरूप अविद्या के कारण मूल सत्य ब्रह्म में जिस व्यवहारिक जगत् की प्रतीति होती है वह आभासमात्र होने के कारण सत्य नहीं है। प्रतिबिम्बवाद के अनुसार प्रतिबिम्ब सर्वदा सत्य होता हैं। अज्ञान के कारण प्रतिबिम्ब सर्वदा सत्य होता है। अज्ञान के कारण प्रतिबिम्ब असत्य दिखाई पड़ता है। प्रतिबिम्बवाद की दृष्टि में अज्ञान बिम्ब एवं प्रतिबिम्ब की भेद दृष्टि है। बिम्ब एवं प्रतिबिम्ब के भेद दर्शान के कारण ही द्रष्टा को प्रतिबिम्ब मिथ्या प्रतीत होता है, अभेद दर्शन के द्वारा नहीं।[2]

इस प्रकार अवच्छेदवाद के मत में सर्वव्यापी एवं असीम ब्रह्म ही जीव की अविद्या की अनन्त उपाधियों के कारण अवच्छिन्न एवं असीम रूप कों प्राप्त होता है। इस प्रकार अवच्छेद के अनुसार अवच्छेद (ब्रह्म का अविच्छिन्न रूप) मानसिक धारणा होने के कारण मिथ्या है परन्तु (ब्रह्म) अवच्छिन्न दिखाई पड़ता है वह सर्वथा अनवच्छिन्न एवं सत्य ही है। इसके विपरीत आभासवाद के अनुसार जगत् की सत्यता का आभास किसी प्रकार भी सत्य नहीं है। आभासवाद के आधार पर सुरेश्वराचार्य ने व्यवहारिक जगत को आभास मात्र कहकर जगत का निराकरण करके अद्वैतवाद का प्रतिपादन किया था। सुरेश्वराचार्य का यही आभासवाद है। ऐसा प्रतीत होता है कि भगवान वादरायण तथा

---

[1] बृहदारण्यक भाष्य वार्तिक पृ० ६६६ विधि विवेक २१,२२

[2] Dr. Virmani Upadhyaa – Lights on Vedanta – P-43

चतुःसूत्री ब्रह्मसूत्र तक ही सीमित है। यह ग्रन्थ अधूरी ही प्रतीत होती है, किन्तु माधवाचार्य ने 'शङ्कर दिग्विजय' में लिखा है पंचपादिका का उत्तरार्द्ध शेष भाग भी है। जिसका नाम 'वृत्ति' था। सम्प्रति 'वृत्ति' नामक वह भाग अनुपलब्ध है।

'शङ्कर दिग्विजय' में वर्णित एक कथा के अनुसार पद्मपादाचार्य की ब्रह्मसूत्र लिखी टीका का पूर्व नाम 'वेदान्तडिण्डिम' था। अब यह पंचपादिका नाम से जानी जाती है– 'यत्पूर्वभागः किल पञ्चपादिका तच्छेषगा वृत्तिरिति प्रथीयसी' (शङ्कर दिग्विजय श्लोक ७०–७१)

पञ्चपादिका शाङ्कर वेदान्त का अतिमहत्वपूर्ण निबन्धग्रन्थ है इस ग्रन्थ में पद्मपाद ने शाङ्करभाष्य के तात्पर्य का तार्किक और अभूतपूर्व विश्लेषण प्रस्तुत किया है। यह शाङ्करभाष्य का यथार्थ आलक ग्रन्थ है।

शङ्कर दिग्विजय में चर्तुदश सर्ग में पद्मपाद की तीर्थयात्रा की इच्छा, तीर्थयात्रा का दोष, तीर्थयात्रा प्रशंसा आदि का वर्णन है। यतिराज शङ्कर ने पद्मपाद को शिक्षा देते हुये कहा वत्सपद्मपाद गुरु का सामीप्य ही सबसे बड़ी तीर्थयात्रा है,[1] गुरु का चरणोदक ही महान तीर्थ का पवित्र जल है। किन्तु शङ्कराचार्य द्वारा तीर्थयात्रा दोष बताने पर भी पद्मपाद अडिग रहे। वार्तिक रचना में बाधा डालने के कारण पद्मपाद मन ही मन अपने को महान अपराधी समझने लगे थे। भारी पश्चाताप से उनका मन भर गया था अतः मन ही मन तीर्थयात्रा करने का संकल्प कर लिया था। पद्मपाद की बातें सुनने के बाद आचार्य शङ्कर ने तीर्थयात्रा करने का आशीर्वाद दिया। पद्मपाद उत्तर भारत की यात्रा करने के अनन्तर दक्षिण भारत की यात्रा किये। दक्षिण भारत में कालहस्तीश्वर शिवलिंग की पूजा किये तथा इसके बाद रामेश्वर की ओर प्रस्थान किये, रास्ते में मामा का गाँव मिला। मामा–भांजे को देखकर प्रसन्न हुये

---

[1] शुश्रुषमाणेन गुरेः समीपे स्थेयं न नेय च ततोऽन्य देशे (शंकर दिग्वि० १४/३) पद्याग्रहोऽस्ति तब तीर्थ निषेवणायां विघ्नोमयाऽत्र न खलु क्रियते पुमर्थे ।। शङ्कर दिग्विजय ११४/२०

चतु:सूत्री ब्रह्मसूत्र तक ही सीमित है। यह ग्रन्थ अधूरी ही प्रतीत होती है, किन्तु माधवाचार्य ने 'शङ्कर दिग्विजय' में लिखा है पंचपादिका का उत्तरार्द्ध शेष भाग भी है। जिसका नाम 'वृत्ति' था। सम्प्रति 'वृत्ति' नामक वह भाग अनुपलब्ध है।

'शङ्कर दिग्विजय' में वर्णित एक कथा के अनुसार पद्मपादाचार्य की ब्रह्मसूत्र लिखी टीका का पूर्व नाम 'वेदान्तडिण्डिम' था। अब यह पंचपादिका नाम से जानी जाती है– 'यत्पूर्वभागः किल पञ्चपादिका तच्छेषगा वृत्तिरिति प्रथीयसी' (शङ्कर दिग्विजय श्लोक ७०–७१)

पञ्चपादिका शाङ्कर वेदान्त का अतिमहत्वपूर्ण निबन्धग्रन्थ है इस ग्रन्थ में पद्मपाद ने शाङ्करभाष्य के तात्पर्य का तार्किक और अभूतपूर्व विश्लेषण प्रस्तुत किया है। यह शाङ्करभाष्य का यथार्थ आलक ग्रन्थ है।

शङ्कर दिग्विजय में चर्तुदश सर्ग में पद्मपाद की तीर्थयात्रा की इच्छा, तीर्थयात्रा का दोष, तीर्थयात्रा प्रशंसा आदि का वर्णन है। यतिराज शङ्कर ने पद्मपाद को शिक्षा देते हुये कहा वत्सपद्मपाद गुरु का सामीप्य ही सबसे बड़ी तीर्थयात्रा है,[1] गुरु का चरणोदक ही महान तीर्थ का पवित्र जल है। किन्तु शङ्कराचार्य द्वारा तीर्थयात्रा दोष बताने पर भी पद्मपाद अडिग रहे। वार्तिक रचना में बाधा डालने के कारण पद्मपाद मन ही मन अपने को महान अपराधी समझने लगे थे। भारी पश्चाताप से उनका मन भर गया था अतः मन ही मन तीर्थयात्रा करने का संकल्प कर लिया था। पद्मपाद की बातें सुनने के बाद आचार्य शङ्कर ने तीर्थयात्रा करने का आशीर्वाद दिया। पद्मपाद उत्तर भारत की यात्रा करने के अनन्तर दक्षिण भारत की यात्रा किये। दक्षिण भारत में कालहस्तीश्वर शिवलिंग की पूजा किये तथा इसके बाद रामेश्वर की ओर प्रस्थान किये, रास्ते में मामा का गाँव मिला। मामा–भांजे को देखकर प्रसन्न हुये

[1] शुश्रुषमाणेन गुरेः समीपे स्थेय न नेय च ततोऽन्य देशे (शंकर दिग्वि० १४/३) पद्याग्रहोऽस्ति तब तीर्थ निषेवणायां विघ्नोमयाऽत्र न खलु क्रियते पुमर्थे ।। शङ्कर दिग्विजय ११४/२०

१. पञ्चपादिका दर्पण	स्वामी अमलानन्द
२. पञ्चपादिका–टीका	आनन्दपूर्ण विद्यासागर
३. वेदान्तरत्नकोष	नृसिंहाश्रम
४. प्रबोधपरिशोधनी	आत्मस्वरुप
५. तात्पर्य द्योतिनी	विज्ञानात्मा

दार्शनिक सिद्धान्त

जहां तक पद्मपादाचार्य के दार्शनिक सिद्धान्त का प्रश्न है अद्वैतवेदान्त के क्षेत्र में उन्होंने एक नई दृष्टि दी थी। पञ्चपादिकाकार पद्मपादाचार्य एवं विवरणकार प्रकाशात्मायति के नाम से जो दार्शनिक विवेचन मिलता है वह विवरण सम्प्रदाय के नाम से मिलता हे। पद्मपादाचार्य ब्रह्म एवं अविद्या में आश्रयाश्रयिभाव एवं विषय–विषयि भाव सम्बन्ध स्थापित करते है।[1]

एन. के. देवराज भारतीय दर्शन में लिखते है कि– "पद्मपाद ने माया या अविद्या को अनिर्वचनीय तथा जड़ात्मक अविद्या शक्ति कहा है। तात्पर्य यह है कि माया या अज्ञान अनादि और भावरूप है, सत् और असत् से विलक्षण है और ज्ञान से विनाश्य है। माया को भावरूप कहने का अर्थ सिर्फ इतना है कि वह अभावरूप नहीं है (अभाव विलक्षणत्व मात्रं विवक्षितम्)

आच्छाद्य विक्षिपति संस्फुरदात्मरूपम्
जीवेश्वरत्व जगदाकृतिभिर्मृषैव
अज्ञानमावरण विभ्रमशक्ति योगात्
आत्मत्त्व मात्र विषयाश्रयता बलेन। – सं० शारीरक, १/२०

[1] Lights on Vedanta – Page - 105

अर्थात्– आत्मविषयक और आत्माश्रयी अज्ञान आत्मा के ज्योर्तिमयरूप को ढंककर अपनी विभ्रम शक्ति से आत्म–तत्व को जीव, ईश्वर और जगत् की आकृतियों में विक्षिप्त कर देता है। सर्वज्ञ मुनि के गुरु सुरेश्वराचार्य भी अज्ञान शब्द का प्रयोग करना पसन्द करते है।"[1]

जगतमिथ्यात्त्व के सम्बन्ध में पद्मपादाचार्य का मत है कि मिथ्यात्व को सत्य एवं असत्य के अत्यन्ता भाव का अनाधिकरण कहा है–सत्त्वासत्त्वात्यन्ताभावानधिकरणत्त्वम्'।[2] अर्थात् इस मत के अनुसार मिथ्या एवं अनिर्वचनीय जगत को न पूर्णतया सत्य कहा जा सकता है और न ही पूर्णतया असत्य ही कहा जा सकता है।[3] पद्मपादाचार्य का मत है कि मिथ्याज्ञान की निवृत्ति केवल जीव एवं ब्रह्मकत्व विज्ञानाद्भवति न क्रियातः'।[4]

पद्मपादाचार्य ने 'मिथ्या' शब्द के दो अर्थ बताये है– एक तो अपह्नव या निषेध और दूसरा अनिर्वचनीय या सद्सद्विलक्षण। अविद्या या माया के लिये मिथ्या शब्द का प्रयोग सद्सदनिर्वचनीय के अर्थ में किया जाता है 'मिथ्याशब्दोऽत्र अनिर्वचनीयता वचनः'।[5] अविद्या के लिए कुछ असंभव नहीं है– असंभव को भी संभव के रुप में भासित करती है।

वस्तुतः पद्मपाद ही विवरण प्रस्थान के जनक हैं। इस प्रस्थान को टीका प्रस्थान भी कहा जाता है। क्योंकि पंचपादिका शारीरक भाष्य की एक टीका है।

वाचस्पति मिश्र (८४० ई०)– यह आचार्य शङ्कर के बाद के अद्वैतवेदान्त के दार्शनिक है। इनका समय कुछ लोग ८४० ई० मानते है।[6] किन्तु न्यायसूची, उनका पहला निबन्ध ग्रन्थ है। इसका रचनाकाल उन्होंने संवत् ८९८ अर्थात् ९७६ ई० बताया है।

---

[1] एन. के. देवराज – भारतीय दर्शन – पृ० ५२८
[2] पञ्चपादिका – पृ० १०
[3] पञ्चपादिका पृ० १०
[4] पञ्चपादिका पृ० ६०
[5] पञ्चपादिका पृ० ४
[6] आशुतोष शास्त्री– वेदान्त दर्शन, अद्वैतवाद (बंगला संस्करण)

न्याससूची निबन्धोऽसावकारि सुधियां मुदे।
श्री वाचस्पति मिश्रेण वस्वङ्कवसुवत्सरे।।

इस प्रकार उनका समय निश्चित है वे दसवीं शताब्दी के एक श्रेष्ठ सर्वतंत्र स्वतंत्र दार्शनिक है।[1]

ये भामती प्रस्थान के संस्थापक आचार्य हैं। इनकी प्रसिद्ध कृति 'भामती' शङ्कराचार्य के शारीरक भाष्य की विशद और मौलिक टीका है। ये मण्डन मिश्र से भी प्रभावित थे। इसके अतिरिक्त उन्होंने मण्डन मिश्र की 'ब्रह्मसिद्धि' पर 'ब्रह्मतत्व समीक्षा' नामक एक टीका लिखी थी जो अब अनुपलब्ध है। इसका उल्लेख वाचस्पति मिश्र ने भामती में कई स्थानों पर किया है– यथा भाष्यभामती में (ब्रह्मसूत्र के ३/३१/५४) कहते है कि– 'न च विषय भेद ग्राहि प्रमाणमस्तीति चोपपादितं ब्रह्मतत्त्व समीक्षायां अस्माभिः।' वेदान्त के अतिरिक्त अन्य शास्त्रों पर भी इनकी कृतियां है– जैसे– न्याय शास्त्र पर न्यायसूची निबन्ध, न्यायवार्तिक तात्पर्य, पतञ्जलियोगसूत्र पर व्यासभाष्य की टीका– तत्ववैशारदी, पूर्वमीमांसा का एक प्रकरण ग्रन्थ तत्व बिन्दु और मण्डन मिश्र के विधिविवेक पर न्यायकणिका नामक टीका उनके ग्रन्थ है। ग्रन्थों को देखकर लगता है कि ये अपनी दर्शन यात्रा न्याय दर्शन से आरंभ कर सांख्य योग दर्शन तक पहुंचे थे और पुनः वहां से पूर्वमीमांसा का मार्ग पकड़कर वेदान्त तक पहुँचे थे। भामती श्री मिश्र की अन्तिम रचना प्रतीत होती है। क्योंकि वे इसके अन्त में कहते है कि– 'जो पुण्य मैने न्यायकणिका, ब्रह्मतत्त्व समीक्षा, तत्व बिन्दु, तत्वकौमुदी (सांख्य निबन्ध) तत्त्व वैशारदी (योग निबन्ध) और भामती (वेदान्त निबन्ध) लिखकर प्राप्त किया है उसके फल को परमेश्वर को चढ़ाता हूँ। परमेश्वर मुझसे प्रसन्न हो"।

[1] संस्कृत वाङ्गमय का वृहद इतिहास– दशम खण्ड वेदान्त पं० बल्देव उपाध्याय– पृ० ८५

भामती की टीकाएँ

भामती पर अमलानन्द सरस्वती ने 'वेदान्त कल्पतरु' नामक एक टीका लिखी है। इन्होंने भामती को शारीरक भाष्य का वार्तिक कहा है।[1] भामती पर और भी अन्य टीकाएं है– जैसे बल्लाल सूरिकृत भामती तिलक, अखण्डानुभूति यतिकृत ऋजुप्रकाशित, अच्युतकृष्णतीर्थ कृत भामती भाव दीपिका, अज्ञात कर्तृक भामती युक्तार्थ संग्रह आदि है।

दार्शनिक विचार

वाचस्पति मिश्र का सबसे प्रसिद्ध सिद्धान्त अवच्छेद वाद है। शङ्कर अद्वैतवाद के अनुसार जीव–जगत्–ईश्वर–परमात्मा आदि में कोई वास्तविक भेद नहीं माना जाता है बल्कि भेदप्रतीति औपाधिक है। इस औपाधिक भेद की व्याख्या के लिये तीन मत प्रसिद्ध है– (१) प्रतिबिम्बवाद– श्री पदमपादाचार्य का (८०० ई० में) (२) आभासवाद सुरेश्वराचार्य का है ८२५ में स्थापना हुई। (३) अवच्छेदवाद (८५० ई० में) श्री वाचस्पति मिश्र का सिद्धान्त है। अवच्छेदवाद के अनुसार ब्रह्म निरस्तोपाधि जीव है और जीव अविद्योपाधि ब्रह्म है। मिश्र का कथन है कि जीव की अविद्योपाधि के कारण अनवच्छिन्न एवं असीम ब्रह्म अवच्छिन्नता एवं ससीमता को प्राप्त होता है। जिस प्रकार आकाश एक और अविभज्य है किन्तु सांसारिक लोग घटाकाश मठाकाश कहकर अभिहित करते है उसी प्रकार एक ही असीम ब्रम्ह जीव की अविद्योपाधि के कारण ससीमता एवं अवच्छिन्नता को प्राप्त होता है। जैसे घट–मठ रूपी उपाधियों के नष्ट होने पर घटाकाश–मठाकाश आदि भेद नष्ट हो जाते हैं उसी प्रकार अविद्योपादि के नष्ट हो जाने पर जगत के समस्त भेद नष्ट हो जाते है और ब्रह्मात्मा ही शेष रह जाता है।[2]

---

[1] 'ननु टीकायां दुरुक्त चिन्ता न युक्ता वार्तिके हि सा भवति तर्हि वार्तिकत्वमस्तु न हि वार्तिकस्य शृंगमस्ति' (कल्पतरु २/४/१६)

[2] उपाध्यवच्छिन्नश्च जीवः (भामती–न्याय निर्णय रत्नप्रभा मे भामती पृ० २१०

कल्पतरुकार का कथन है कि वेदान्त दर्शन जीव एवं ब्रह्म के ऐक्य का बोध कराने में समर्थ है।[1]

जीव और अविद्या के बीच श्री मिश्र जी आश्रयाश्रयीभाव मानते है और इसके विपरीत ईश्वर और अविद्या में विषयविषयीभाव को स्वीकार करते है।

श्री वाचस्पति मिश्र के अनुसार परमार्थतः ईश्वर भी अतात्विक है किन्तु नाम और रूप की अपेक्षा से सत्य कहा जाता है। ईश्वर और जीव दोनों कार्य–प्रपञ्च के अंगभूत है दोनों में अंशी और अंश का समष्टि और व्यष्टि का सम्बन्ध है। कारणोपाधि ईश्वर और कार्योपाधि जीव है। उनके यह उपाधिभेद ही अवच्छेदक भेद है। इस प्रकार अवच्छेदवाद द्वारा जहां ब्रह्म की निरपेक्षता सिद्ध होती है वहीं जीव का जीवत्व भी आपेक्षिक सत्य माना जाता है। ब्रह्म का जीवभाव काल्पनिक नही अपितु भाविक है।[2]

कर्मसमुच्चित ज्ञान

शाङ्कर मत में केवल ज्ञान से ही ब्रह्मसाक्षात्कार माना गया है किन्तु कुछ आचार्यो ने जैसे ब्रह्मदत्त तथा मण्डन मिश्र ने कर्मसमुच्चित ज्ञान को ब्रह्मसाक्षात्कार का कारण माना है इसको ये अभ्यास तथा प्रसंख्यान कहते है। वाचस्पति मिश्र भी उक्त मत का समर्थन करते है। मण्डन मिश्र ने 'ब्रह्मसिद्धि' में इसका वर्णन किया है। निदिध्यासन को बारबार आवृत्ति करने की आवश्यकता को 'प्रसंख्यान' शब्द दिया है। अमलानन्द मानते है कि वाचस्पति मिश्र भी मण्डन मिश्र के प्रसंख्यान से ही ब्रह्मसाक्षात्कार को स्वीकार करते है।[3]

शङ्कर और वाचस्पति

वाचस्पति मिश्र ने शङ्कराचार्य को विशुद्ध विज्ञान तथा करुणाकार कहा है।

---

[1] ब्रह्मात्मैकत्व बोधित्वाद वेदान्तिनाम्– वेदान्तकल्पतरु, पृ० २५ (प्रथम भाग)

[2] भामती – वही – पृ० ३७५

[3] वेदान्त कलपतरु, पृ० ५६

वाचस्पति का मत है कि शारीरक भाष्य रूपी गंगा से मिल जाने के कारण उनकी कृति भामती भी पवित्र हो गयी है।[1] भामती ने निःसन्देह शारीरक भाष्य की रक्षा की है। विशेषतया उन दर्शनों से जिसका खण्डन स्वयं शङ्कराचार्य ने तर्कपाद में किया है। वाचस्पति मिश्र के समय में बौद्ध, जैन, सांख्य, वैशेषिक, पाशुपत, पांचरात्र दर्शनों के आचार्यो ने शङ्कर के खण्डनों का प्रतिवाद किया था। वाचस्पति मिश्र ने इस प्रतिवाद का निराकरण किया है। शारीरक भाष्य के तर्कपाद को जितना भामती में प्रामाणिक, तथ्यसंगत और युक्तियुक्त बनाया है उतना किसी अन्य टीका ने नहीं किया।

वाचस्पति मिश्र ने पद्मपाद की पंचपादिका (विवरण प्रस्थान) का कहीं–कहीं खण्डन किया है। अमलानन्द सरस्वती ने इसका और खण्डन किया।

वस्तुतः प्रकाशात्मा ने विवरण में भामती का भी प्रबल खण्डन किया है।

सर्वज्ञात्म मुनि– (९०० ई०)

सर्वज्ञात्म मुनि वार्तिक प्रस्थान के दार्शनिक है। इनका समय ९०० ई० माना गया है।[2] सर्वज्ञात्ममुनि का दूसरा नाम नित्यबोधाचार्य था। ये शृंगेरीमत के नवम मठाधीश थे। सर्वज्ञात्ममुनि की प्रख्यात रचना 'संक्षेप शारीरक' है। सर्वज्ञात्ममुनि ने अपने गुरु का नाम देवेश्वराचार्य लिखा है– 'जयन्तिदेवेश्वरपादरेणवः। (सं० शारी० १/८) रामतीर्थ ने देवेश्वर से सुरेश्वराचार्य का ही अर्थ लगाया है। सर्वज्ञात्मा आचार्य सुरेश्वर के शिष्य थे। संक्षेप शारीरक को शारीरक भाष्य का भी वार्तिक कहा जाता है। यह पद्य में है। सर्वज्ञात्ममुनि के दो और ग्रन्थ है– पंचप्रक्रिया और प्रमाण लक्षण। संक्षेप शारीरक पर अन्य टीकाएं है जो निम्न है–

१. मधुसूदनसरस्वती कृत संक्षेप शारीरक संग्रह

---

[1] भामती का मंगलाचरण

[2] (१) डा० दास गुप्त– ए हिस्ट्री आफ इण्डियन फिलासफी भाग–२ पृ० ११२
(२) संक्षेपशारीरक १/८ पर रामतीर्थ की टीका

२. नृसिंहाश्रम कृत तत्वबोधिनी

३. रामतीर्थ कृत अन्वयार्थ प्रकाशिका

४. राघवानन्द कृत विद्यामृतवर्षिणी

५. विश्ववेद कृत सिद्धान्तदीप आदि टीकाएं है।

शङ्करोत्तर अद्वैतवादियों में जगतकारणता के सम्बन्ध में तीन मत प्रतिबिम्बवाद, आभासवाद, अवच्छेदवाद प्रचलित है। सर्वज्ञात्ममुनि का जगत कारणता सम्बन्धी मत विवरणकार के मत से भिन्न है– विवरणकार का मत है कि शुद्ध चित् तत्व ही ईश्वर और जीव रूप में दिखाई पड़ता है और साक्षी के रूप में कार्य करता है। और वहीं जगत का उपादान कारण है। संक्षेपशारीरक सर्वज्ञात्ममुनि का कथन है कि अविद्या में शुद्ध चित्त का प्रतिबिम्ब ईश्वर है और अन्तःकरण में शुद्ध चित् का प्रतिबिम्ब जीव है। अतः शुद्ध चित् ही जो अविद्यागत प्रतिबिम्ब का मूल है, साक्षी एवं जगत् का उपादान कारण है।

किन्तु वाचस्पति मिश्र ने जीव को ही जगत् का उपादानकारण माना है क्योंकि अविद्या के कारण जीव ही ब्रह्म साक्षात्कार न करके प्रपञ्च रूप जगत् की सृष्टि करता है।[1]

अद्वैतानन्द बोधेन्द्र (११४६ ई०)

यह अद्वैत वेदान्त के मुख्य दार्शनिक थे इनका (अद्वैतानन्द बोधेन्द्र) का काल बारहवीं शती के पूर्वार्ध का अन्त है। यह कांची के शारदामठ (कामकोटिपीठ) के पीठाधीश थे और भूमानन्द सरस्वती या चन्द्रशेखरेन्द्र सरस्वती के शिष्य थे रामानन्द सरस्वती से वेदान्त विद्या का गूढ़ अध्ययन किया था। चिद् विलास या आनन्दबोध नाम

[1] अद्वैतसिद्धि पर ब्रह्मानन्दी टीका, पृ०– ४८३ (बम्बई प्रकाशन) तथा सिद्धान्त बिन्दु, पृ० २२५–२२७

से भी ये जाने जाते थे। इनकी प्रसिद्ध रचनाएं ब्रह्मविद्याभरण, शान्तिविवरण, और गुरुप्रदीप है।[1]

आनन्दबोध भट्टारकाचार्य (१२वीं शताब्दी)

अद्वैत वेदान्त के समीक्षक आचार्य आनन्द बोध भट्टारक बारहवीं शती के पूर्वार्द्ध में थे। आनन्दबोध इष्टसिद्धिकार विमुक्तात्मा के शिष्य थे। इनके तीन ग्रन्थ उपलब्ध है– न्याय मकरन्द, प्रमाण माला और न्याय दीपावली। 'न्याय–मकरन्द' संग्रहात्मक ग्रन्थ है, इसमें इन्होंने नैयायिकों का खण्डन किया है। अनुभूतिस्वरूप ने इन तीनों ग्रन्थों पर टीकाएं लिखी है। न्यायमकरन्द तथा प्राणमाला पर चित्सुख की भी टीकाएं प्राप्त होती है।

न्यायवैशेषिक दर्शन का खण्डन करके अद्वैतवाद की स्थापना करने के कारण आनन्दबोध बाद प्रस्थान के प्रमुख दार्शनिक दार्शनिकों में से है। उन्होंने न्यायमकरन्द में ख्यातिवाद के विभिन्न मतों की अच्छी समालोचना की है और अनिर्वचनीय ख्यातिवाद को प्रतिपादित किये। न्यायमकरन्दकार का मत पद्मपादाचार्य और प्रकाशात्मा के मतों से भिन्न है। मिथ्यात्व एवं अनिर्वाच्यता को स्पष्ट करते हुए आनन्दबोधाचार्य कहते है कि अविद्या के कार्यो एवं परिणामों सहित अविद्या की निवृत्ति को बाध कहते है और बाध का ज्ञान होना ही अनिर्वात्यता है।[2]

आनन्दबोधाचार्य सद्सद्विलक्षण अविद्या को ही जगत का कारण मानते है।[3] सत् पदार्थ और असत् पदार्थ दोनों ही जगत की उत्पत्ति का कारण नहीं है अतः सत् और असत् से विलक्षण अविद्या ही है। आनन्दबोधाचार्य आत्मा को आनन्दरूप नहीं मानते है अपितु संविद्रूप मानते है। वे अविद्या निवृत्ति को सत्, असत्, सदसत् और अनिर्वचनीय

---

[1] Tripathi Introduction to Anandajrana's Tarkasangraha.

[2] 'सविलासाविद्यानिवृत्तिरेव बाधस्तदगोचर तैवानिर्वाच्यता।' (न्यायमकरन्द, पृ० १२५ चौखम्बा सस्करण, बनारस १६०७)

[3] न्यायमकरन्द पृ० १२२, १२३

से भिन्न पंचम प्रकार की मानते है। इसी कारण से अद्वैतवेदान्त के इतिहास में वे अपना अप्रतिम स्थान रखते है।

प्रकाशात्मयति (१२वीं शताब्दी)

प्रकाशात्मा ने पद्मपाद की 'पञ्चपादिका' पर 'पञ्चपादिका विवरण टीका' लिखकर विवरण प्रस्थान को जन्म दिया। यह विवरण टीका परवर्ती काल में शांकर सम्प्रदाय में इतनी प्रसिद्ध हुई कि इस पर अनेक उपटीकाएं लिखी गयी जैसे— सर्वज्ञविष्णु भट्ट की ऋजुविवरण, अखण्डानन्द की तत्वदीपन, चित्सुखाचार्य की तात्पर्यदीपिका, नृसिंहाश्रम की भावप्रकाशिका, आनन्द पूर्व विद्यासागर की पञ्चपादिका विवरण व्याख्या आदि उपटीकाएं है। माधवाचार्य (विद्यारण्य १३५० ई०) द्वारा रचित 'विवरण प्रमेय संग्रह' और रामानन्द सरस्वती लिखित 'विवरणोपन्यास' प्रकरण ग्रन्थ है। विवरणकार प्रकाशात्मयति अति विलक्षण के प्रतिभा के धनी थे। उनकी विवरण टीका व्याख्या ग्रन्थ होने पर भी एक स्वतंत्र और मौलिक ग्रन्थ है। प्रकाशात्मायति वास्तव में शाङ्करभाष्य की पंचपादिका के प्रकाशस्तम्भ है इसमें सन्देह नहीं है। प्रकाशात्मा का जीवन परिचय उपलब्ध नहीं है किन्तु राधाकृष्णन ने उनका जन्म समय १२०० ईस्वी स्वीकार किया है।[3] ये सन्यासी थे अैर अनुभवाचार्य के शिष्य थे इस प्रकार का उल्लेख विवरण के प्रारम्भ में मिलता है— "अर्थतोऽपि न नाम्नैव योऽनन्यानुभवोगुरुः"। प्रकाशात्मयति विद्यारण्य के पूर्ववर्ती थे क्योंकि विद्यारण्य ने विवरण पर 'विवरण प्रमेय संग्रह' की रचना की है विद्यारण्य का समय १४वीं शताब्दी है अतः प्रकाशात्मा का समय द्वादश शताब्दी के आस—पास सिद्ध होता है। प्रकाशत्मा ने अद्वैत तत्त्व के विश्लेषण में ब्रह्म एवं अविद्या के बीच आश्रयाश्रयिभाव एवं विषय—विषयि भाव सम्बन्ध माना है। पद्मपादाचार्य इस मत को मानते है जबकि वाचस्पति का मत इससे भिन्न है। किन्तु

---

[3] सर्वपल्ली राधाकृष्णन— भारतीय दर्शन भाग २ हिन्दी अनुवाद, दिल्ली १९७२ पृ० ४४५

मिथ्यात्त्व के विश्लेषण में प्रकाशात्मायति पद्मपाद से भिन्न मत मानते है। पद्मपादाचार्य शुक्ति आदि में रजतादि के सार्वत्रिक एवं त्रैकालिक मिथ्यात्व को नहीं मानते है। इसके विपरीत प्रकाशात्मा शुक्ति आदि में रजतादि के सार्वत्रिक एवं त्रैकालिक मिथ्यात्व का प्रतिपादन करते है।[1] विवरणकार ने मिथ्यात्व को अनिर्वचनीयता का ही समर्थक माना है।[2]

ब्रह्म साक्षात्कार के साधन को लेकर यह ब्रह्मदत्त से अलग मत रखते है ब्रह्मदत्त मनन को मुख्य साधक न मानकर श्रवण को ही ब्रह्मसाक्षात्कार का साधन माना है।[3]

विमुक्तात्मा (१२००ई०)

विमुक्तात्मा किसी प्रस्थान विशेष से सम्बन्धित नहीं है। इनकी प्रमुख कृति 'इष्ट सिद्धि' है जो अद्वैत वेदान्त की एक मौलिक कृति है। विमुक्ता की तिथि विवाद ग्रस्त है। किन्तु उपलब्ध साक्ष्यों के आधार पर सिद्ध होता है कि यह १२वीं शती के बाद के नहीं हो सकते क्योंकि रामानुज ने अपने ग्रन्थ में 'इष्टसिद्धि' का उद्धरण दिया है और यामुनाचार्य (११००ई०) है।वे भी इष्ट सिद्धि की महत्ता को स्वीकार किया हैं। अतः इनका समय १०५० ई० के पहले होना चाहिये। आनन्दबोध विमुक्तात्मा के शिष्य थे। प्रो० सुरेन्द्रनाथ दास गुप्त विमुक्तात्मा की तिथि १२०० ई० मानते है।

इष्टसिद्धि अद्वैतवेदान्त का एक प्रकरण ग्रन्थ हैं। उस पर ज्ञानोत्तम ने विवरण नाम की टीका लिखी है। इष्टसिद्धि में आठ अध्याय है। इन अध्यायों के अवलोकन से स्पष्ट हो जाता है कि विमुक्तात्मा का इष्ट माया का विवेचन करना है। प्रतिपाद्य माया

[1] प्रतिपन्नोपाधौ त्रैकालिकनिषेध प्रतियोगित्वम्। .... स्वनिष्ठ निरवच्छिन्न प्रकारता निरुपित निशेष्यता समानाधिकरणात्यन्ता भाव प्रतियोगित्वम् मिथ्यात्वम्।
– Lights on Vedanta P- 181 से उद्धत प्रकाशात्मा का मत।
[2] पञ्चपादिका विवरण, पृ० १५६ (Govt. Oriental Manuscripts Library, Madras, 1958)
[3] पञ्चपादिका विवरण पृ० १०४–१०५

की सिद्धि के लिए विविध भ्रम सिद्धान्तों का खण्डन करके अनिर्वचनीय ख्याति की स्थापना करते है। इसकी सिद्धि में विमुक्तात्मा ने लिखा है– 'सत्वे न भ्रान्तिबाधौ स्तां नासत्त्वे ख्यातिबाधकौ। सद्सदभ्याम् निर्वाच्या विद्या वेद्यैस्सहः भ्रमाः।।'[४] उन्होंने लिखा है कि रज्जु सर्प अथवा शुक्ति–रजत में सर्प अथवा रजत सत नहीं हो क्योंकि उसका ज्ञान से बाध हो जाता है असत् भी नहीं है क्योंकि उसकी (सर्प, रजत) प्रतीति होती है। अतः सद्सद् से भिन्न अर्थात् अनिर्वाच्य है। अनिवर्चनीय ख्यातिवाद में भ्रम के आवरण तथा विक्षेप दोनों पक्षों की व्याख्या हे। इसी कारण अविद्या निवृत्ति को पंचम प्रकार मानते है। विमुक्तात्मा अपने ग्रन्थ के अन्त में वर्ण्यविषय का उपसंहार इस प्रकार करते है–

सर्वेष्टः परमानन्दो वेदान्तात्म प्रमाणकः।
इत्येषोऽर्थो विशेषेण मयेष्टो वेदमिन्वतः।। २७ ।।
अर्थश्चायम् निर्वाच्या यद्विद्या प्रसिध्यति।
व्ययचीरम विद्यां तामत् इष्टार्थ सिद्धये।। २८ ।।

इस प्रकार मधुसूदन सरस्वती ने 'अद्वैतसिद्धि' में इष्टसिद्धि का उल्लेख किया है।

श्री हर्ष (१२वीं शताब्दी)

श्री हर्ष एक युगान्तकारी कवि एवं दार्शनिक दोनों ही थे। इनका नाम अद्वैतवाद के इतिहास में मील के पत्थर की तरह है। अद्वैतवेदान्त में उन्होंने एक क्रान्ति की है जिसके दो पहलू इतिहास प्रसिद्ध है–

१. उन्होंने अद्वैतवेदान्त में एक नये प्रस्थान की स्थापना की, जिसे बाध प्रस्थान कहा जाता है। उनका ग्रन्थ 'खण्डन–खण्ड खाद्य' इस प्रस्थान की बाइबिल है। इसके

---

[४] इष्टसिद्धि १/६

अन्य दार्शनिक चित्सुख और मधुसूदन सरस्वती है। जिनके ग्रन्थ क्रमशः तत्वप्रदीपिका (चित्सुखी) और अद्वैत सिद्धि है। खण्डनखण्डखाद्य चित्सुखी और अद्वैतसिद्धि बाध प्रस्थान के मूल ग्रन्थ है। इनमें से प्रत्येक के ऊपर टीकाएं लिखी गयी है। इन सभी टीकाकारों को बाध प्रस्थान के अर्न्तगत रखा जाता है। इस प्रकार बाध प्रस्थान के दार्शनिकों की संख्या अधिक है।

बाध प्रस्थान का मुख्य प्रयोजन है तर्कबुद्धि द्वारा अद्वैतवेदान्त की प्रतिरक्षा करना तथा उन सभी आपत्तियों का निराकरण करना जो अद्वैत विरोधी दार्शनिकों ने समय–समय पर अद्वैतवाद पर लगाई थी।

२. श्री हर्ष का उद्देश्य 'खण्डन–खण्ड–खाद्य' में वेदान्त के सिद्धान्त का प्रतिपादन करना था। इसके प्रबल प्रतिपक्षी नैय्यायिक ही थे। उदयनाचार्य न्याय के अवतार माने जाते है। अतः श्री हर्ष ने मुख्य रूप से इन्हीं के मत का निराकरण किया और भारतीय दर्शन में अद्वैत वेदान्त और न्यायदर्शन के बीच संघर्ष का सूत्रपात किया। स्वामी विद्यारण्य ने पञ्चदशों में श्री हर्ष के कृतित्त्व का मूल्यांकन करते हुए लिखा है–

निरुक्तावभिमानं ये दधते तार्किकादयः।
हर्षमिश्रादिभिस्ते तु खण्डनादौ सुशिक्षिता।।

अर्थात् जो तार्किक (नैय्यायिक) वैशेषिक और मीमांसक निरुक्त पर अभिमान करते है अथवा जो नैय्यायिकगण पदार्थो के लक्षण और व्याख्यान पर बल देते है, उनको श्री हर्ष इत्यादि दार्शनिकों ने खण्डन खण्ड खाद्य में अच्छी तरह से शिक्षित कर दिया है। अर्थात् उनके गर्व को चूर्ण कर दिया है।

इस प्रकार श्री हर्ष के दार्शनिक महत्व का सहजता से अनुमान लगाया जा सकता है। ऐसे महान दार्शनिक का अवतरण कब, कहां हुआ तथा किन किन ग्रन्थों की रचना की, इसका प्रामाणिक विवेचन अपेक्षित है।

समय– श्री हर्ष के विषय में जानकारी हमें इनके ग्रन्थों से मिलती है। दार्शनिक शिरोमणि महाकवि श्री हर्ष की माता का नाम मामल्ल देवी तथा पिता का नाम महाकवि हीर था। इनकों कुछ विद्वानों ने बंगाल का, कुछ ने मिथिला का, तथा कुछ ने यू० पी० का बतलाया है परन्तु इनकी अपनी उक्ति से मालूम पड़ता है कि ये कन्नौज के थे। क्योंकि श्री हर्ष के समय निर्धारण में अन्तः साक्ष्य तथा वाह्य साक्ष्यों से सहायता मिलती है। अन्तः साक्ष्य में श्री हर्ष की दो रचनाएं है– 'खण्डन खण्ड खाद्य' और 'नैषध चरितम्।' जिसमें उन्होंने स्वयं थोड़ा परिचय दिया है। इन्होंने लिखा है कि ये कन्नौज के राजा जयचन्द्र से विशेष आसन एवं विशेष पानादि प्राप्त कर सम्मान प्राप्त किये थे।[१]

श्री हर्ष के 'विजय प्रशस्ति' नामक ग्रन्थ से पता चलता है, जो कन्नौज के महाराज विजयचन्द्र की प्रशंसा में लिखा गया था। अतः श्री हर्ष महाराज विजयचन्द्र के समकालीन थे। महाराज विजयचन्द्र के लड़के का नाम जयचन्द्र था जिनका राज्यकाल ११६६ ई० से ११९३ ई० तक माना गया है। श्री जयचन्द्र का ११८६ ई० का एक दानपत्र भी मिलता है जिससे उनका समय स्पष्ट निर्णीत हो जाता है।[२] अतः श्री हर्ष का समय भी १२वीं शताब्दी रहा होगा।

श्री हर्ष ने 'खण्डन खण्ड खाध' नामक अपने ग्रन्थ में उदयन् की 'लक्षणावली' में दी गयी न्याय दर्शन की परिभाषाओं का खण्डन किया है। लक्षणावली की रचना १०वीं शताब्दी के अन्त में हुयी थी जैसा कि उसकी पुष्पिका से ज्ञात होता है।[३] श्री हर्ष ने लक्षणावली के लक्षणों का खण्डन खण्ड खाद्य' में प्रधान रूप से खण्डन किया है। इसके अनुसार श्री हर्ष उदयनाचार्य के परवर्ती सिद्ध होते है।

---

[१] ताम्बूलद्वयमासनं च लभते यः कान्यकुब्जेश्वरात। (खण्डन खण्ड खाद्य पृ० ७५४)

[२] देखिए– खण्ड पृ० ३ अच्युत।

[३] न्याय वार्तिक ता० के उपर उदयनाचार्य ने 'परिशुद्धि' नामक टीका लिखी है इन्होंने अपने लक्षणावली ग्रन्थ का रचनाकाल इस प्रकार बताया है– तर्काम्बराङ्क प्रमितेष्वतीतेषु शकान्ततः। वर्षेषूदयनश्चक्रे सुबोधां लक्षणावलीम्।।

वाह्य साक्ष्यो मे गगेशोपाध्याय ने तत्वचिन्तामणि में 'खण्डन खण्ड खाध' से कारिका का उद्धरण देकर कहा है– 'एतेन खण्डनकारमतमप्यपास्तम्' अर्थात् इससे खण्डनकार (श्री हर्ष) का मत भी खण्डित हो गया। इनका समय १३०० ईस्वी माना जाता है। अतः श्री हर्ष को इनसे पूर्ववर्ती ही मानना पड़ेगा। अतेव श्री हर्ष का १२वीं शताब्दी का समय ठीक सिद्ध होता है।

श्री बूलर ने श्री हर्ष क समय ११६६ से ११६३ ईस्वी तक का माना है। श्री के० टी० तैलंग डा० बुलर के मत को नहीं मानते है, वे श्री हर्ष को ६वीं या १०वीं शताब्दी का मानते है।

सांयण माधव ने "शङ्करदिग्विजय" में श्री हर्ष को श्री शङ्कराचार्य के समकालीन (७८८–८२० ई०) बताया है।

वाह्य तथा अन्तः साक्ष्यों से स्पष्ट होता है कि हर्ष का समय ११५० ई० से ११६० ई० के बीच होना उचित प्रतीत होता है।

कृतियाँ– श्री हर्ष रचित ग्रन्थ अब तक दो प्राप्य है– खण्डनखण्डखाद्य तथा नैषधीय चरितम्। इन दोनों ग्रन्थों में इनके अन्य रचनाओं का भी उल्लेख पाया जाता है। 'खण्डन खण्ड खाद्य' में 'ईश्वराभि सन्धि' का उल्लेख कई स्थानों पर मिलता है।[1] शेष कई ग्रन्थों का उल्लेख नैषध में पाया जाता है।[2] श्री हर्ष के कुछ ग्रन्थ मुख्य रूप से है–

१. नैषधचरितम् २. अर्णववर्णनम ३. शिवशक्ति सिद्धिः ४. साहसांङ्कचम्पूः ५. छन्दः प्रशस्ति ६. विजय प्रशस्ति ७. ईश्वराभिसन्धिः ८. खण्डन खण्ड खाद्यम् आदि।

इसमें 'खण्डन खण्ड खाद्यम्' और नैषध' अनुपम ग्रन्थ है। खण्डनकार 'खण्डन' में नैषधचरित का और 'नैषध' में खण्डन का उल्लेख करते है। इससे सिद्ध होता है कि

---

[1] खण्डन, अच्युत पृ० ३६, ५०, ८५ आदि।

[2] नैषध पृ० ६/१६०, 18/149, 22/149, 17/122, 5/138, 7/110

दोनों ग्रन्थों की रचना एक ही समय में हुई है। जिस प्रकार श्री हर्ष की काव्य में लोकोत्तर प्रतिभा है उसी प्रकार दर्शन में भी है। इनके विषयपद लालित्य को अधिक महत्वपूर्ण माना गया हे। इसके सम्बन्ध में– "उदिते नैषधे काव्ये क्व माघः क्व च भारविः।" यह उक्ति अक्षरशः सत्य है।

खण्डनखण्डखाद्य

'खण्डनखण्डखाद्य' के खण्डनखण्ड, खण्डखाद्य, खाद्यखण्डन तथा खण्डन आदि नाम प्रचलित है। इसका एक नाम 'अनिर्वचनीयता सर्वस्व' भी है। खण्डन खण्ड खाद्य का अर्थ है–

(अ) पदार्थादि खण्डनस्य खण्डया खांडसार अर्थात् जिस ग्रन्थ के अध्ययन एवं अध्यापन करने वाले को पदार्थादि खण्डन रूप खांड के समान माधुर्य रस का अनुभव हो वह 'खण्डन खण्ड खाद्य' है।

(ब) 'खण्डन रूपं यत्खण्डखाद्यं तत्खण्डन खण्डखाद्यं नाम ग्रन्थः' इस व्युत्पत्ति के अनुसार इसका अर्थ है वैद्यकशास्त्र में 'खण्डखाद्य' पाक विशेष का नाम है। जिस प्रकार रोगों को दूर करके रोगी में बल एवं पुष्ट्यादि का हेतु बनता है, उसी प्रकार यह 'खण्डन' ग्रन्थवादियों के मतों का अक्षरशः खण्डन करने में समर्थ होने की योग्यता उत्पन्न करता है। इस ग्रन्थ का यही अर्थ उचित प्रतीत होता है। खण्डनखण्डखाद्य ग्रन्थ में चार परिच्छेद है। इसमें शून्यवाद तथा अद्वैतवाद का विवेचन कर दोनों में परस्पर भेद का निरूपण किया है। फिर अद्वैत का साधन और भेद का खण्डन किया है। श्री हर्ष के ग्रन्थ निर्माण का प्रयोजन तत्व निर्णय और विजय बतलाते हुए बाद, जल्प और वितण्डा शास्त्रार्थ के तीनों प्रकारों तथा शून्यवाद अद्वैतवाद व भेदभाव सभी में खण्डनोक्त युक्तियों का एक सा उपयोग है, भूमिका को समाप्त करते हुए बतलाया है।

खण्डन की टीकाएं

१३वीं शदी से लेकर १६वीं शदी तक 'खण्डनखण्डखाद्य' पर अनेक टीकाएं लिखी गयी है। उनमें से निम्न लिखित टीकाएं उल्लेख योग्य है–

टीका का नाम	लेखक का नाम
खण्डन खण्डनम्	परमानन्द
खण्डन मण्डनम्	भवनाथ द्वितीय
खण्डन दीक्षित	रघुनाथ शिरोमणि
खण्डन प्रकाश	वर्धमान
विद्याभरणी	विद्याभरण
विद्यासागरी	आनन्दपूर्ण विद्यासागर
खण्डन टीका	बलभद्र मिश्र पुत्र पद्मनाभ पण्डित
आनन्दवर्धनी (शङ्करी)	शङ्कर मिश्र
खण्डन दर्पण	शुभ शङ्करमिश्र
खण्डन महातर्क	चरित्र सिंह
खण्डन खण्डनम् -	प्रगल्भ मिश्र–खण्डन दर्पण
शिप्य हितैषिणी	पद्मनाभ
भाव दीपिका	चित्सुखकृत
खण्डन कुठारः	गोकुलनाथ उपाध्याय
खण्डन साद्योद्धार	वाचस्पति मिश्र द्वितीय
खण्डनगर्त प्रदर्शनी	साधु मोहन लाल

इन व्याख्याओं में शङ्करी अत्यन्त प्रसिद्ध है। किन्तु यह केवल तात्पर्य मात्र का प्रकाशन करती है, पूरी व्याख्या प्रस्तुत नहीं करती है, जिससे पूरा–पूरा लाभ पाठक को

नहीं हो पाता है। उसके बारे में स्वयं टीकाकार शङ्कर मिश्र कहते है कि इसमें खण्डन खण्ड खाद्य की कठिन गुत्थियाँ खोली गयी है–

"ग्रन्थग्रथिविमोचनाय रचना वाचामिमं शाङ्करी"

इन टीकाकारों में गोकुल नाथ उपाध्याय तथा अभिनव वाचस्पति ने श्री हर्ष का स्पष्ट खण्डन किया और न्याय दर्शन को उनके खण्डन से मुक्त किया है। शङ्कर मिश्र ने भी कहीं–कहीं खण्डन खण्ड खाद्य का खण्डन किया है अभेदवाद का तिरस्कार किया है और भेदसिद्धि की है। भेदरत्न प्रकाश नाम से उन्होंने एक स्वतंत्र ग्रन्थ भी लिखा है जिसमें भेदवाद को सिद्ध किया गया है। सर्वप्रथम उन्होंने ही खण्डन खण्ड खाद्य के खण्डन सूत्रपात किया।

उपर्युक्त खण्डन खण्ड खाद्य के टीकाकारों को तीन कोटियों में बांटा जा सकता है। पहली कोटि में शङ्कर मिश्र, गोकुल नाथ उपाध्याय तथा अभिनव वाचस्पति मिश्र आते है जिन्होंने खण्डन खण्ड खाद्य का खण्डन करके न्यायदर्शन का पक्ष प्रस्थापित किये है। दूसरी कोटि में चित्सुख, आनन्दपूर्ण, चिद्यासागर और साधु मोहनलाल जैसे अद्वैतवेदान्ती आते है। जिन्होंने खण्डनखण्डखाद्य का समर्थन किया है। तीसरी कोटि में नैरयायिक आते है जैसे भवनाथ, रघुनाथ भट्टाचार्य, रघुनाथ शिरोमणि, सूर्य नारायण शुक्ल, प्रगल्भ मिश्र आदि जिन्होंने न्याय दर्शन का विकास अद्वैत वेदान्त की तरफ किया है और इसका आधार खण्डनखण्डखाद्य को बनाया है।

इस पुस्तक में 'खण्डन' का प्रयोजन मुमुक्षुओं के लिए तत्व ज्ञान में साधनभूत मनन बतलाकर ग्रन्थकर ने विजिगीषु रागी पुरुषों के लिए दिग्विजयरुप फल बतलाया है।

इस ग्रन्थ में खण्डन में 'प्रमाण प्रमेय संशय प्रयोजन' इत्यादि प्रथम न्याय सूत्र का ही खण्डन किया है इसमें वादी मुख्य रूप से नैय्यायिक है इसमें प्रतिवादी

खाण्डनिक (वैतण्डिक) है। ये प्रमाणादि की सत्ता नहीं मानते है। इनका अपना कोई पक्ष नहीं होता है। खण्डन मात्र करने के लिए ये कथा में प्रवृत्त होते है। खण्डनकार की खण्डन में 'प्रवृत्ति' प्रपञ्चशङ्कर में अनिर्वचनीयता को सिद्ध करती है। यह तब तक नहीं हो सकता था जब तक कि प्रपञ्च को सत्य मानने वाले प्रबल द्वैती नैय्यायिकों द्वारा प्रमाण–प्रमेय की की गई व्याख्या का खण्डन न हो। इसलिये खण्डन को 'अनिर्वचनीयता सर्वस्व' भी कहते है। 'अनिर्वचनीयतावाद' वेदान्त का मुख्य सिद्धान्त है इसके बिना वेदान्त प्रतिपाद्य अद्वैतब्रह्म की सिद्धि गगनकुसुम के समान है किन्तु यह भी नहीं है कि यह प्रपत्र्च को शशविषाणादि के समान अलीक मानता है। हां इसे वह मिथ्या अवश्य मानता है। तुच्छ और मिथ्या में अन्तर है तुच्छ तो वह है जिसकी प्रतीति कहीं न हो रही हो जैसे गगन कुसुम, शशविषाण, वन्ध्यासुत आदि। प्रपञ्च ऐसा नहीं है इसकी प्रतीति होती है। कालान्तर में जब बाध होता है तब मिथ्यात्त्व की प्रतीति होती है। अन्तर इतना है कि रज्जूसर्प में भ्रम का संसार दशा में ही बाध होता है और संसार रूपी भ्रम का श्रवण, मनन, निदिध्यासन द्वारा आत्मसाक्षात्कार के बाद। अतः संसार दशा में प्रपञ्च की सत्ता मानी जाती है। इस प्रकार प्रत्येक लक्षण को गलत सिद्ध करके श्री हर्ष ने वास्तव में यह प्रतिपादित किया है कि जो सत् है उसका लक्षण या निर्वचन नहीं हो सकता है। उन्होंने अनिर्वचनीयतासार सर्वस्ववाद की स्थापना की है जो अद्वैतवाद का मुख्य प्रतिपाद्य है।

चित्सुखाचार्य (१२२० ई०)

चित्सुखाचार्य का अवतरण दर्शन में ऐसे समय में हुआ था जब दो प्रबल धाराएं अद्वैत मत को हानि पहुंचा रही थी। एक ओर गंगेश आदि नैयायिक न्यामत को सर्वोच्चता की ओर ले जा रहे थे तथा दूसरी ओर वैष्णव आचार्य खुलकर अद्वैतमत का खण्डन कर रहे थे। ऐसे समय में अद्वैतमतावलम्बी चित्सुखाचार्य ने न्याय दर्शन का

खण्डन करते हुए अद्वैत मत का समर्थन किया। अद्वैत मत का विश्लेषण अपने तीन ग्रन्थों तत्वप्रदीपिका, न्याय मकरन्द टीका, और खण्डनखण्डखाद्य की टीका में किया है। तत्वप्रदीपिका का ही दूसरा नाम चित्सुखी है।

आचार्य चित्सुख का समय श्री हर्ष के बाद का है क्योंकि उन्होंने खण्डन खण्ड खाद्य पर भावदीपिका नामक टीका लिखी है। माध्ववेदान्ती जयतीर्थ (१३६५–१३८८) ने इनका उल्लेख किया है। आनन्दबोध भट्टारक जिनका समय १२०० ई० है चित्सुख के पूर्ववर्ती थे क्योकि चित्सुख ने उनके दो ग्रन्थों पर टीकाएं लिखी है। इससे सिद्ध होता है कि चित्सुख का समय १२२० से १२२४ ई० है। वे कल्पतरुकार अमलानन्द के समकालीन प्रतीत होते है। चित्सुख के प्रधान शिष्य सुखप्रकाश थे जो अमलानन्द के गुरु थे।

शङ्कर परवर्ती अद्वैत वेदान्तियों में साक्षी को लेकर भिन्न–भिन्न दृष्टिकोण था। आचार्य चित्सुख साक्षी एवं प्रमाता में भेद मानते है। वे साक्षी को स्वतंत्र एवं द्रष्टा मात्र मानते है। इसके विपरीत प्रमाता, आचार्य चित्सुख के अनुसार ज्ञाता है तथा ज्ञान के साधनों के कार्य के अधीन है।[1]

आचार्य चित्सुख दुःख को सुख का विरोधी मानते है। इसलिये मानते है कि दुःख का विनाश स्वतः पुरुषार्थ न होकर केवल सुख ही स्वतः पुरुषार्थ है। चित्सुखाचार्य मानते हे कि दुखाभाव स्वतंत्र रूप से पुरुषार्थ नहीं है, प्रत्युत् सुखाभिव्यक्ति का अंग मात्र है। क्योंकि सुख को यदि दुःखाभाव का अंग मान लिया जाय तो उसे दुःखाभाव का उत्पादक नहीं माना जा सकता और न तो उसका अभिव्यंजक ही माना जा सकता है।[2]

[1] तत्वप्रदीपिका (चतुर्थ परिच्छेद) पृ० ३८१–३८२ इस पर देखिये नयन प्रसादिनी टीका (निर्णयसागर, बम्बई, १६३१)

[2] नात्र दुःखाभाव स्वतंत्रताया पुरुषार्थ सुखाभिव्यक्ति शेषत्वात्। न च विपरीत वृत्ति प्रसंगा विकल्पा सहत्वात्। किं सुख दुःखा भावस्योत्पाद मुताभिव्यंजकम्, नोम यथापि। (तत्व प्रदीपिका, चतुर्थ परिच्छेद)

अमलानन्द (१३वीं शताब्दी)

अमलानन्द भामती प्रस्थान के मुख्य दार्शनिक है। आचार्य अमलानन्द अद्वैतवेदान्त के पूर्ण समर्थक तथा सूक्ष्मपर्यपेक्षी है। इनके गुरु का नाम अनुभवानन्द था। इनके तीन ग्रन्थ प्राप्त होते है– वेदान्तकल्पतरु, शास्त्रदर्पण, पञ्चपादिका दर्पण जिसने अद्वैत वेदान्त के विकास में अतिमहत्वपूर्ण योगदान दिया है।

भामती पर अमलानन्द या व्यासाश्रम (१२५० ई०) ने 'कल्पतरु' नाम की टीका लिखी। इस टीका पर अप्पयदीक्षित (१५२०–१५६३) ने 'कल्पतरुपरिमल' तथा वैद्यनाथ ने 'कल्पतरुमञ्जरी' की रचना की।

अमलानंन्द दृष्टिसृष्टिवाद सिद्धान्त के पोषक थे। इस सिद्धान्त के अनुसार समस्त प्रपञ्च शून्य ब्रह्म की अवगति के उपाय के रूप में ही श्रुतियों में सृष्टि और प्रलय का विवेचन स्वीकार किया गया है। यद्यपि श्रुतियों में सृष्टि की परमार्थिकता स्वीकृत नहीं है। यदि आरोप न्याय से प्रतिपादन हुआ है तो अपवाद न्याय से खण्डन भी हुआ है। अमलानन्द के मत में सृष्टि प्रतिपादक श्रुतियों का तात्पर्य वस्तुतः ब्रह्मात्मैक्य में होने से सृष्टि के प्रतिपादन में उसका अभिप्राय कदापि नहीं है।[1] दृष्टिसृष्टिवादी के मत में सृष्टि तात्विक न होकर दृष्टिकालिक ही है– 'दृष्टि सम–समया विश्वसृष्टिरिति दृष्टिसृष्टिवादः।

ब्रह्मदत्त एवं मण्डन मिश्र प्रभृति प्रसंख्यान को ब्रह्मसाक्षात्कार का कारण मानते है। अमलानन्द मानते है कि वेदान्त वाक्यों से जन्य ज्ञान तथा इसके अभ्यास से होने वाली अपरोक्ष बुद्धि तथा उससे होने वाली प्रभा की दृढ़ता से (अविप्रतिपन्न प्रामाण्य होने के कारण) भ्रम नहीं होता है। इसलिये परतः प्रामाण्य भी प्रसक्त नहीं होता है। क्योंकि

---

[1] श्रुतीनां सृष्टि तात्पर्य स्वीकृत्ये दमिहेरितम्।
ब्रह्मात्मैक्यपरत्वात्तु तासां तन्नैव विद्यते।। (शास्त्रदर्पण– १/४/४) पृ० ८७ (वाणी विलासं प्रेस श्रीरंगम् १९१३)

अपवाद के निरास के लिये मूलप्रमाण की शुद्धि की अपेक्षा की गई है।[१] इसलिये अमलानन्द परिसंख्यान जन्य ब्रह्म साक्षात्कार को प्रभा रूप स्वीकार करते थे। शंकराचार्य एवं वाचस्पति मिश्र जीव की ईश्वर भावापत्ति को मानते है।[२] वहीं अमलानन्द माया प्रतिबिम्बित ईश्वर की मुक्तों द्वारा प्राप्यता नहीं स्वीकार करते।[३] इस प्रकार अमलानन्द अद्वैतवेदान्त सूक्ष्म पर्यवेक्षी दार्शनिक है।

विद्यारण्य (१३५० ई०)

विद्यारण्य विवरण प्रस्थान के मुख्य अद्वैतवादी दार्शनिकों में एक है विद्यारण्य का पूर्वाश्रम अथवा गृहस्थाश्रम का नाम माधवार्च था। इनके नाम को लेकर विद्वानों में मतैक्य नहीं है क्योंकि कुछ विद्वान इनका दूसरा नाम भारती तीर्थ भी मानते है।[४] डा० वीरमणि प्रसाद उपाध्याय ने भारतीतीर्थ को पंचदशी का लेखक कहा है।[५] डा० टी० एम० पी० महादेवन मानते है। कि स्वामी विद्यारण्य और भारती तीर्थ दो व्यक्ति नहीं, किन्तु एक ही व्यक्ति है।

किन्तु उल्लेखनीय है कि माधवाचार्य ने अपने ग्रन्थ 'जैमिनीय न्यायमाला' की टीका में अपने गुरु का नाम भारती तीर्थ उद्धृत किया है अतः पृथक मानना समुचित होगा।[६] रामकृष्ण, जिन्होंने पंचदशी पर व्याख्या लिखी है, वे विद्यारण्य के शिष्य थे। स्वामी विद्यारण्य शृंगेरीमठ के शङ्कराचार्य थे ये वेदभाष्य प्रणेता सायण के बड़े भाई थे। माधव के नाम से उन्होंने 'सर्वदर्शन संग्रह' लिखा है जिसमें क्रमशः १. चार्वाक दर्शन

---

[१] वेदान्तवाक्य जज्ञानभावनाजा परोक्षधीः।
मूलप्रमाण दार्ढ्र्येन नभ्रमत्व प्रपद्यते।।
न च प्रामाण्य परतेस्त्वापात्तिरस्तु प्ररुच्यते।
अपवाद निरासाय मूल शुद्धलनुरोधनाद्।।– सि० लेश संग्रह पृ० ४७० से उद्धृत कल्पतरु

[२] ब्र०सू० शां० भा० एवं भामती ४/४/३, ४/४/६, ४/४/७ तथा देखिये सि० ले० सग्रह पृ० ५५३

[३] सिद्धान्तलेश संग्रह पृ० ५५३

[४] कल्याण – वेदान्तांक, पृ० ६५२

[५] Lights of Vedanta P- 111, 116

[६] कल्याण – वेदान्ताक, पृ० ६५२

२. बौद्ध दर्शन ३. जैन दर्शन ४. रामानुज दर्शन ५. पूर्ण प्रज्ञ दर्शन ६. नकुलीश–पाशुपतदर्शन ७. शैवदर्शन ८. प्रत्यामिज्ञादर्शन ९. रसेश्वरदर्शन, १० वैशेषिक दर्शन ११. न्याय दर्शन १२. जैमिनि दर्शन १३. पाणिनि दर्शन १४. सांख्य दर्शन १५. योगदर्शन अैर १६. शाङ्कर दर्शन के विवेचन है। बहुत विद्वान मानते है कि 'सर्वदर्शन संग्रह' में दर्शन निम्नोच्चता के आधार पर है अतः शाङ्कर वेदान्त सर्वश्रेष्ठ दर्शन है।

स्थिति ·काल

स्वामी विद्यारण्य क समय १३५० ई० के आस–पास है। वे वेदान्तदेशिक के समकालीन थे। शङ्कराचार्य के बाद विद्यारण्य ने जितना प्रचार–प्रसार अद्वैतवेदान्त का किया उतना किसी ने नहीं किया। दक्षिण पूर्व एशिया में उनके शिष्यों ने अद्वैत वेदान्त का प्रचार किया इसलिये कभी–कभी उन्हें द्वितीय शङ्कराचार्य कहा जाता है।

शङ्कराचार्य के नाम से लिखे गये बहुत से ग्रन्थ वस्तुतः जगद्गुरु शङ्कराचार्य विद्यारण्य स्वामी द्वारा ही लिखे गये थे। यथा– देव्यपराधक्षमापनस्तोत्र स्वामी विद्यारण्य द्वारा रचित है क्योकि इसमें कहा गया है–

परित्यक्ता देवा विविधविधसेवाकुलतया।
भया पञ्चाशीतेशधिक मपनीते तु वयसि।।

अर्थात् 'मैं पचासी वर्ष से अधिक हो गया हूँ और हे देवि! अब मैं विधिवत पूजा नहीं कर सकता हूँ। अतः क्षमा करो।'

रचनाएँ

स्वामी विद्यारण्य द्वारा रचित १६ ग्रन्थ है जिनमें पञ्चदशी सर्वाधिक प्रख्यात है। इसके लेखक स्वामी विद्यारण्य तथा उनके गुरु भारती तीर्थ है।

पञ्चदशी में पन्द्रह प्रकरण है। प्रथम पांच प्रकरण विवेकान्त है, मध्य के पांच प्रकरण दीपान्त है तथा अन्त के पांच प्रकरण आनन्दान्त है। अव्यय दीक्षित ने 'सिद्धान्त

लेश संग्रह' में माना है कि 'ध्यानदीप' प्रकरण भारतीतीर्थ कृत है। किन्तु निश्चलदास ने वृत्तिप्रभाकर में कहा है कि विद्यारण्य प्रारम्भ के दश प्रकरणों के लेखक है। और अन्तिम पाँच प्रकरणों के लेखक भारतीतीर्थ है। सम्प्रति साधारण जनों द्वारा सम्पूर्ण पञ्चदशी के लेखक स्वामी विद्यारण्य ही माने जाते है परन्तु यह मत भ्रामक है।

सिद्धान्त

ईश्वर–जीव सम्बन्ध– अद्वैत वेदान्त के अन्तर्गत ईश्वर और जीव के सम्बन्ध में सुरेश्वराचार्य का आभासवाद, पद्मपादाचार्य एवं प्रकाशात्मा का प्रतिबिम्बवाद एवं वाचस्पति मिश्र का अवच्छेदवाद मुख्य सिद्धान्त है। विद्यारण्य उक्त सिद्धान्तों में से प्रतिबिम्बवाद के अनुयायी प्रतीत होते है।[१]

विद्यारण्य मानते है कि माया में प्रतिबिम्बित चेतन को ईश्वर एवं अविद्या में प्रतिबिम्बित चेतन को जीव कहते है। माया शुद्ध सत्वमयी है अविद्या मालिन सत्वमयी तृप्तिदीप में कहा गया है कि जीवत्व की उपाधि अन्तःकरण है। साहित्य है और ब्रह्म की उपाधि अन्तःकरण साहित्य है।

माया

माया का त्रिविध वर्णन पञ्चदशी में बड़े सुन्दर ढ़ंग से किया गया है। प्रत्यक्षतः वह वास्तवी है। अर्थात् वह अनिर्वचनीय है और श्रौतबोध से तुच्छ या अलीक है।

तुच्छानिर्वचनीय च वास्तवी चेत्यसौ त्रिधा।

ज्ञेया माया त्रिभिर्वोधैः श्रौतयौक्तिकलौकिकैः।। चित्रदीप १३०।।

आत्मा

पञ्चदशी में भी वेदान्त के समान अध्यारोप और अपवाद का प्रयोग किया गया है। और इसके पूरक के रुप में अन्वय–व्यतिरेक प्रणाली को भी प्रयुक्त किया गया है।

---

[१] T.M.P. Mahadevan- The Philosophy of Advaita, P- 219 (Ganesh & Co. Madras, 1957)

यथा– आत्मा पञ्चकोशव्यतिरिक्त है, इसं अध्यारोप–अपवाद द्वारा सिद्ध किया गया है। तत्व विवेक नामक प्रथम प्रकरण में आत्मा को अन्वय–व्यतिरेक के माध्यम से सिद्ध किया गया है–

अन्वयव्यतिरेकाभ्यां पञ्चकोशविवेकतः।

स्वात्मानं तत् उदधृत्य परं ब्रह्म प्रपद्यते।। तत्वविवेक ३७)

साक्षी

विद्यारण्य ने पञ्चदशी के कूटस्थ दीप, नाटकदीप एवं चित्रदीप प्रकरण के अन्तर्गत साक्षी का वर्णन किया गया है। कूटस्थदीप प्रकरण के अन्तर्गत साक्षी की व्याख्या इस प्रकार है– स्थूल और सूक्ष्म शरीर का अधिष्ठान भूत कूटस्थ चैतन्य अपने अवच्छेदक उक्त दोनों शरीरों का साक्षात् दृष्टा कर्तृत्व आदि विकारों से शून्य होने के कारण साक्षी है।[१]

नाटक दीप प्रकरण के अन्तर्गत साक्षी का विवेचन नृत्यशाला में स्थित दीपक के दृष्टान्त के आधार पर किया गया है। जिस प्रकर दीपक स्वम्यादि के अभाव में भी सभी को समान रूप से प्रकाशित करता है उसी प्रकार साक्षी भी अहंकार, बुद्धि तथा विषयों को प्रकाशित करता है और अहंकारादि के अभाव में भी सुषुप्ति अवस्था में पूर्ववत् साक्षी को भी प्रकाशित करता रहता है।[२]

चित्रदीप प्रकरण में साक्षी का विवेचन आकाश के दृष्टान्त के आधार पर दिया गया है।[३] ब्रह्म–जीव–ईश्वर के सम्बन्ध को बताते हुये चित्रदीप में कहा गया है–

कूटस्थो ब्रह्म जीवेशावित्येवं चिच्चतुर्विधा।

घटाकाश महाकाशौ जलाकाशाभ्रखे यथा।।

---

[१] सिद्धान्तलेश संग्रह, पृ० १८०

[२] पञ्चदशी– १०/११, १२

[३] पञ्चदशी– ६/१८, २२

कूटस्थ दीप में कूटस्थ चैतन्य को ही साक्षी कहा गया है–

अन्तःकरण तद्वृत्तिसाक्षीत्यादावने कथा।

कूटस्थ एवं सर्वत्र पूर्वाचार्योर्विनिश्चतः।।

निर्गुण उपासना का भी वर्णन ध्यान दीप में किया गया है।[1] निर्गुण ब्रह्म की उपासना संवादी भ्रम है और सगुण ब्रह्म की उपासना विसंवादी भ्रम है।

वास्तव में पञ्चदशी की भाषा सरल, सुबोध और प्राञ्जल है। यह अद्वैतवेदान्त का प्रवेशद्वार रूपी ग्रन्थ ही नहीं वरन् आप्ततायुक्त ग्रन्थ भी है।

---

[1] आनन्दाभिस्थूलादिभिश्चात्मा च लक्षितः। आनन्दैकरस. सोऽहमस्मीत्येव मुपासते।। (ध्यानदीप– ७३)

शङ्करानन्द (१४वीं शताब्दी)

प्रसिद्ध पंचदशी के लेखक स्वामी विद्यारण्य है, और शङ्करानन्द विद्यारण्य के पूज्य गुरु थे। शङ्करानन्द द्वारा ब्रह्मसूत्र पर ब्रह्मसूत्र दीपिका नामक टीका लिखी गयी है। उन्होंने आत्मपुराण नामक प्रसिद्ध ग्रन्थ की भी रचना की थी। इसके साथ ही लगभग १०८ उपनिषदों की टीका लिखकर अद्वैत वेदान्त का विश्लेषण किया है।

आनन्दगिरि (१५वीं शताब्दी)

आनन्दगिरि अद्वैतवाद के समर्थक रहे है तथा शङ्करोत्तर अद्वैतवादियों में मुख्य दार्शनिक आचार्य है। इनका दूसरा नाम आनन्द ज्ञान भी है। आनन्दगिरि ने शङ्कराचार्य के भाष्यग्रन्थों पर टीकाएं लिखकर अद्वैतवाद के विभिन्न सिद्धान्तों का विवेचन करते हुये शाङ्कर मत का ही समर्थन किया है। आनन्द गिरि द्वारा वेदान्तसूत्र भाष्य पर 'न्याय निर्णय' नामक प्रसिद्ध टीका लिखी गयी है। इनके द्वारा ही 'शङ्करदिग्विजय' नामक ग्रन्थ की रचना की गयी है। जिसके द्वारा शड्कराचार्य के जीवन एवं दार्शनिक सिद्धान्तों को जानने में सहायता मिलती है।

अखण्डानन्द (१५वीं शताब्दी)

१५वीं शताब्दी में ये अद्वैतवाद के मुख्य आचार्य थे। ये अखण्डानुभूति के शिष्य थे। १२वीं शताब्दी में प्रकाशात्मयति रचित पञ्चपादिका पर इन्होंने तत्वदीपन नामक एक प्रामाणिक टीका की रचना किये। इस ग्रन्थ में अद्वैत वेदान्त का सूक्ष्म विवेचन किया गया है। इन्होंने वाचस्पति मिश्र की 'भामती' नामक ग्रन्थ पर 'ऋजुप्रकाशिका' नामक टीका की रचना किये है।

श्री अप्पय दीक्षित (१५५० ई० १६२२ ई०)

श्री अप्पय दीक्षित सुविख्यात मनीषियों में से एक है। सुप्रामाणिक साक्ष्यों के अनुसार उन्होंने ऐसी व्युत्पन्न वंश परम्परा में जन्म लिया जिसमें ज्ञानगरिमा का स्रोत अनवरत् प्रवाहित हो रहा था। उनके पितामह 'न्याय चिन्तामणि' के प्रणेता श्रीमद् आचार्य दीक्षित थे। जिन्हे वक्षस्थलाचार्य दीक्षित भी कहा जाता है। आचार्य दीक्षित की दो पत्नियों में 'तौतारम्भा' नामक पत्नी से चार पुत्र हुये जिनमें से ज्येष्ठ रंगराजध्वरि थे। रंगराजध्वरि के दो पुत्रों में हमारे अप्पय दीक्षित है। इनका संकेत अप्पय दीक्षित ने 'न्यायरक्षामणि' के पद्यों में किया है–

आसेतु बन्धततमा च तुषार शैला इति प्रथिताभिधानम्।

अद्वैतचित्सुख महाम्बुधिमग्नभावं अस्मत्पितामहम् शेष गुरुं प्रपद्ये।।

इतिहासविदों ने अप्पय दीक्षित का समय १५२० से १५६३ ई० तक निश्चित किया है। पं० अप्पय दीक्षित का जन्म कान्ची के समीप 'अडपप्पल गांव' में हुआ था। अभी तक उस गांव में इनके कुछ वंशज विद्यमान है। रंगराजध्वरि जो अप्पय दीक्षित के पिता थे वे बहुत बड़े विद्वान थे। 'सिद्धान्त कौमुदी' के विख्यात रचयिता भट्टोजीदीक्षित ने भी 'सिद्धान्त कौमुदी' की रचना के बाद दक्षिण में जाकर अप्पय दीक्षित से पढ़ा था। इसके बाद उन्होंने "तत्त्वकौस्तुभ" नामक ग्रन्थ लिखा है। जिसमें अपने गुरु अप्पय दीक्षित को ही प्रणाम किया है। अप्पय दीक्षित ने अपने जीवन काल में १०० से भी अधिक ग्रन्थों की रचना किये थे। ऐसा प्रमाण मिलता है। क्योंकि राम के आगे "चतुरधिकशतप्रबन्ध निर्वाहकाचार्य" अर्थात् एक सौ चार ग्रन्थ के निर्माण करने वाले आचार्य, यह उपाधि लगी हुई कहीं–कहीं मिलती है। दीक्षित जी का सब शास्त्रों में अप्रतिहत पांडित्य था और उनकी प्रतिपादन शैली विलक्षण थी। ये परम आस्तिक थे। इनका गोत्र भारद्वाज था। ये ७२ वर्ष की आयु तक ही जीवित रहे।

"सिद्धान्त लेख संग्रह" वेदान्त दर्शन का एक बड़ा उपयोगी ग्रन्थ है। इसमें चार परिच्छेद है यह गद्य में है अद्वैत वेदान्तियों में जो मतभेद है उसका वर्णन है वेदान्त के सम्प्रदाय को समझने में सहायता मिलती है क्योंकि इसके यथावत् अध्ययन करने पर अद्वैत वेदान्त शास्त्र का ऐसा कोई भी मत अज्ञात नहीं रह जाता है जो इसमें न आया हो।

यद्यपि अप्पय दीक्षित के सभी ग्रन्थों के नाम ज्ञात नहीं हो सके है गुरुपरम्परा एवं अन्याय ग्रन्थों से जितने नाम हमें उपलब्ध हो सके है उनका निम्नलिखित प्रकार से उल्लेख किया है यथा–

कुवलयानन्द, चित्रमीमांसा, वृत्तिवार्तिक, नामसंग्रहमाला, नक्षत्रवादावली, प्राकृतचन्द्रिका, चित्रपुट, विधिरसायन, सुखोपयोजिनी, उपक्रम पराक्रम, परिमल, न्यायरक्षामणि, सिद्धान्त लेख संग्रह, न्याय मुक्तावली, न्यायमञ्जरी, मणिदीपिका, मणिमलिका, रत्नत्रय परीक्षा, शिखरिणी माला, शिवतत्त्व विवेक, ब्रह्मतर्कस्तव, शिवकर्णामृत, रामायण तात्पर्य संग्रह, भारत तात्पर्य संग्रह, शिवाद्वैत निर्णय, शिवार्चन चन्द्रिका, बालचन्द्रिका, शिवध्यान पद्धति, आदित्यस्तव रत्न, मध्यतन्त्र, मुखदर्शन और मध्यमत विध्वंसन आदि।

अप्पय दीक्षित यद्यपि 'परिमल' के कारण भामती प्रस्थान के दार्शनिक है किन्तु नव्य वेदान्त की स्थापना में भी अधिक योगदान किया। श्री बलदेव उपाध्याय ने "संस्कृत वाङ्गमय का बृहद इतिहास"[1] में अप्पय दीक्षित के योगदान का वर्णन किया है।

---

[1] पं० बलदेव उपाध्याय– संस्कृत वाङ्गमय का वृहद इतिहास (दशमखण्ड) वेदान्त– पृ० १३६

(१) सर्वप्रथम उन्होंने शैवमत और वैष्णव मत को एक करने का प्रयास किया अथवा कम से कम श्रीकण्ठ भाष्य पर "शिवाकर्मणिका" नामक टीका लिखकर तमिलनाडु के शैवमत को अद्वैतमत के सन्निकट लाने का प्रयत्न किया।

(२) उन्होंने रामानुज के मतों का खण्डन करने वाले ग्रन्थ रामानुजशृंगभंग लिखकर बाध प्रस्थान को महत्व दिया।

(३) अन्त में उन्होंने 'मध्वतन्त्र मुखमर्दन' लिखकर मध्व वेदान्त का खण्डन किया और बाध प्रस्थान की जो धारा माध्व वेदान्त के खण्डन में लगी थी उसको परिपुष्ट किया। इन कारणों से उनको बाध प्रस्थान और नव्य वेदान्त के अन्तर्गत रखा जा सकता है।

'मध्वतन्त्र मुखमर्दन' में कुल ६६ श्लोक है इस पर ग्रन्थ पर अप्पय दीक्षित ने 'मध्वमतविध्वंसनम्' टीका गद्य में लिखी है। इस ग्रन्थ में अप्पय दीक्षित ने यह दिखलाया है कि माध्वमत के लोग वैदिक मर्यादा का अपमान किये है।[1]

अप्पय दीक्षित ने अपने इस ग्रन्थ में मध्व के ब्रह्म सूत्र भाष्य के प्रथम पांच अधिकरणों का खण्डन है। अपने खण्डन का निष्कर्ष उन्होंने ६३वें श्लोक में दिया है जो इस प्रकार है–

आद्रियध्वमिदमध्वदर्शनं व्यध्वनं त्यजत् मध्वदर्शनम्।

शाङ्करं अजत शाश्वतं मतं साधवः स इह साक्ष्युमाध्वः।।

इससे तात्पर्य है कि अभेद श्रुतियों का प्राबल्य भेद श्रुतियों से अधिक होता है। माध्व वेदान्त का मन्तव्य है कि स्वयं विष्णु अन्य अर्थ के बावजूद अनन्य कहे जाते है अर्थात् समस्त भेदों को मानते हुये भी माध्व वेदान्ती एकेश्वरवादी है।[2]

---

[1] तथाप्यानन्द तीर्थीयं मतमग्राह्यमेव न.। यत्र वैदिक मर्यादा भूयस्था कुलतां गता।। (मध्वतंत्र मुखमर्दन–२)

[2] अनन्योऽप्यन्य शब्देन तथैको बहुरूपवान्। प्रोच्यते भगवान विष्णुरैश्वर्यात्पुरुषोत्तम ।। (माध्वमत विध्वंसन पृ० ६०)

इसी न्याय के अनुसार अप्पय दीक्षित अद्वैतवाद को सिद्ध करते है वे कहते है कि भेद रहने पर भी भगवान् अपनी शक्ति के कारण एक है और उसके अभेद में कोई दोष नहीं हैं।

प्राबल्यं भवतोऽयभेद वचसां भेदश्रुतिभ्यो मतम्।
नो चेदन्नमयादयो वद कथं भिन्नं भवेयुर्न ते।।
भेदे सत्यपि युज्यते हि भगवच्छक्त्यैव निर्दोषता।
शक्तः किं न स एक एव बहुधा भिन्नोहरिः कीडितुम्।।

(मध्वतंत्र मुखमर्दन, श्लोक ६०)

सिद्धान्त लेशसंग्रह के प्रणेता अप्पय दीक्षित का नव्य वेदान्त में एक अद्वितीय महान योगदान है। सिद्धान्त लेश संग्रह अद्वैतवेदान्त का एक प्रकार का इतिहास है। शङ्करोत्तर अद्वैतवेदान्त को समझने के लिये बहुत लाभदायक है।

अप्पय दीक्षित श्रेष्ठ विद्वान होने के साथ एक लेखक तथा महान अद्वैत वेदान्ती थे। अलंकारशास्त्र, व्याकरणशास्त्र, पूर्वमीमांसा, पूर्वोत्तरमीमांशा, काव्य, शैवमत, वेदान्त, शाङ्करमत, रामानुजमत और माध्वमत आदि पर उनकी अन्य रचनाएं भी है जिसमें से लगभग ४५ रचनाओं का उल्लेख 'मध्वतंत्र मुखमर्दन' की प्रस्तावना में किया गया है।

श्री मधुसूदन सरस्वती ने अद्वैत सिद्धि में अप्पय दीक्षित को सर्वतन्त्र स्वतंत्र कहकर सम्मान दिया है 'सर्वतंत्र स्वतन्त्रैर्भामतीकार कल्प तरुकार परिमलकारैः।' सिद्धान्तलेश संग्रह की रचना १५४७ के बाद हुई थी और कनकाभिषेक १५८२ में हुआ था। ये काशी में भी कुछ दिन तक रहे थे वैसे इनका अधिकांश समय दक्षिण भारत में चिदम्बर में बीता। ये नृसिंहाश्रम से बहुत प्रभावित थे। काशी में पं० जगन्नाथ अप्पय दीक्षित के विरोधी थे क्योंकि 'सिद्धान्त कौमुदी' और मनोरमा के रचनाकर भट्टोजी

दीक्षित अप्पय दीक्षित के शिष्य थे और पंडित राज के अपना ग्रन्थ 'मनोरमाकुचमर्दन' लिखकर भट्टोजी दीक्षित का विरोध किया।

कुप्पूस्वामी शास्त्री के अनुसार अप्पय दीक्षित का जन्म १५५३ ई० में और देहान्त १६२६ मैं हुआ था।

मधुसूदन सरस्वती (१६०० ई०)

मधुसूदन सरस्वती कौत्तर काल के अद्वैत सम्प्रदाय के मुख्य आचार्यो में से एक है। इनमे पूर्वज पंडित श्रीराम मिश्र ईसा की १२वीं शताब्दी में संभवतः बंगाल के नवदीप में आकर बस गये। इनके कुल में उन्पन्न श्री पुरोदन पुरदराचार्य के चार पुत्र हुये– (१) श्री राम या श्री नाथ चूड़ामणि (२) कमलनयन या मधुसूदन गोस्वामी (३) यादव (४) वागीश गोस्वामी।

श्री रामाज्ञा पाण्डेय ने अपने वेदान्त 'कल्पलातिका' के अपने संस्करण में मधुसूदन को जन्म से बंगाली होना बताया है। श्री मधुसूदन को उनके पिता ने काव्य साहित्य एवं व्याकरण पढ़ाया। उन्होंने श्रीराम तर्क वागीश से न्यायशास्त्र का गहन अध्ययन किया। उनके सहपाठी प्रत्यक्ष चिन्तामणि के टीकाकार नव्य नैरयायिक गदाधर भट्टाचार्य थे जब मधुसूदन सरस्वती नव्यदीप पहुंचे तब गदाधर भट्टाचार्य कांप गये थे–

> नवदीपं समायते मधुसूदन वाक्यतौ।
>
> चकम्पे तर्कवागीशः कातरोऽभूद गदाधरः।।

मीमांसा तथा वेदान्त के अध्ययन हेतु वे वाराणसी आकर रहे थे। काशी में श्री रामतीर्थ जी से अद्वैतवेदान्त तथा श्री माधवसरस्वती से उन्होंने मीमांसाशास्त्र का अध्ययन किया।

'गीता शङ्कर भाष्य' पर 'गीता निबन्ध' नामक ग्रन्थ लिखकर दिखाने पर श्री विश्वेश्वर सरस्वती ने उन्हें सन्यास की दीक्षा दिया। सन्यास के पश्चात वे मधुसूदन

सरस्वती कहलाये और काशी के चौसठी घाट पर अपने गुरु के साथ निवास करने लगें। यद्यपि सन्यास मार्ग में जाने के पश्चात् उन्होंने वेदान्त मत को अतिपुष्ट किया, तथापि वे कृष्ण भक्त थे और भक्ति को ही परम पुरूषार्थ मानते थे। उन्होंने 'भगवद्‌भवितर सायन' ग्रन्थ में भक्ति का अत्यन्त प्रौढ शास्त्रीय विवेचन किया है।

स्थितिकालः

श्री मधुसूदन सरस्वती का समय सोलहवीं शती का पूर्वार्द्ध है। पं० गोपीनाथ कविराज ने उनके समय के बारे में तीन मत दिये है–

१. कुछ लोगों का मन्तव्य है कि इनका समय १५४० से १६२३ ई० के बीच है।

२. किन्तु कुछ अन्य लोग कहते है कि उनका समय १५५५ ई० से १६१५ई० तक थे।

३. अन्त में कुछ लोग कहते है कि उनका समय १५७० से १६४० ई० के मध्य का है। वे गोस्वामी तुलसीदास के समकालीन थे। रामचरित मानस के बारे में उनका यह श्लोक बहुत प्रसिद्ध है–

आनन्दकानने काश्यां तुलसी जङ्गमस्तरुः।

कविता कामिनी यस्य रामभ्रमर भूषिता।।

सम्राट अकबर का अर्थ सचिव टोडरमल मधुसूदन सरस्वती का मित्र था। उन्होंने मधुसूदन सरस्वती का सम्मान अकबर के दरबार में करवाय था। वहां उपस्थित सभी पण्डितों ने एकमत से स्वीकारा–

वेत्ति पारं सरस्वत्या मधुसूदन सरस्वती।

मधुसूदन सरस्वत्याः पारं वेत्ति सरस्वती।।

अकबर का शासन काल १५५६ से १६०५ ई० तक है अतः मधुसूदन सरस्वती का समय सोलहवीं शदी का उत्तरार्द्ध ज्ञात होता है।

व्यासतीर्थ के न्यायमृत ग्रन्थ का खण्डन उन्होंने 'अद्वैतसिद्धि' ग्रन्थ में किया है। अतः मधुसूदन सरस्वती का स्थितिकाल १६वीं शदी का उत्तरार्ध और सत्रहवीं का पूर्वार्ध माना जाता है। क्योंकि उन्होंने 'अद्वैतसिद्धि' में श्री दीक्षित का उल्लेख 'परिमलकार' के रूप में किया है।

शिष्यगण— १. श्री बलभद्र भट्टाचार्य। २. शेषकृष्ण पंडित प्रसिद्ध वैयाकरण भट्टोजी दीक्षित के गुरु तथा शंकराचार्य के सर्वसिद्धान्त संग्रह के टीकाकार तथा। ३. श्री पुरूषोत्तम सरस्वती उनके तीन विद्वान शिष्य हुये है।

रचनाएंः— १. संक्षेप सार संग्रह— सर्वज्ञात्ममुनि के संक्षेपशारीरक की टीका २. वेदान्त कल्प लातिका— इसमें अद्वैतवेदान्त के अनुसार मोक्ष का वर्णन है ३. सिद्धान्त बिन्दु ४. अद्वैतसिद्धि ५. अद्वैतरत्नरक्षणम् ६. आत्मबोध टीका ७. महिम्नस्त्रोत ८. भक्तिरसायन ६. आनन्द मन्दाकिनी १०. गूढ़ार्थदीपिका ११. ईश्वर प्रतिपत्ति प्रकाशिका १२. कृष्ण कुतूहल (नाटक) १३. हरिलीला व्याख्या

उपर्युक्त ग्रन्थों से स्पष्ट होता है कि मधुसूदन सरस्वती ने वाध प्रस्थान के अन्तर्गत अद्वैतसिद्धि और अद्वैतरत्न रक्षण नामक दो ग्रन्थ लिखे। इसमें से 'अद्वैतसिद्धि' एक महान ग्रन्थ है जिसके खण्डन—मण्डन में अनेको ग्रन्थ लिखने में विद्वानों ने दिलचस्पी दिखायी। उनके अन्य ग्रन्थों में भक्ति सिद्धान्त का प्रतिपादन हुआ है। उन्होंने ही अद्वैतवेदान्त में सर्वप्रथम श्रीकृष्ण का अभेद परब्रह्म से किया है। इस सन्दर्भ में उनका यह श्लोक अत्यन्त प्रसिद्ध है—

> वंशीविभूषित करान्नव नीरदाभात् पीताम्बरादरुण बिम्ब फलाधरोष्ठात्।
> पूर्वेन्दु सुन्दर मुखादरबिन्द नेत्रात् कृष्णात्परं किमपि तत्वमहं न जाने।।
>
> (गूढ़ार्थदीपिका के अन्त में प्रथम श्लोक)

मधुसूदन सरस्वती ने अद्वैतसिद्धि में व्यासतीर्थ के ग्रन्थ न्यायामृत का खण्डन किया है। व्यासतीर्थ ने न्यायामृत में आनन्दबोध तथा तथा प्रकाशात्मा की युक्तियों का खण्डन किया[1] जिसका निराकरण मधुसूदन सरस्वती ने अद्वैत सिद्धि में किया।

निश्चित रूप से अद्वैतवेदान्त में मधुसूदन सरस्वती की देन दो प्रकार से है– पहली देन है– बाध प्रस्थान को चरम बिन्दु तक पहुंचा देना और अद्वैत वेदान्त को तर्कतः स्थापित करना। दूसरी मुख्य देन है अद्वैतवेदान्त में भक्ति और भागवत पुराण का प्रवेश करना मधुसूदन सरस्वती की यह महती उपलब्धि है कि इन्होंने कर्म, भक्ति और ज्ञान के सह समुच्चय का प्रचार किया तथा अपने समय में प्रचलित भक्ति आन्दोलन को अद्वैतवेदान्त की तरफ उन्मुख किया।

जहां श्री हर्ष और चित्सुख का उद्देश्य न्याय वैशेषिक का खण्डन करके अद्वैतवाद की स्थापना करना था वहां मधुसूदन सरस्वती का लक्ष्य द्वैत वेदान्त का खण्डन करके अंदैत वेदान्त की स्थापना करना था। इसके पीछे कारण यह था कि उनके समय में नव्य न्याय का झुकाव अद्वैतवेदान्त की दिशा में हो रहा था और माध्व वेदान्ती अद्वैतवेदान्त के कट्टर आलोचक थे। इसलिये मधुसूदन जी ने पूर्वपक्षी की आलोचनाओं की प्रत्यालोचना करके अद्वैतवाद की युगीन सेवा प्रारम्भ की।

अद्वैतसिद्धि के सिद्धान्तों में 'मिथ्यात्व' की विशेष चर्चा है। व्यासतीर्थ ने मिथ्यात्व के पांच लक्षण लिये और सभी में दोष स्पष्ट किये किन्तु मधुसूदन सरस्वती ने इन पांच लक्षणों को निर्दोष सिद्ध किया। जो विवादित बिन्दु है संक्षेप में इस प्रकार है–

क. क्या सत्त्वासत्त्वधिकरण सत्वविशिष्ट– असत्त्वाभाव है?

अथवा

ख. सत्त्वात्यन्त्वाभाव और असत्त्वात्यन्ता भाव दोनों का आधार है?

---

[1] विक्षिप्त सग्रहात क्वापि क्वाप्युक्तस्योपपादनात्। अनुक्तकथनात्क्वापि सफलोऽयं श्रमो मम्।। (न्यायमृत १/८)

अथवा

ग. सत्त्वात्त्यन्ताभाव– विशिष्ट असत्त्वात्यन्ताभाव रूप धर्म का आधार है? तीनों विकल्प सदोष है। प्रथम पक्ष में सिद्धसाधना, द्वितीय मे विरोध, और तृतीय मे व्याघात है। क्योंकि सत्ववात्यन्ताभाव विशिष्ट असत्त्वात्यन्ताभाव स्ववचन विरोध है। यहां मधुसूदन सरस्वती ने प्रथम विकल्प को छोड़कर द्वितीय और तृतीय विकल्प को तर्को और युक्तियों से निर्दोष सिद्ध किया है।

घ. व्यास तीर्थ ने दूसरा आक्षेप किया कि मिथ्यात्व का लक्षण–त्रैकालिक निषेध प्रतियोगित्व मिथ्यात्व है। प्रकाशात्मा के विवरण में भी यह लक्षण दिया गया है। यहां भी व्यासतीर्थ ने तीन विकल्प उठाये है–(१) त्रैकालिक निषेध यदि तात्विक है तो अद्वैतहनि है (२) त्रैकालिक निषेध प्रतिभासिक मानने पर सिद्धसाधन दोष है (३) त्रैकालिक निषेध को व्यवहारिक मानने पर उसे बाधित मानना पड़ेगा और अर्थान्तर दोष प्रशक्त होगा। इसका उत्तर देते हुए मधुसूदन जी कहते है कि यद्यपि त्रैकालिक निषेध तात्त्विक है फिर भी अद्वैतहानि नही होती है क्योंकि प्रपंत्र्च का निषेध तात्विक होने पर भी ब्रह्म रूप ही है, वह ब्रह्म से भिन्न नहीं है। अतः अद्वैत हानि नहीं है।

ङ. मिथ्यात्व का तीसरा लक्षण है ज्ञान–निवर्त्यत्व। यह लक्षण भी विवरणकार ने दिया है। व्यासतीर्थ मानते है कि घटादि में यह लक्षण अव्याप्त है क्योंकि यह विनाशशील है तथा दूसरे पक्ष में संस्कारों में अतिव्याप्ति है क्योंकि वे स्मृतिरूप ज्ञान में व्याप्त ज्ञानत्व से निवृत्त होते है। इसके उत्तर में मधुसूदन सरस्वती कहते है कि अधिष्ठान की प्रतीति होना भी ज्ञानकोटि में ही आता है अतएव शुक्ति–रजत आदि में भी भ्रम की निवृत्ति ज्ञान से ही होती है। इस प्रकार प्रपत्र्च से सर्वत्र ज्ञान निवर्त्यत्व सिद्ध है।

च. मिथ्यात्व का चतुर्थ लक्षण है– स्वाश्रयनिष्ठ– अत्यन्ताभाव– प्रतियोगित्वं मिथ्यात्वं है। चित्सुख द्वारा दिया गया लक्षण है। इस पर व्यासतीर्थ ने आक्षेप लगाया कि अत्यन्ताभाव को तात्विक मानने पर द्वैतावन्ति अर्थात् अद्वैतहानि होगी। इसपर मधुसूदन सरस्वती पूर्वोक्त प्रकार से ही स्पष्ट करते है कि प्रपञ्च के अत्यन्ताभाव से अद्वैतहानि नहीं होती है।

प्रपञ्च का पाँचवा लक्षण पूर्वपक्षी द्वारा दिया गया है 'सद्विविक्तत्व मिथ्यात्व'। अर्थात् जो सद् से भिन्न है वह मिथ्या है। इस लक्षण को आनन्दबोध ने दिया और व्यासतीर्थ ने तीन विकल्प उठाये– (१) सत्ता का अर्थ १. सत् जाति है या (२) अबाध्य वस्तु (३) या ब्रह्म प्रथम विकल्प में प्रपञ्च में सिद्ध साधन दोष है। मधुसूदन सरस्वती द्वारा सत् की परिभाषा– 'सत्त्वं च प्रमाणसिद्धत्वम्' दी गयी है अर्थात् जो प्रमाण सिद्ध है वह सत् है। इस लक्षण के द्वारा व्यासतीर्थ के तीनों विकल्पों को अप्रासंगिक बना दिया है। जगत की सत्ता प्रमाणतः सिद्ध नहीं है। प्रमाणसिद्ध ब्रह्म की सत्ता है अतएव जगत सत् से भिन्न है। इस प्रकार मिथ्यात्व के पांचों लक्षणों को मधुसूदन सरस्वती ने निर्दोष सिद्ध किया। अविद्या, प्रतिबिम्बवाद तथा अभेद पर भी व्यासतीर्थ और मधुसूदन में गंभीर विवाद है। मधुसूदन सरस्वती ने इन मतों की स्थापना व्यासतीर्थ की युक्तियों का खण्डन करके ही की है। उनकी यह स्थापना परवर्ती अद्वैत वेदान्तियों तथा द्वैतवादियों के लिए बहुत प्रेरक सिद्ध हुई है।

एकजीववाद

मधुसूदन सरस्वती एकजीववाद के समर्थक है– 'स च दृष्टैक एव तन्नानात्वे मानाऽभावात्'[1] एकजीववाद के सम्बन्ध में यह शंका उठती है कि जब "मैं सुखी हूँ", "मै संसारी हूँ" और "मै सोया" आदि भिन्न–भिन्न अनुभव होते है तो एक जीववाद को फिर

[1] अद्वैतसिद्धि – पृ० ५३६

कैसे स्वीकार किया जाय? इसके उत्तर में मधुसूदन सरस्वती कहते है कि अविद्या के कारण एक ब्रह्म ही जीवरूप को प्राप्त करता है उस जीव की ही प्रत्येक शरीर में 'अहं बुद्धि' होती है इस प्रकार जीव अनन्त न होकर एक ही है।

भेद–अभेद के विषय में जो विवाद है उसकी अभिव्यक्ति भेदवादी नव्यनैयायिक शङ्कर मिश्र के ग्रन्थ भेदरत्न प्रकाश में और अभेदवादी मधुसूदन सरस्वती के ग्रन्थ अद्वैतरत्नरक्षण में विशेष रूप से हुई है। शङ्कर मिश्र ने भेदसिद्धि इसलिये की है कि अद्वैत वेदान्ती भेद खण्डन न कर सकें–

भेदरत्न परित्राणे तार्किका एव यामिकाः।
अतो वेदान्तिनः स्तेनान्निरस्यत्येष शंङ्करः।।

इसका प्रत्युत्तर मधुसूदन सरस्वती ने 'अद्वैत रत्नरक्षण' में इस प्रकार व्यक्त किये है–

'अद्वैतरत्न रक्षायां तत्त्विकां एव यामिकाः।
अतो न्यायविदः स्तेनान्निरस्यामः स्वयुक्तिभिः।।

भेद के चार प्रभेद का खण्डन मधुसूदन सरस्वती के पूर्व श्री हर्ष ने 'खण्डन खण्ड खाद्य' नामक अपने ग्रन्थ में किया है–

एकं ब्रह्मास्त्रमादाय नान्यं गणयतः क्वचित्।
आस्ते न धीरवीरस्य भंगः संगरकेलिषु।।

इस विवाद में खण्डनकार का पक्ष लेते हुये मधुसूदन सरस्वती शङ्कर मिश्र को परामर्श देते है–

मोक्षाय स्पृहयालवः श्रुतिगिरां श्रद्धालवोऽर्थेऽनृजौ
वेदान्तार्थ विभावनासु सुतरां व्याजेन निद्रालवः।
भेदे खण्डन खण्डितेऽपि शतधा तन्द्रालवस्तार्किकाः
कैवल्यात्प्रटलायवः श्रृणुत सदयुक्तिं दयालोर्मया।।

अर्थात् हे नैयायिक! खण्डन खण्ड खाद्य में शतधा भेद का खण्डन किये जाने पर भी आप सोते न रहे, कैवल्य से आपका पतन न हो, अतएव मेरी सदयुक्तियों को सुनकर अभेदवाद को स्वीकार करो और मोक्ष के लिए प्रयत्न करो। भेद को लेकर विवाद इस बिन्दु पर है कि भेद औपाधिक है या परमार्थिक। नैयायिक, माध्व वेदान्ती भेद को परमार्थिक मानते है जब कि अद्वैत वेदान्ती औपाधिक मानते है। क्योकि इनके मत में एक मात्र ब्रह्म को ही सत् माना जा सकता है।

नृसिंहाश्रम (१६वीं शताब्दी) नृसिंहाश्रम मुनि एक महान अद्वैतवेदान्ती थे। इनका समय १६वीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध माना जाता है।[1]

नृसिंहाश्रम मुनि गीर्वाणेन्द्र सरस्वती और जगन्नाथ आश्रम के शिष्य थे। उनके शिप्य नारायण आश्रम तथा धर्मराज अध्वरीन्द्र थे। धर्मराज ने वेदान्त परिभाषा से सम्बन्धित ज्ञानमीमांसीय ग्रन्थ की रचना की है।

नृसिंहाश्रम उद्भव दार्शनिक एवं प्रौढ़ पण्डित थे। इन्होंने भावप्रकाशिका (विवरण की टीका), तत्व विवेक, भेद धिक्कार, अद्वैत दीपिका, वैदिक सिद्धान्त संग्रह एवं तत्वबोधिनी की रचना की थी। इसके अतिरिक्त अद्वैत पञ्चरत्न, अद्वैतबोध दीपिका, अद्वैतवाद, वाचारम्भण, वेदान्ततत्व विवेक आदि ग्रन्थों की रचना करके नृसिंहाश्रम ने निश्चय ही दर्शनशास्त्र के लिए एक विलक्षण योगदान दिया है। नृसिंहाश्रम ने संक्षेपशारीरक पर तत्वबोधिनी तथा पंचपादिका विवरण पर पंचपादिका विवरण नामक व्याख्याएं लिखी है।

अद्वैत दीपिका पर नृसिंहाश्रम के शिष्य नारायण आश्रम ने अद्वैतदीपिका विवरण नामक टीका लिखी, इसमें दो परिच्छेद है– प्रथम परिच्छेद का नाम साक्षिविवेक है और दूसरा परिच्छेद विभाग प्रक्रिया है। यह ग्रन्थ अद्वैत वेदान्त का एक मानक ग्रन्थ हे।

---

[1] नृसिंहाश्रम का यह समय वेदान्तां कल्याण के आधार पर किया गया है।

साक्षि के विषय में कहा गया है कि साक्षित्व अविद्या दशा में ही रहता है– 'साक्षित्वम् अविद्यादशायामेव दृश्यापेक्षत्वात्'।[1] वहीं नृसिंहाश्रम कहते है– अतएव द्रष्टत्वघटितं साक्षित्वं न स्वरूपम् अपितु उदासीन बोधात्मकमेव साक्षिरूपम्। तस्य निष्प्रतियोगिस्वरुपत्वात्।[2]

अद्वैत दीपिका में भामती प्रस्थान तथा विवरण प्रस्थान के संवाद को उत्कृष्ट रूप में दर्शाया है।

निःसंदेह नृसिंहाश्रम नव्य अद्वैतवाद के पुराकर्ता थे। इनके प्रभाव से ही भट्टोजी दीक्षित अप्पय दीक्षित आदि अद्वैत वेदान्त में दीक्षित हुये थे। 'भेदधिक्कार' के कारण उन्हें सहज रुप से बाधप्रस्थान का भी पुराकर्ता माना जाता है। भेद धिक्कार पर निम्नलिखित टीकाएं है–

१. नारायण आश्रमकृत सत्क्रिया।

२. अज्ञातकर्तृक भेदधिक्कार टिप्पणी।

३. पूर्णधारानन्द सरस्वतीकृत भेद धिक्कार सत्क्रियोज्जबल।

४. अज्ञातकर्त्तृक भेदाधिकारोपन्यास

पुनश्च माध्व वेदान्ती नृसिंह देव ने भेदधिक्कार का खण्डन 'भेदधिक्कार न्यक्कार' में किया है।

नृसिंहाश्रम का मत है कि ईश्वर–जीव तथा जड़ के भेद में कोई प्रमाण नहीं है क्योंकि जो भी प्रमाण दिये जाते है वे सभी सदोष है। यथा–

माना भावाद युर्क्तश्च न भिदेश्वर जीवयोः।
जीवानाम चितां चैवनात्मनो परस्परम्।। भेदधिक्कार पृ० ८ ।।

---

[1] अद्वैतदीपिका विवरण पृ० ४४१

[2] अद्वैतदीपिका पृ० ४४१

नृसिहाश्रम के मत में परमार्थिक भेद का निराकरण श्रुति बारम्बार करती है। युक्ति और तर्क से भी भेद की पारमार्थिकता सिद्ध नहीं होती है। क्योंकि जो भी युक्ति दी जाती है वह निर्दोष नहीं रहती है। वास्तव में नृसिंहाश्रम ने भेदखण्डन और अभेदसिद्धि में श्रुति प्रामाण्य का सहारा नहीं लिया है। उन्होंने भेद खण्डन के द्वारा अद्वैतसिद्धि की है।[1]

अद्वैतदीपिका में भी द्वैतवेदान्त का खण्डन प्रधान विषय है। अतएव उसे भी बाध–प्रस्थान के अन्तर्गत रखा जा सकता है। अद्वैतदीपिका के मंगलाचरण में नृसिंहाश्रमत कहते है–

श्रीमद गुरुपदद्वन्द्व ध्याननिर्धूत कल्मषः।
कुर्वे तदाज्ञया द्वैतदीपिकां भेदमेदिनीम्।।

अर्थात् गुरु की आज्ञा से अद्वैतदीपिका की रचना की गयी है जिसका मुख्य उद्देश्य भेदवाद का भेदन करना है इससे मध्व वेदान्ती टीकाचार्य जयतीर्थ के मत का भी खण्डन है। जयतीर्थ 'आनन्दमय' को ही ब्रह्म स्वीकार करते है परन्तु इसका खण्डन करते हुए नृसिंहाश्रम कहते है कि आनन्दमय ब्रह्म नहीं है, यह अन्नमयादि की तरह विषय और विकार है, तथा जो पंचकोश से परे हो वह ब्रह्म है। ऐसा नृसिंहाश्रम शारीरक भाष्य में युक्तियों और तर्कों से खण्डन करके सिद्ध करते है।

नृसिंहाश्रम और उनके टीकाकारों के अतिरिक्त भी अद्वैतवेदान्ती है जिन्होंने भेद के खण्डन में रुचि ली हे। इनमें १६वीं शती के मल्लनाराध्य मुख्य है जिन्होंने अद्वैतरत्न नामक एक ग्रन्थ की रचना की है।

नारायणाश्रम (१६वीं शताब्दी)

नारायणाश्रम उद्भुत दार्शनिक थे। इनका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है। ये नृसिंहाश्रम के शिष्य थे। नृसिंहाश्रम के भेदधिक्कार एवं अद्वैत दीपिका नामक अनुपम

[1] आस्तामन्य प्रमाणत्वम भेदे सर्ववस्तुनः।
भेदप्रमाणमेवैत दद्वैतं साधयत्यलम्।। (भेदधिक्कार पृ० ११८)

ग्रन्थों की रचना किये थे। नारायणाश्रम ने अपने गुरु द्वारा रचित उपर्युक्त दोनों ग्रन्थों पर टीका ग्रन्थों की रचना किया। भेदधिक्कार पर इनका टीका ग्रन्थ भेदधिक्कार सत्क्रिया अत्यन्त प्रसिद्ध है इन्होंने अपने इस ग्रन्थ में द्वैत का निराकरण करके अद्वैत की प्रामाणिकता का समर्थन किये है। इसके अतिरिक्त 'भेदधिक्कार सत्क्रियोज्जवला' नामक टीका भी इनके नाम से प्राप्त होती है।

रंगराजध्वरि (१६वीं शताब्दी)

रंगराजध्वनि वेदान्त के प्रसिद्ध विद्वान अप्पय दीक्षित के पिता थे। इनकी महत्वपूर्ण रचनाओं में अद्वैत विद्यामुकुर एवं विवरण दर्पण है। इन ग्रन्थों में रंगराजध्वरि ने न्याय वैशेषिक एवं सांख्य आदि मतों का खण्डन करके अद्वैत मत की स्थापना की है।

सदाशिव ब्रम्हेन्द्र (१६वीं शताब्दी)

सदाशिव ब्रम्हेन्द्र का समय १६वीं शताब्दी है। यह भी शांकर वेदान्त के पूर्ण समर्थक आचार्य रहे है। विरोधी अन्य मतों का निराकरण कर अद्वैतवाद का समर्थन किया है। इनकी मुख्य कृतियॉ अद्वैतविद्या विलास, बोधार्थात्मनिर्वेद, गुणरत्न मालिका और ब्रह्मकीर्तन तरंगिणी आदि है। जिसमें अद्वैतवाद को ही प्रतिपाद्य विषय बनाया गया है। १६वीं शताब्दी में ही नीलकण्ठ सूरि नामक आचार्य हुये जो अद्वैत वेदान्त के ही मुख्य रूप से थे। इन्होंने महाभारत पर 'भारत भावदीप' नामक टीका ग्रन्थ की रचना किये। गीता की व्याख्या करते समय यद्यपि कहीं–कहीं शांकर सिद्धान्त का विरोध भी किया है किन्तु ग्रन्थों को .देखने पर स्पष्ट होता है कि इनका प्रमुख सिद्धान्त शांकर अद्वैत ही था।

सदानन्द योगीन्द्र सरस्वती (१६वीं शताब्दी)

सदानन्द ने अद्वैत वेदान्त के अत्यन्त महत्वपूर्ण एवं प्रसिद्ध ग्रन्थ वेदान्त सार की रचना

की है।

सदानन्नद का 'वेदान्तसार' अद्वैत वेदान्त का प्रथम एवं प्रामाणिक सार ग्रन्थ है। सदानन्द के पूर्व भी अद्वैत वेदान्त में आचार्य 'पद्मपाद' ने एक वेदान्तसार लिखा था जो शंकराचार्य रचित आत्मबोध की एक टीका है। किन्तु इसमें अद्वैत वेदान्त का पूर्ण विवेचन नहीं था। इस दृष्टि से सदानन्द का वेदान्तसार अतिमहत्वपूर्ण है जिसमें अद्वैत वेदान्त के सभी विषय वर्णित है। वेदान्तसार की रचना १५२५ ई० में हुई थी। उनके शिष्य कृष्णानन्द थे और कृष्णानन्द के शिष्य नृसिंह सरस्वती थे जिन्होंने शकसंवत् १५१० में अर्थात् १५८८ ई में वेदान्तसार के ऊपर 'सुबोधिनी' नामक एक टीका लिखी। उन्होंने सुबोधिनी का रचनाकाल स्वयं बताया है–

जाते पञ्चशताधिके दशशते संवत्सराणां पुनः
सञ्जाते दशवत्सरे प्रभुवर श्रीशालिवाहे शके।
प्राप्ते दुर्मुखवत्सरे शुभशचौमासेऽनुमित्यां तिथौ
प्राप्त भार्गववासरे नरहरिप्टीकां चकारोज्जवलाम्।।

सुबोधिनीकार नृसिंह सरस्वती नृसिंहाश्रम से भिन्न व्यक्ति है। सुबोधिनी के अतिरिक्त वेदान्तसार पर संस्कृत में दो और टीकाएं है। रामतीर्थ की विद्वनमनोरंजनी जिसकी रचना १६५०ई० के आस–पास हुई थी। और आपदेव द्वितीय की बालबोधिनी जिसकी रचना १७वीं शती के उत्तरार्द्ध में हुई थी। इन तीन टीकाओं में विद्वनमनोरंजनी सर्वोत्तम है।

वेदान्तसार शङ्कराचार्य के शारीरक भाष्य का संक्षेप है। इस संक्षेप में सर्वज्ञात्ममुनि के संक्षेपशारीरक को प्रमुख महत्व दिया गया है।

रामतीर्थ (१७वीं शताब्दी)

रामतीर्थ का समय १७वीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध माना गया है। रामतीर्थ ने

संक्षेपशारीरक पर अन्वयार्थ प्रकाशिका, शङ्कराचार्य की उपदेश साहस्री पर पदयोजनिका और वेदान्तसार पर विद्वनमनोरंजनी नामक टीका ग्रन्थों में रामतीर्थ ने विशेषतया अद्वैतवाद का ही प्रतिपादन किया है।

इसी समय आपदेव नाम मीमांसक भी थे जिन्होंने वेदान्तसार पर बोलबोधिनी नामक टीका की रचना करके अद्वैत मत का ही पूर्ण रूप से समर्थन किया है। मुख्य बात यह है कि यह मीमांसक होते हुये भी अद्वैत मत के समर्थक थे।

१७वीं शताब्दी में गोविन्दानन्द ने ब्रह्मसूत्र भाष्य की टीका– रत्नप्रभा शाङ्कर भाष्य की टीका है। इन्होंने भी अद्वैत वेदान्त का बडी सरलता से अपने ग्रन्थ में निरूपण किया है।

रामानन्द सरस्वती (१७वीं शताब्दी)

रामानन्द सरस्वती शंकरोत्तर वेदान्तियों में प्रमुख थे जिन्होंने अद्वैतवाद के विकास में पूर्ण रूप से प्रयास किया। ये गोविन्दानन्द के शिष्य थे इन्होंने ब्रह्मसूत्र पर शांकर भाष्य सम्मत 'ब्रह्मामृतवर्षिणी' नामक टीका की रचना की है। इसके अतिरिक्त 'विवरणोपन्यास' नामक ग्रन्थ भी अत्यधिक प्रसिद्ध है। यह ग्रन्थ पंचपादिका टीका का विस्तृत रूप है।

काश्मीरक सदानन्द यति (१७वीं शताब्दी)

काश्मीरक सदानन्द यति ने काश्मीरक अद्वैत ब्रह्मसिद्धि नामक एक प्रामाणिक ग्रन्थ की रचना किये। वामनशास्त्री ने इसका संपादन किया है।[१] इनके अन्य ग्रन्थ जैसे– अद्वैतसिद्धि सिद्धान्त सार, प्रत्यक्तत्त्व चिन्तामणि (प्रभासहित) ईश्वरवा, स्वरूप निर्णय, स्वरूपप्रकाश, गीताभाव प्रकाश (पद्य), तत्त्वविवेक टीका और शङ्कर दिग्विजयसार आदि। ये मधुसूदन सरस्वती के सिद्धान्तबिन्दु के टीकाकार ब्रह्मानन्द

[१] यह परिमल प्रकाशन दिल्ली से १९८१ में छपी है।

सरस्वती और नारायण तीर्थ के शिष्य थे और काशी में रहकर आचार्य बल्देव उपाध्याय ने 'संस्कृत वाङ्गमय का वृहद इतिहास– दशमखण्ड वेदान्त में लिखा है कि– "वामन शास्त्री भूमिका में लिखते है कि अद्वैत ब्रह्म सिद्धि में छः आस्तिक और छः नास्तिक दर्शनों का उपन्यासपूर्वक खण्डन तथा अद्वैतवेदान्त का अबाधित प्रतिपादन है। यह सर्वदर्शन संग्रह जैसा ग्रन्थ है।[1] अन्त्य यह हे कि सर्वदर्शन संग्रह में किसी भी मत का खण्डन नहीं किया गया है जबकि इसमें किया गया है। तात्पर्य यह है कि अद्वैतब्रह्मसिद्धि आधेपान्त आलोचनात्मक तथा विश्लेषणात्मक है। मधुसूदन सरस्वती की अद्वैतसिद्धि में खण्डन की प्रधानता है तथा अद्वैत सिद्धान्त गौण हो गया। भट्टोजी दीक्षित का तत्वकौस्तुभ, अप्पय दीक्षित का सिद्धान्त लेश संग्रह, नृसिंहाश्रम का भेदधिक्कार ये सब एकदेश ग्रन्थ है। इसमें अद्वैतवेदान्त के प्रतिपादन की आवश्यकता थी। इसको सदानन्दयति ने अद्वैतब्रह्मसिद्धि लिखकर पूरा किया।

रंगनाथ (१७वीं शताब्दी)

रंगनाथ ने शाङ्कर अद्वैत का ही प्रतिपादन किया है। रंगनाथ ने ब्रह्मसूत्र की शांकर भाष्यानुसारिणी वृत्ति लिखी है। भामतीकार ने इसे भाष्य के अर्न्तगत माना है। किन्तु वैयासिक न्यायमालाकार भारतीतीर्थ ने इसे पृथक सूत्र माना है।

१७वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में अच्युत कृष्णानन्द तीर्थ नामक आचार्य भी अद्वैत वेदान्त के समर्थक रहे है। इन्होंने अप्पय दीक्षित के सिद्धान्त लेश पर टीका लिखी है। सिद्धान्तलेश की यह टीका कृष्णालंकार अत्यन्त सुबोध एवं सरल है। इन्होंने तैत्तिरीयोपनिषद शांकर भाप्य के ऊपर वनमाला नामक टीका लिखी है।

इसके बाद १८वीं शताब्दी में सदाशिवेन्द्र सरस्वती ने अद्वैत वेदान्त को आगे बढ़ाने में प्रसास किया। इनका अन्य नाम सदाशिवेन्द्र ब्राम्हण था। इन्होंने ब्रह्मसूत्र पर

[1] बलदेव उपाध्याय– सस्कृत वाङ्गमय का वृहद इतिहास– दशम खण्ड वेदान्त पृ० १

'ब्रह्मतत्व प्रकाशिका' नामक टीका लिखी है। यह टीका शांकर सिद्धान्तों पर आधारित है। इसके अतिरिक्त और भी तीन ग्रन्थ है– आत्म विद्वाविलास, कविताकल्पवल्ली और अद्वैतरसमञ्जरी।

आयन्न दीक्षित ने १८वीं शताब्दी में ही सदाशिवेन्द्र के बाद अद्वैत वेदान्त को आगे बढ़ाने में आयन्न दीक्षित ने महत्वपूर्ण योगदान दिया। इसके द्वारा रचित व्यास तात्पर्य निर्णय नामक एक ग्रन्थ ही उपलब्ध होता है। इन्होंने अद्वैतमत के प्रतिपादक के लिये उस समय सांख्य, मीमांसा, पातञ्जल, न्याय वैशेषिक, पाशुपत एवं वैष्णव मतों का निराकरण किया और शांकर मत का समर्थन किया।

प्रायः बहुत से दार्शनिकों का विचार है कि १८वीं शताब्दी में ही अद्वैतवेदान्त में चिन्तन की मौलिकता में कमी की स्थिति परिलक्षित होती है किन्तु कुछ भी हो इतना तो स्पष्ट है कि अद्वैत चिन्तन की मौलिकता का ह्रास असंभव है जो आज भी मुख्य रूप से प्रचलित है और वेदान्त के (अनुयायियों) प्रर्वतकों की संख्या में बढ़ोत्तरी हो रही है।

स्वामी करपात्री (२०वीं शताब्दी)

स्वामी करपात्री २०वीं शती के उत्तर भारत के एक मूर्धन्य अद्वैत वेदान्ती थे। उनके अनुयायी उन्हें अभिनव शङ्कर मानते है। उनका सन्यास का नाम हरिहरानन्द सरस्वती था उन्होंने जगद्गुरु शङ्कराचार्य स्वामी ब्रह्मानन्द सरस्वती से सन्यास दीक्षा ली थी। इनका जन्म १९०७ में प्रतापगढ़ जिले के भटनी में पैदा हुये थे। बाध प्रस्थान के ये मुख्य दार्शनिक है। इनके पिता का नाम श्री राम निधि ओझा था। गृहस्थाश्रम का नाम हरनारायण ओझा था। १७ वर्ष की आयु में वैराग्य वृत्ति अपनायी। करपात्री ने पं० जीवनदत्त से व्याकरण आदि का और स्वामी विश्वेश्वराश्रम से दर्शनशास्त्र और वेदान्त का अध्ययन किया। १९३१ में जगद्गुरु शङ्कराचार्य ब्रह्मानन्द सरस्वती से दण्ड ग्रहण

षष्ठ–अध्याय

मुख्य सिद्धान्तों का तुलनात्मक अध्ययन

शङ्कराचार्य द्वारा प्रतिपादित मुख्य सिद्धान्त अद्वैत वेदान्त है अर्थात् अद्वैत से तात्पर्य है जिसमें किसी प्रकार का द्वैत न हो। आचार्य शङ्कर का पूरा दर्शन संक्षिप्त रूप से इस श्लोक से स्पष्ट हो जाता है–

श्लोकार्द्धेन प्रवक्ष्यामि युदुक्तं ग्रन्थकोटिभिः।

ब्रह्मसत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नाऽपरः।।[1]

अर्थात् शङ्कर ने कहा ब्रह्म ही एकमात्र सत् है जगत् मिथ्या है जीव और ब्रह्म भिन्न नहीं, एक ही है। 'नेह नानास्ति किञ्चन जगत्' अर्थात् इस प्रकार नानाविध जगत् की व्यवहारिक सत्ता है यह परमार्थिक दृष्टि से असत् है। परमार्थिक दृष्टि से एकमात्र ब्रह्म ही परम् सत् है और कुछ नहीं।

इस अद्वैतवाद के मुख्य प्रतिपाद्य विषय को शङ्कराचार्योत्तर अद्वैत वेदान्त के आचार्यो ने भी अपने–अपने दृष्टिकोण से स्वीकार किया और इसका विश्लेषण कर इस सिद्धान्त को आगे बढ़ाया।

शङ्कराचार्य के चार शिष्य थे। सुरेश्वराचार्य पद्मपाद, हस्तामलक, त्रोटक। इसमें से सुरेश्वराचार्य और पद्मपाद विशेष रूप से प्रसिद्ध है। आचार्य शंकर द्वारा प्रतिपादित अद्वैत के विकास में उनके शिष्यों–प्रशिष्यों में सुरेश्वराचार्य, पद्मपाद प्रकाशात्मायति, सर्वज्ञात्ममुनि, और वाचस्पति मिश्र का महत्वपूर्ण योगदान है। इन आचार्यो का आविर्भाव ८वीं ९वीं ई० में हुआ था जिसके कारण आठवीं नवीं शती का काल यदि अद्वैतवेदान्त का स्वर्ण काल कहा जाय तो अतिशयोक्ति न होगी। इन दार्शनिकों ने शाङ्कर भाष्य में प्रतिपादित अध्यास, मिथ्यात्व, अविद्या का भावरूपत्व,

---

[1] इस श्लोक की दूसरी पंक्ति ब्रह्मज्ञानावली माला के श्लोक २० की प्रथम पंक्ति है।

जीव ब्रह्म सम्बन्ध, जीव स्वरूप अविद्यानिवृत्ति आदि विषयों पर अद्वैत विरोधी मतों का युक्तियुक्त प्रत्याख्यान करके स्वसिद्धान्तों की स्पष्ट व्याख्या की है।

शङ्करोत्तर अद्वैतवेदान्त के इन आचार्यो ने अपनी तर्कपूर्ण पैनी युक्तियों से एक ओर बौद्ध और न्याय के दार्शनिकों द्वारा लगाये गये आक्षेपो तथा आपत्तियों का प्रत्युत्तर प्रस्तुत किया तो दूसरी ओर विशिष्टाद्वैती रामानुज मध्वादि वैष्णव दार्शनिकों के द्वैतवाद से युक्त युक्तियों का भी तर्कतः निराकरण किया।

आचार्य शङ्कर के बाद अद्वैत वेदान्त में कई प्रस्थानों का आविर्भाव हुआ जैसे– विवरण प्रस्थान, भामती प्रस्थान, वार्तिक प्रस्थान आदि इन प्रस्थानों के अतिरिक्त बाध प्रस्थान का विकास हुआ जो नव्य अद्वैत वेदान्त को सुदृढ कर रहा है। इसके अतिरिक्त प्रारम्भिक प्रस्थान के ग्रन्थों एवं साहित्यों का भी अद्वैत वेदान्त के विकास में महत्वपूर्ण योगदान है।

शङ्करोत्तर प्रमुख आचार्यो में शङ्कर के शारीरक भाष्य पर वाचस्पति मिश्र की प्रसिद्ध 'भामती टीका' के नाम से 'भामती प्रस्थान' प्रचलित हुआ और पद्मपाद की 'पंचपादिका' पर प्रकाशात्मयति का 'पंचपादिका विवरण–टीका' के नाम से 'विवरण प्रस्थान' ये दो प्रस्थान अद्वैत वेदान्त के प्रामाणिक सम्प्रदाय के रुप में प्रसिद्ध है। इसी प्रकार ब्रह्मसिद्धि की परम्परा से मण्डन–प्रस्थान के तृतीय प्रस्थान 'वार्तिक प्रस्थान' का भी कम महत्व नहीं है। वार्तिक प्रस्थान का एक प्रधान ग्रन्थ सर्वाज्ञात्म मुनि रचित 'संक्षेप शारीरक' है। सर्वाज्ञात्म मुनि सुरेश्वराचार्य के प्रधान शिष्य थे।

विवरण–टीका का गाम्भीर्य एवं महत्व सभी परवर्ती अद्वैतवादी स्वीकार करते है। इसको परवर्ती अद्वैताचार्यो ने अपनी व्याख्या के लिये मूलाधार के रूप में माना है। यहां तक कि परवर्ती आचार्यो के टीकाग्रन्थों में भी विवरण का उल्लेख किसी न किसी प्रकार से रहता ही है। इसमें सन्देह नहीं कि विवरण का गाम्भीर्य एवं उसकी

युक्ति–युक्त तर्कों की संगति को देखकर विवरणोत्तर प्रायः सभी अद्वैताचार्य इससे अत्यन्त प्रभावित है। विवरण सम्प्रदाय के अग्रणी आचार्यो के नाम इस प्रकार है– तत्वदीपनकार अखण्डानन्द, आनंदपूर्ण विद्यासागर, भावप्रकाशिकाकार नृसिंहाश्रम ऋजुविवरणकार सर्वज्ञ विष्णुभट्ट, तात्पर्य दीपिकाकार चित्सुखाचार्य यज्ञेश्वरदीक्षित, विवरण प्रमेय संग्रहकार विद्यारण्यस्वामी आदि। किन्तु इसमें सन्देह भी नहीं कि इनका अपना–अपना मत और अपना वैशिष्ट्य भी है।

विवरण सम्प्रदाय की एक और महत्वपूर्ण विशेषता है कि विवरण सम्प्रदाय में आचार्य शंकर से लेकर आज तक जितने भी लेखक और टीकाकार जुड़े वे सभी प्रायः गृहत्यागी–सन्यासी थे। संभवतः यहीं कारण है कि आज भी, जहां भी वेदान्त का अध्ययन–अध्यापन–लेखन होता है वे सभी स्थान अधिकांशतः आश्रम या मठ है। साधु–सन्यासियों ने अपने वेदान्त अध्ययन में विवरण को ही अनुकरणीय मानते है। विवरण सम्प्रदाय में ब्रह्मसूत्र शारीरक भाष्य, पंचपादिका पर गंभीर अध्ययन होता है। विवरण दण्डी सन्यासियों की आध्यात्मिक पिपासा को शान्त करता है यह अद्वैत सिद्धान्त का प्रमुख दर्पण है। प्रकाशात्मयति, अखण्डानन्द, विद्यारण्य आदि सभी सन्यासी थे इसके विपरीत भामती प्रस्थान के प्रणेता स्वयं वाचस्पति मिश्र गृहस्थ थे और इसलिये उनके अनुयायी भी अधिकांशतः गृहस्थ थे किन्तु अमलानन्द भामती प्रस्थान में एक सन्यासी है जो कि इस प्रस्थान के अपवाद है।

मण्डन मिश्र के दार्शनिक विचारों का अध्ययन करने पर तथा विवरण प्रस्थान का सूक्ष्म अवलोकन करने पर दोनों प्रस्थानों में निम्न अन्तर परिलक्षित होता है–

१. जैसा कि स्पष्ट है कि विवरण प्रस्थान के आचार्य शब्दापरोक्षवादी है क्योंकि वे वेदान्त जन्य ज्ञान से ही ब्रह्मसाक्षात्कार मानते है जैसा कि शङ्कराचार्य ने भी माना था। किन्तु इसके विपरीत मण्डनमिश्र एवं उनके अनुयायी वाचस्पति शब्द जन्य ज्ञान

को परोक्ष ज्ञान मानते है और उनके अनुसार ब्रह्म साक्षात्कार के लिये उपासनादि भी प्रमुख साधन है।

२. ख्यातिवाद के सिद्धान्त में भी विवरणकार शाङ्कर मत का अनुसरण करते है और भ्रमस्थल में अनिर्वचनीय ख्याति को स्वीकार करते है। परन्तु मण्डन प्रस्थान भ्रम स्थलीय ज्ञान की व्याख्या के लिये विपरीत ख्याति को स्वीकार करता है।

३. अविद्या को भी लेकर दोनों प्रस्थानों में मतभेद है– विवरण प्रस्थान जहां अविद्या को एक मानता है वहां मण्डन मिश्र के अनुसार अविद्या दो प्रकार की होती है– १. अग्रहण अविद्या २. अन्यथाग्रहण अविद्या।

विवरण प्रस्थान अविद्या का आश्रय और विषय (दोनों ही) ब्रह्म को मानता है किन्तु मण्डन मिश्र एवं भामती प्रस्थान के अनुसार अविद्या का आश्रय जीव है और विषय ब्रह्म है।

४. विवरण प्रस्थान और भामती प्रस्थान ब्रह्मद्वैतवादी है। मण्डन प्रस्थान भावाद्वैतवादी है। जिसके अनुसार अविद्या निवृत्ति ब्रह्मातिरिक्त है अर्थात् अभावतत्त्व के होने से भावाद्वैत के अद्वैततत्त्व की हानि नहीं होती है, क्योंकि ब्रह्म ही एकमात्र और अद्वितीय भाव–तत्त्व (सत्) है।

५. मण्डन मिश्र शब्द ब्रह्मवाद और स्फोटवाद दोनों स्वीकार करते है किन्तु विवरण प्रस्थान और भामती प्रस्थान दोनों ही इसका खण्डन करते है।

६. मण्डन मिश्र जीवनमुक्ति को नहीं मानते हैं किन्तु विवरण प्रस्थान जीवन मुक्ति के साथ विदेह मुक्ति भी स्वीकार करते है। स्वामी विद्यारण्य ने तो 'जीवनमुक्ति विवेक' नामक ग्रन्थ लिखकर जीवनमुक्ति के स्वरुप, साधन, कारण तथा प्रयोजन का मुमुक्षु उपयोगी विवेचन किया है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि विवरण–प्रस्थान के मूल संस्थापक पद्मपाद का मुख्य लक्ष्य शाङ्कर अद्वैत वेदान्त को मण्डन मिश्र के अद्वैतवाद से भिन्न करना था तथा इसमें उनको और अनुवायियों को पर्याप्त सफलता भी मिली।

वाचस्पति मिश्र ने पद्मपाद की पञ्चपादिका का कहीं–कहीं खण्डन किया है। अमलानन्द सरस्वती ने इस खण्डन को और उजागर किया है और वे एक स्थान पर कहते है–

पञ्चपादीकृतस्तु वाजसनेयिवक्यस्यापि आत्मोपक्रमत्वलाभे
किं शास्त्रानंतरालोचनयेति पश्यन्तः पुरुषनूद्य वैश्वानरत्वं
विधेयमिति व्याचक्षते, तद् दूषयति। (कल्पतरु १.२.२६)

वस्तुतः प्रकाशात्मा ने विवरण में भामती का प्रबल खण्डन किया है विवरण प्रस्थान के अनुवायी अनुभूति स्वरूप ने प्रकटार्थ–विवरण में वाचस्पति के ऊपर अनेकों आक्षेप लगाये। यथा– विवरण प्रस्थान का आक्षेप है कि वाचस्पति मण्डन पृष्ठ सेवी है और सूत्र तथा भाष्य के अर्थ से अनभिज्ञ है। वाचस्पति मिश्र अन्यथाख्याति को मानते है जब कि अद्वैतवेदान्त में अनिर्वचनीय ख्यातिवाद को माना जाता है।

शङ्कर और वाचस्पति

वाचस्पति मिश्र की 'भामती' ने निःसन्देह शङ्कर के शारीरक भाष्य की रक्षा की है विशेषतः उन दर्शनों से जिसका खण्डन स्वयं शङ्कराचार्य ने तर्कपाद में किया था। भामती ने अन्य विरोधी दर्शनों द्वारा लगाये गये प्रतिवादों का निराकरण किया। फिर भी दोनों के दर्शनों का अध्ययन करने पर शङ्कर और वाचस्पति के मतों में कुछ अन्तर अवश्य दिखाई देता है। इस अन्तर को सर्वप्रथम अमलानन्द ने इस प्रकार प्रकट किया है–

स्वशक्त्या नटवद् ब्रह्मकारणं शङ्करोऽब्रवीत।

जीवभ्रान्तिनिर्मितं तद् वभासे भामती पति।।

अज्ञातं नटवद् ब्रह्म कारणं शंङ्करोऽब्रवीत्।

जीवाज्ञानं जगद्बीजं जगौवाचस्पतिस्तथा।। (कल्पतरु पृ० ४७१)

शङ्कराचार्य ने माना कि स्वशक्ति से ब्रह्म जगत् का 'अभिन्ननिमित्तोपादान' कारण है। किन्तु वाचस्पति मिश्र ने माना कि जो ब्रह्म जगत् का कारण है वह जीव के भ्रम का विषय है। शंकराचार्य ने शांकर भाष्य में स्वीकार किया कि जगत् का कारण रूप ब्रह्म जीवों को अज्ञात है। जबकि वाचस्पति मिश्र ने माना कि जीव का अज्ञान ही जगत् का कारण है। यहाँ यथार्थतः यदि देखा जाय तो शङ्कर–मत और वाचस्पति मत में कोई स्पष्ट अन्तर नहीं दिखाई देता। यह स्पष्ट होता है कि वाचस्पति मिश्र ने केवल शङ्कर के मत का अधिक स्पष्टीकरण कर दिया है। शङ्कर और वाचस्पति दोनों ही मायोपाधिक ब्रह्म को जगत् का अभिन्न निमित्तोपादान कारण मानते है। यथार्थतः शुद्ध ब्रह्म कारण–कार्य से परे है।[1]

वाचस्पति के मत में जीवाश्रित अविद्या से विषयीकृत ब्रह्म जगत् का उपादान कारण है तथा माया सहकारिणी कारण है। जीवाश्रिता विद्या विषयीकृत ब्रह्म ही जगद्–आकार में विर्वतमान होता है। इस प्रकार माया अकारण होते हुये भी जगत का सहकारी कारण है। परन्तु भामती में कई स्थलों पर वाचस्पति मिश्र ने शङ्कराचार्य की आलोचना भी की है। उदाहरणार्थ– ब्रह्मसूत्र १/१/३१ के भाष्य में शंकराचार्य ने त्रिविध ब्रह्मोपासना का वर्णन किया है– प्राणधर्मेण, प्रज्ञाधर्मेण और स्वधर्मेण इसमें वाचस्पति ने कहा– प्राणोपासना विधेय है विधेय के भेद से विधि में वाक्यभेद स्फुट है।

'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' सूत्र में भाष्यकार ने 'अथ्' का अर्थ 'आनन्तर्य' किया है किन्तु वाचस्पति मिश्र ऐसा नहीं मानते हैं वे कहते हैं– 'न वयम् आनन्तर्यार्थतां

---

[1] गंगाधरेन्द्र सरस्वती ने वेदान्त सूक्त मंजरी में वाचस्पति मिश्र के मत को इस प्रकार व्यक्त किया है–
ब्रह्मैवजीवाश्रितयाऽविद्यया विषयीकृतम्। वाचस्पतिमते हेतुर्माया तु सहकारिणी ।।

व्यसनितया रचयामहे, किन्तु ब्रह्म जिज्ञासा हेतु भूतपूर्व प्रकृत सिद्धये। न तावत् यस्य कस्याचिद् अत्र आनन्तर्यमिति वक्तव्यं, तस्य अभिधानमन्त रेणाऽपि प्राप्तत्वात्।' अर्थात् ब्रह्मजिज्ञासा जिसके अनन्तर उत्पन्न होने वाली कही जाती है उसके बिना भी संभव है उसका कोई नियतपूर्ववर्ती हेतु नहीं है, ऐसा वाचस्पति मानते है। परन्तु भाष्यकार उसके नियत पूर्ववर्ती हेतुओं को स्वाध्याय तथा साधनचतुष्टय के रूप में बताते है। इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि वाचस्पति ने शङ्कराचार्य के मतों की समालोचना निष्पक्षता पूर्वक की है। वे अपनी आलोचनाओं के द्वारा ही अद्वैतवेदान्त का विकास करने में सफल हुये है। निःसन्देह वे एक महान् समीक्षक थे उनकी समीक्षा पद्धति अनुसन्धेय है।

भामती प्रस्थान और विवरण प्रस्थान का तुलनात्मक अध्ययन

भामती प्रस्थान और विवरण प्रस्थान कुछ बिन्दुओं को लेकर अपने अलग–अलग दृष्टिकोण रखते है। इन प्रस्थानों में, प्रायः तुलनात्मक दृष्टि से देखने पर मुख्य भेद दिखाई देते हैं– जो निम्न है–[1]

भामती प्रस्थान	विवरण प्रस्थान
१. श्रवण में कोई विधि नहीं है।	१. श्रवण में नियम विधि है।
२. जीवाश्रित अविद्या का विषय ब्रह्म जगत् का कारण है।	२. ईश्वर जगत् का कारण है।
३. जीव ब्रह्म का अवच्छेद है।	३. जीव ईश्वर का प्रतिबिम्ब है।
४. अविद्या का आश्रय जीव तथा विषय ब्रह्म है।	४. अविद्या का आश्रय और विषय दोनों ब्रह्म है।
५. मन एक इन्द्रिय है।	५. मन इन्द्रिय नहीं है।
६. श्रवण–मनन और निदिध्यासन से	६. महावाक्य से आत्मसाक्षात्कार होता

[1] पं० बल्देव उपाध्याय– संस्कृत वाङ्गमय का वृहद इतिहास, दशमखण्ड वेदान्त– पृ० ६३

संस्कृत मन से आत्मसाक्षात्कार होता है। शब्द से केवल परोक्ष ज्ञान होता है।	है शब्द से अपरोक्ष ज्ञान होता है। यह मत शब्द परोक्षवाद है।
७. अविद्या अनेक है वह प्रतिजीव भिन्न है।	७. अविद्या एक है।
८. जीव अनेक है। नाना जीववाद है।	८. जीव एक है। एक जीववाद है।
६. ईश्वर अनेक है।	६. ईश्वर एक है। वह बिम्बभूत है।
१०. ईश्वर कल्पित है 'मायिनं तु महेश्वरम्' (श्वेताश्वतर)	१०. ईश्वर परम सत् है।
११. याग आदि कर्म विविदिषा के साधन है ज्ञान नहीं।	११. याग आदि कर्म ज्ञान के साधन है,
१२. सन्यास में ज्ञान की अंगता अदृष्ट के द्वारा है।	१२. सन्यास में ज्ञान की अंगता दृष्ट द्वारा है।
१३. सभी श्रुतियां प्रत्यक्ष से बलवान नहीं है किन्तु तात्पर्यवती श्रुति प्रत्यक्ष से बलवान् है जो अन्य श्रुतियां है वे अर्थवाद मात्र है।	१३. तात्पर्यवती श्रुतियाँ भी प्रत्यक्ष से बलवान नही हैं उनका अर्थ लक्षणा द्वारा ही किया जाता है।
१४. दृष्टि– सृष्टिवाद द्वारा जगत की व्याख्या की जाती है।	१४. सृष्टिदृष्टिवाद द्वारा जगत् की व्याख्या की जाती है।
१५. निवृत्तकरण प्रक्रिया मान्य है इससे स्पष्ट है कि पञ्चीकरण नामक ग्रन्थ वाचस्पति के विवरण मत से आचार्य शङ्कर कृत नहीं है।	१५. पंचीकरण प्रक्रिया मान्य है इस मत को वार्तिक प्रस्थान की भाँति विवरण प्रस्थान भी मानता है।

अविद्या या माया

माया, अविद्या, अज्ञान, अध्यास, आरोप, विवर्त, भ्रान्ति, भ्रम, सदसदनिर्वचनीयता

आदि शब्दों का प्रयोग वेदान्त में प्रायः पर्यायों के रुप में किया जाता है।

भाष्यकार ने माया शक्ति को "अविद्यात्मिका" कहकर माया और अविद्या में अभेद बतलाया है। इसी अविद्या सिद्धान्त के आधार पर ही अद्वैताचार्य जगत्सृष्टि की व्याख्या प्रस्तुत करते है।

किन्तु शङ्करोत्तर अद्वैतवेदान्त दर्शन में माया और अविद्या को लेकर दृष्टिकोण भिन्न–भिन्न है। मण्डन मिश्र जीव को अविद्या का आश्रय और ब्रह्म को अविद्या का विषय मानते है। वे दृष्टि–सृष्टिवाद के पोषक हैं। विशुद्ध विज्ञान स्वरूप ब्रह्म अविद्या का आश्रय नहीं हो सकता है जीव ही अविद्या का आश्रय है, यद्यपि जीव स्वयं अविद्या का कार्य है। अविद्या स्वयं सद्सद्निर्वचनीय अतः उसका जीव से सम्बन्ध भी अनिर्वचनीय है। अविद्या का स्वभाव स्वयं विरोधात्मक है। यदि उसमें विरोध न हो तो वह सत् वस्तु बन जायेगी। अविद्या और जीव को बीज और अङ्कुर के समान अन्योन्याश्रित और अनादिचक्रवत् माना गया है। जीवों में अविद्या नैसर्गिक और विद्या आगन्तुक है।[1] अविद्या के आवरण और विक्षेप दो शक्तियों को मण्डन मिश्र दो रूप मानते है।

वाचस्पति मिश्र भी ब्रह्म को 'अविद्या द्वितय सचिव' कहते है।[2] इसका अर्थ है– मूला अविद्या और तूला अविद्या। अविद्या का एक रूप मानसिक मानते है जिसे टीकाकार अमलानन्द ने 'पूर्वापूर्व भ्रमसंस्कार' बताया है। जीव का कारण भ्रमसंस्कार है और इस भ्रम संस्कार का कारण है पूर्वापूर्वभ्रमसंस्कार। इस प्रकार पूर्वापूर्व भ्रम संस्कार की अनादि परम्परा मानसिक अविद्या है। अविद्या का दूसरा रूप वैषयिक मानते है– जो जीव तथा जगत का उपादान कारण है। यह अविद्या, भावरूप, अनादि और सदसद्

---

[1] ब्रह्मसिद्धि– पृ० ६–१२

[2] भामती– मंगलाचरण।

विलक्षण है। अविद्या का विषय ब्रह्म है क्योंकि वह ब्रह्म को आरोपित करके उस पर प्रपञ्च का आरोप करती है। अविद्याद्वितय कहकर वाचस्पति मिश्र ने यह सिद्ध किया है कि अविद्या एक रूप नही है क्योंकि एकरूप केवल ब्रह्म है और अविद्या ब्रह्म से भिन्न है।

मण्डन मिश्र और वाचस्पति मिश्र के इस उपरोक्त कथन से सुरेश्वराचार्य और पद्मपादाचार्य सहमत नहीं है कि अविद्या का आश्रय जीव है या कि अविद्या मानसिक भ्रान्ति है।

सुरेश्वराचार्य और पद्मपादाचार्य का मन्तव्य है कि ब्रह्म ही अविद्या का आश्रय और विषय दोनों है। इनके अनुसार अविद्या का आश्रय जीव नहीं हो सकता क्योंकि वह स्वयं अविद्या जन्य है। अविद्या मानसिक भ्रम नहीं हो सकती क्योंकि वह जीव और जगत दोनों का उपादान कारण है। इस प्रकार वाचस्पति मिश्र के अविद्या सिद्धान्त को अनेक जीवाश्रित ब्रह्मविषयक–अविद्यावाद कहा जाता है। इस मत में एक जीव के मुक्त होने पर संसार का उच्छेद नहीं होता और संसार का उच्छेद न होने से अनिर्मोक्ष प्रसंग नहीं होता है अतएव इनका सिद्धान्त अन्योन्याश्रय दोष से मुक्त है। ये जीव और अविद्या के पारस्परिक सम्बन्ध में आश्रयाश्रयि भाव मानते है और इसके विपरीत ईश्वर और अविद्या में वे विषय–विषयि भाव को स्वीकार करते है।

इस प्रकार शंङ्करोत्तर भी कुछ अद्वैत वेदान्ती अविद्या और माया को एक ही मानते है तथा आवरण और विक्षेप उसकी दो शक्तियां स्वीकार करते है किन्तु कुछ अद्वैत वेदान्ती आवरण शक्ति को अविद्या और विक्षेप शक्ति को 'माया' मानते है। विमुक्तात्मुनि (१२०० ई०) मानते है कि अविद्या का दुर्घटत्व उसका भूषण है, दूषण नहीं है क्योंकि अविद्या किसी प्रकार विरोध मुक्त हो सके तो उसका अविद्यात्त्व ही दुर्घट हो

जायेगा।[1] विघारण्यस्वामी अविद्या का लक्षण 'असाधारण मानयोगाऽसहिष्णुत्व' को बताया है।[2]

चित्सुखाचार्य अज्ञान को अनादि, भावरूप विज्ञाननिरस्य अज्ञान बताया है। चित्सुखाचार्य यह भी कहते है कि अविद्या भावाभावविलक्षण ही है किन्तु उसे उपचार वश उसे भावरूप इसलिये कह दिया जाता है कि वह अभावरूप नहीं है।[3]

अज्ञान के सम्बन्ध में विमुक्तात्मा ने एक अति महत्वपूर्ण सिद्धान्त को जन्म दिया है। विमुक्तात्मा अज्ञान की अनेकरूपता को मानते है उनके अनुसार प्रत्येक विषय में उतने ही अज्ञान हो सकते है जितने रूपों में उस विषय का प्रत्यक्ष संभव होता है विमुक्तात्मा आगे यह भी कहते है कि किसी वस्तु के विषय में उत्पन्न हुआ अज्ञान यदि नष्ट हो जाता है तो इससे मूल अविद्या का उच्छेद नहीं होता, अपितु उसके अंश का ही उच्छेद होता है। संभवतः यही कारण है कि किसी एक वस्तु के विषय में उससे सम्बद्ध अनेक अज्ञान उत्पन्न होते है। यथा' रस्सी में किसी को सर्प का भान होता है तो किसी को दण्ड रूप में या किसी को धारा आदि रूपो में प्रतीत होती है। इस प्रकार विमुक्तात्मा अज्ञान की अनेकरूपता को मानते है।

दृष्टिसृष्टिवादः

दृष्टि सृष्टिवाद अद्वैतवाद का एक महत्वपूर्ण सिद्धान्त है किन्तु इसका विरोधीमत सृष्टि दृष्टिवाद है जिसे विवरण प्रस्थान मानता है। दृष्टि सृष्टिवाद का सम्बन्ध भामती प्रस्थान से है और इसे वाचस्पति मिश्र एक मतवाद का दर्जा प्रदान किया। यद्यपि दृष्टि सृष्टिवाद का बीज गौड़पाद के आगमशास्त्र तथा योगवसिष्ठ में भी मिलता है। मण्डन मिश्र ने ब्रह्मसिद्धि में जीवाश्रित अविद्या के सिद्धान्त को प्रतिपादित किया और मण्डन

---

[1] दुर्घटत्वम विद्याया भूषणं न तु दूषणम। कथंचिद् घटमानत्वेऽविद्यात्वं दुर्घत भवेत।। इष्टसिद्धि १/१४०

[2] विवरण प्रमेय संग्रह पृ० १७५, विचारासहत्व चाविद्याया अलकार एव।

[3] अनादि भावरुप यद् विज्ञानेन विलीयते। तदज्ञानमिति प्राज्ञा लक्षण सप्रचक्षते।। तत्वपदीपिका– पृ० ५७

मिश्र से प्रभावित होकर वाचस्पति मिश्र ने दृष्टि सृष्टिवाद का विकास किया। वाचस्पति मिश्र के समय में ही अनेक जीवाश्रित भिन्नावरण शक्तिक एक अविद्यावाद का प्रचलन हो चुका था जिसके अनुसार जीव अनेक है और वे ही अविद्या के आश्रय है।

वाचस्पति मिश्र ने इस प्रसंग में अनेक जीवाश्रित अनेक–अविद्यावाद को अग्रसर किया। ये अविद्या के दो रुप मानते है– (१) मूला अविद्या– जो वासनामय है और कारण रूप है और (२) तूला अविद्या जो कार्य प्रपञ्च रुप है। दोनों प्रकार की अविद्या अनेक है अर्थात् प्रतिजीव भिन्न है। परवर्ती अद्वैत वेदान्तियों ने वाचस्पति के इस मत पर न्याय का प्रभाव दिखलाया है क्योंकि वेदान्त में 'सामान्य' को स्वीकार नहीं किया जाता है।

अमलानन्द (१३वीं शताब्दी) भी दृष्टि सृष्टिवाद सिद्धान्त के समर्थक है। इस सिद्धान्त के अनुसार समस्त प्रपञ्च शून्य ब्रह्म की अवगति के उपाय के रूप में ही श्रुतियों में सृष्टि और प्रलय का विवेचन किया गया है। किन्तु ध्यातव्य है कि श्रुतियां में सृष्टि का प्रतिपादन परमार्थिक रूप से नहीं किया गया है। जहां आरोप न्याय के द्वारा यदि प्रतिपादन हुआ है तो वहां अपवाद न्याय के द्वारा उसका खण्डन भी हुआ है। इस प्रकार दृष्टि सृष्टिवाद सृष्टि को तात्विक न मानकर दृष्टिकालिक ही मानता है।

अन्ततः जीवाश्रित अविद्या का सिद्धान्त प्रकाशानन्द के दर्शन में एक जीवाश्रित एक अविद्यावाद का रूप लिया यह वेदान्त सिद्धान्त मुक्तावली के लेखक है। उन्होंने एकजीववाद और दृष्टि सृष्टिवाद को एक साथ जोड़ दिया। उनका दृष्टि सृष्टिवाद दृष्टि ही सृष्टि है ऐसा मानता है। इसके पहले के दृष्टिसृष्टिवाद यह मानते थे कि सृष्टि–दृष्टि सम–सामयिक है और दृष्टि ही सृष्टि नहीं है इस प्रकार वाचस्पति मिश्र एक प्रत्ययवादी दार्शनिक सिद्ध होते है। किन्तु वे बर्कले के "सत्ता ही दृश्यता है" (दृष्टि ही सत्ता है) को नहीं मानते थे किन्तु प्रकाशानन्द का सिद्धान्त बर्कले के सिद्धान्त के

मिश्र से प्रभावित होकर वाचस्पति मिश्र ने दृष्टि सृष्टिवाद का विकास किया। वाचस्पति मिश्र के समय में ही अनेक जीवाश्रित भिन्नावरण शक्तिक एक अविद्यावाद का प्रचलन हो चुका था जिसके अनुसार जीव अनेक है और वे ही अविद्या के आश्रय है।

वाचस्पति मिश्र ने इस प्रसंग में अनेक जीवाश्रित अनेक–अविद्यावाद को अग्रसर किया। ये अविद्या के दो रुप मानते है– (१) मूला अविद्या– जो वासनामय है और कारण रूप है और (२) तूला अविद्या जो कार्य प्रपञ्च रुप है। दोनों प्रकार की अविद्या अनेक है अर्थात् प्रतिजीव भिन्न है। परवर्ती अद्वैत वेदान्तियों ने वाचस्पति के इस मत पर न्याय का प्रभाव दिखलाया है क्योंकि वेदान्त में 'सामान्य' को स्वीकार नहीं किया जाता है।

अमलानन्द (१३वीं शताब्दी) भी दृष्टि सृष्टिवाद सिद्धान्त के समर्थक है। इस सिद्धान्त के अनुसार समस्त प्रपञ्च शून्य ब्रह्म की अवगति के उपाय के रूप में ही श्रुतियों में सृष्टि और प्रलय का विवेचन किया गया है। किन्तु ध्यातव्य है कि श्रुतियां में सृष्टि का प्रतिपादन परमार्थिक रूप से नहीं किया गया है। जहां आरोप न्याय के द्वारा यदि प्रतिपादन हुआ है तो वहां अपवाद न्याय के द्वारा उसका खण्डन भी हुआ है। इस प्रकार दृष्टि सृष्टिवाद सृष्टि को तात्विक न मानकर दृष्टिकालिक ही मानता है।

अन्ततः जीवाश्रित अविद्या का सिद्धान्त प्रकाशानन्द के दर्शन में एक जीवाश्रित एक अविद्यावाद का रूप लिया यह वेदान्त सिद्धान्त मुक्तावली के लेखक है। उन्होंने एकजीववाद और दृष्टि सृष्टिवाद को एक साथ जोड दिया। उनका दृष्टि सृष्टिवाद दृष्टि ही सृष्टि है ऐसा मानता है। इसके पहले के दृष्टिसृष्टिवाद यह मानते थे कि सृष्टि–दृष्टि सम–सामयिक है और दृष्टि ही सृष्टि नहीं है इस प्रकार वाचस्पति मिश्र एक प्रत्ययवादी दार्शनिक सिद्ध होते है। किन्तु वे बर्कले के "सत्ता ही दृश्यता है" (दृष्टि ही सत्ता है) को नहीं मानते थे किन्तु प्रकाशानन्द का सिद्धान्त बर्कले के सिद्धान्त के

ही समान है, क्योंकि दृष्टि ही सृष्टि है, ऐसा वे मानते है। ब्रह्माश्रित अविद्या के मत को सर्वाज्ञात्मामुनि ने एकचिदाश्रित एक अज्ञानवाद के रूप में परिणत किया। जो कि प्रकाशानन्द के एकजीववाद एक अविद्यावाद के सदृश है।

इस प्रकार यद्यपि दृष्टि सृष्टिवाद और सृष्टि दृष्टिवाद में तथा नानाजीववाद और एक जीववाद में परस्पर द्वन्द्व है फिर भी इन दोनों पक्षों की परिणति अन्ततोगत्वा एक ही सिद्धान्त में हो जाती है दोनों ही एक जीववाद और अजातवाद को (मायावाद को) अक्षरशः स्वीकार करते है। अतः अद्वैतवेदान्त का मुख्य सिद्धान्त एक जीववाद ही है, नानाजीववाद नहीं। ऐसा निष्कर्ष अनेक आचार्यो ने अपने–अपने ग्रन्थों में दिया है।

पारेणामवा - और विवर्तवाद

शांङ्कर अद्वैत वेदान्त की यह स्पष्ट विचारधारा है कि यह जगत मिथ्या है प्रपंच मात्र है और यह ब्रह्म का विवर्त है। शाङ्कर मत में इसे माया का परिणाम भी माना गया है। धर्मराजाध्वरीन्द्र ने– "उपादान विषम सत्ताक कार्यापत्ति" को विवर्त कहा है। अप्पय दीक्षित ने उपादान कारण के समान धर्मो के अन्यथाभाव को परिणाम और उसके विलक्षण अन्यथाभाव को विवर्त कहा है।[1] सीधे अर्थ में विलक्षण भाव को विवर्त कहा जा सकता है। यथा– रज्जु में सर्प की प्रतीति विवर्त है। कारण गुणों को लेते हुये परिवर्तन को परिणाम कहा जाता है। यथा दूध से दधि का बनना परिणाम है। जिसे बाद में विशिष्टाद्वैतवादी रामानुज ने स्वीकार किया इनके अनुसार सृष्टि ईश्वर का परिणाम है।

शब्दापरोक्षवाद और अविद्यानिवृत्ति

"तत्वमसि" आदि महावाक्यों द्वारा अथवा "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" इत्यादि वाक्यों

---

[1] सिद्धान्तलेश संग्रह पृ० ५८–६०

द्वारा ब्रह्म साक्षात्कार हो जाता है। ऐसा विवरण सम्प्रदाय का मत है। अर्थात् वेदान्तवाक्य जन्य अपरोक्ष ज्ञान से ही अज्ञान के नाश होने पर ही अनर्थो से मुक्ति संभव है।

भामतीप्रस्थान वेदान्त वाक्य जन्यज्ञान को अपरोक्ष ज्ञान नहीं स्वीकार करता। उनके अनुसार "तत्वमसि" आदि वेदान्तवाक्यजन्य ज्ञान शब्दज्ञान है और शब्दज्ञान परोक्षज्ञान होता है। वेदान्तवाक्य श्रवण के अनन्तर कर्म और उपासना की सहकारिता से अविद्यानिवृत्ति होती है।

विवरण प्रस्थान के अनुसार शब्द से ही अपरोक्ष ज्ञान होता है। वह "दशमस्त्वमसि" वाक्य से खोया हुआ दशम व्यक्ति के अपरोक्ष का उदाहरण प्रस्तुत करते है।

शब्दापरोक्षवाद के पक्ष में विवरण सम्प्रदायाचार्यो ने अनुमानादि प्रमाण भी प्रस्तुत किये है[1] किन्तु भामती प्रस्थान के आचार्यो ने शब्दापरोक्षवाद का प्रत्याख्यान करते हुये विवरण सम्प्रदाय द्वारा प्रस्तुत अनुमान में दोषों का प्रदर्शन किया है। परन्तु विवरणपन्थी आचार्य चित्सुख ने अनेक युक्तियों और तर्कों से उन दोषों का निराकरण किया है। उनका कहना है कि "दशमस्त्वमसि" कहने पर यहां तक अपरोक्ष ज्ञान होता है कि अन्ध व्यक्ति को भी सुनते ही दशम व्यक्ति के रूप में अपना साक्षात्कार हो जाता है।

सुरेश्वर का अद्वैतवाद और शङ्कराचार्य का अद्वैतवाद

आचार्य सुरेश्वर का अद्वैत–विषयक सिद्धान्त भगवत्पाद शङ्कर के सिद्धान्तों से भिन्न रहा है। शङ्कर के मत में आत्मदर्शन के तीन साधन है– श्रवण, मनन, निदिध्यासन। जैसा कि बृहदारण्यकोपनिषद् में याज्ञवल्क्य ने अपनी पत्नी मैत्रेयी से कहा है– 'आत्मावाऽरे द्रष्टव्यः श्रोतब्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो मैत्रेयि।'

---

[1] विमतं शाब्दज्ञानम् अपरोक्षम्, अपरोक्षविषयात्वात् सुखज्ञानवत् (चित्सुखी, पृ० ३३३)

इन तीनों साधनों के पूर्वापर के सम्बन्ध में आचार्यों में मतभेद है। वाचस्पतिमिश्र मानते है कि श्रवण, मनन, निदिध्यासन इसी क्रम से ब्रह्मसाक्षात्कार का हेतु है। विवरण प्रस्थान मानता है कि ब्रह्मसाक्षात्कार का साधन केवल श्रुतिवाक्य का श्रवण है। श्रवण प्रधानकारण है तथा मनन तथा निदिध्यासन गौण कारण है तथा परम्परया हेतु है।

शाङ्करमत में केवल ज्ञान को ही ब्रह्मसाक्षात्कार का हेतु माना गया है। किन्तु कुछ आचार्यो ने जैसे ब्रह्मदत्त तथा मण्डन मिश्र ने कर्मसमुच्चित ज्ञान को ब्रह्मसाक्षात्कार का कारण माना है। इसको अभ्यास तथा प्रसंख्यान कहते है। 'प्रसंख्यान' से तात्पर्य है उपासना, आराधना या अभ्यास करना है।

साक्षी या प्रमाता

साक्षी अद्वैत वेदान्त का एक विशिष्ट तत्त्व है जो आत्मा या ब्रह्म, ईश्वर और जीव इन तीनों से भिन्न है। साक्षी परब्रह्म के समान निर्गुण, निर्विशेष और नित्य चैतन्य है जो स्वतः सिद्ध और स्वप्रकाश है। विशुद्ध आत्म–तत्त्व के सदृश ही यह साक्षी समस्त ज्ञान और अनुभव का अधिष्ठान है। परब्रह्म या आत्म–तत्त्व निरुपाधिक है, किन्तु साक्षी सोपाधिक है। यद्यपि वह किसी भी प्रकार की उपाधि से लिप्त नहीं होता है फिर भी वह सोपाधिक है। साक्षी जीव और ईश्वर में अभिव्यक्त होता है। प्रत्येक जीव में उसका साक्षी विद्यमान रहता है। साक्षी शुद्ध नित्य चैतन्य और निर्गुण, निर्विकार द्रष्टा है,[1] जबकि जीव कर्ता और भोक्ता है। जीव और साक्षी का अन्तर मुण्डकोपनिषद् में बताया गया है कि दो पक्षी साथ–साथ सखा भाव से एक ही वृक्ष पर रहते है उसमें से एक स्वादु फल को चाव से खाता है किन्तु दूसरा बिना खाये केवल देखता रहता है।[2] वह उपनिषद् वाक्य जीव और साक्षी का अन्तर स्पष्ट करता है।

---

[1] साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च (श्वेता० उप०)

[2] द्वा सुपर्णा सुयजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति अनश्नन्न्योऽभिचाकशीति।। (मुण्डको० ३/१/१)

साक्षी के विषय में भी शंङ्करोत्तर अद्वैतियों में मतभेद है। कुछ विद्वान् प्रति शरीर में भिन्न साक्षी को मानते है कुछ विद्वान सब शरीरों में एक ही साक्षी स्वीकार करते है। कुछ विद्वान साक्षी को जीव साक्षी और 'ईश्वर साक्षी' इन द्विविध रूपो में मानते है।

आचार्य चित्सुख साक्षी एवं प्रमाता में विभेद मानते है वे साक्षी को स्वतंत्र एवं द्रष्टा मात्र मानते है इसके विपरीत प्रमाता, आचार्य चित्सुख के अनुसार ज्ञाता है तथा ज्ञान के साधनों के कार्य के अधीन है।[1]

यह कहा जा सकता है कि व्यवहारतः ब्रह्म, ईश्वर, साक्षी और जीव में ही भेद दिखाई यह परमार्थतः भेद नहीं है। परमार्थिक दृष्टिकोण से सब 'परब्रह्म' ही है।

ईश्वर और जीव

अद्वैत वेदान्त की मान्यता है कि ईश्वर और जीव दोनों ब्रह्म ही हैं माया या अविद्या के कारण ब्रह्म की प्रतीति ईश्वर और जीवों के रूप में होती है और ईश्वर की प्रतीति भी जीव की दृष्टि से ही है। शाङ्कर वेदान्त में ईश्वर और जीव अभिन्न है भेद केवल व्यवहारिक है परमार्थिक नहीं। परमार्थतः– 'जीवों ब्रह्मैव नाऽपरः।' ईश्वर में माया या अविद्या की आवरण शक्ति या अज्ञान का सर्वथा अभाव है, जीव माया या अविद्या की आवरण और विक्षेप दोनों शक्तियों से सम्बद्ध है। जीव की उपाधि औपचारिक है वह वस्तुतः ब्रह्म ही है। जीव का जीवत्व अविद्याजन्य भ्रान्ति है जीव का बन्धन और मोक्ष व्यवहारिक है परमार्थिक नहीं।

यद्यपि शंङ्करोत्तर अद्वैतवेदान्तियों में ईश्वर और जीव के विषय में मतभेद है जो प्रतिबिम्बवाद, एकबिम्बवाद, अवच्छेदवाद तथा आभासवाद के रूप में प्रतिपादित हुये है। आभासवाद सिद्धान्त के प्रतिपादक सुरेश्वराचार्य है। वाचस्पति मिश्र ने अद्वैतवाद का

---

[1] तत्व प्रदीपिका (चतुर्थ परिच्छेद), पृ० ३८१–३८२ एवं इस पर देखिये नयन प्रसादिनी टीका (निर्णय सागर, बम्बई १९३१)

प्रतिपादन अवच्छेदवाद के आधार पर किया है तथा प्रतिबिम्बवाद का प्रतिपादन पद्मपाद ने किया। संक्षिप्त रूप में यह है कि—एक सूर्य या चन्द्र का जलाशयों में या विविध जल पात्रों में पड़ने वाला प्रतिबिम्ब प्रतिबिम्बवाद का उदाहरण है। महाकाश और घटाकाश का उदाहरण अवच्छेदवाद का है जल और तरंगे तथा रज्जुसर्प, शुक्तिरजतादि आभासवाद के उदाहरण है। ब्रह्म का माया में प्रतिबिम्ब ही ईश्वर कहा जाता है और अविद्या का अन्तःकरण में प्रतिबिम्ब जीव है। मायावच्छिन्न ब्रह्म ईश्वर है और अविद्या या अन्तःकरणवच्छिन्न ब्रह्म जीव है।

जीव और ईश्वर के सम्बन्ध में शङ्कराचार्य का कोई एक निश्चत मत नहीं है उनके मत से दोनों अविद्योपाधिक और काल्पनिक है। उनके मत में प्रतिबिम्बवाद अवच्छेदवाद और आभासवाद के बीज है जिनका विकास परवर्ती अनुवायियों ने किया।

इन तीनों वादों के मूल ब्रह्मसूत्र– अतएव चोपमा सूर्यादिवत् (ब्र० सू० ३/२/१८) अम्बुग्रहणात्तु न तथात्वम् (वही ३/२/१६) बृद्धिह्रासभाक्त्वमन्तर्भावादुभयसामञ्जस्यदेवम् (वही ३/२/२०) में तथा उनके शाङ्कर भाष्य में प्राप्त होते है। प्रकाशादिवन्नैवं परः (वही २/३/४६) तथा आभास एव च (वही २/३/५०) इन दोनों सूत्रों में और इनके शाङ्कर भाष्य में स्पष्ट रूप से उक्त तीनों वादों का निर्देश है। इन तीनों सूत्रों के शाङ्कर भाष्य में कहा गया है कि सौर या चन्द्र का प्रकाश जैसे आकाश में फैलकर विद्यमान है, फिर भी अंगुलि आदि का उपाधि के सम्बन्ध में उस प्रकाश को सीधा तथा टेढ़ा देखा जाता है, अथवा जैसे पानी के पात्र में प्रतिबिम्बित सूर्य कंपते हुये जल के सम्पर्क से कंपता हुआ दिखाई पड़ता है पर वस्तुतः सूर्य कांपता नहीं है अथवा जैसे जल में सूर्य का आभास लक्षित होता है, उसी प्रकार जीव के दुःखी होने पर भी ईश्वर में दुःख का सम्बन्ध नहीं होता। इन तीनों उदाहरणों में पहले में अवच्छेदवाद का संकेत दिया गया है। इन्हीं के आधार पर श्री

वाचस्पति मिश्र ने अवच्छेदवाद का, श्री पद्मपादाचार्य तथा श्री प्रकाशात्मयति ने प्रतिबिम्बवाद का तथा आचार्य सुरेश्वर ने आभासवाद का समर्थन किया है।

'आभास' शब्द का अर्थ ब्रह्मसूत्र अध्यास भाष्य में तथा इसकी व्याख्या 'भामती' तथा 'परिमल कल्पतरु' में स्पष्ट रूप से की गयी है। अध्यास का लक्षण आचार्य शङ्कर ने 'स्मृतिरूपः परत्र पूर्व दृष्टावभासः' (अध्यासः)। इस पर भामतीकार ने कहा– अवसन्नोऽवमतो वा भासोऽवभासः' सुरेश्वराचार्य ने 'आभास' को चिदाभास, चिद्बिम्ब और कूटस्थाभास शब्द से भी अभिहित किया है।' पं० 'बलदेव उपाध्याय' ने अपने ग्रन्थ "संस्कृत वाङ्गमय का वृहद इतिहास" 'दशम खण्ड वेदान्त" में इसका विस्तृत वर्णन किया है। जहां तक आभासवाद का प्रश्न है इस सिद्धान्त के अनुसार मूलतत्त्व (ब्रह्म) एवं आभासमात्र द्वैतरूप जगत में अभिन्नत्व नहीं है। सुरेश्वराचार्य का यह मानना है कि आभासवाद के अनुरूप अविद्या के कारण मूलसत्य ब्रह्म में जिस व्यवहारिक जगत् की प्रतीति होती है वह आभासमात्र होने के कारण सत्य नहीं है। जब कि प्रतिबिम्बवाद की दृष्टि से प्रतिबिम्ब सर्वदा सत्य होता है। अज्ञान के कारण केवल असत्य दिखलाई पड़ता है। आभासवाद के अनुसार व्यवहारिक जगत् की सत्यता भी तभी तक कही जा सकती है जब तक कि अविद्या की निवृत्ति नहीं हो जाती है।

जिस प्रकार मूर्च्छित अवस्था के व्यक्ति को उस समय की ऐसी वस्तुओं की सत्यता प्रतीत होती है जो उसके सम्मुख नहीं उपस्थित होती और जब मूर्च्छा हट जाती है तब उसे मूर्च्छाकाल की वस्तुएं मिथ्या प्रतीत होने लगती है। उसी प्रकार अज्ञान के कारण व्यक्ति को जगत के समस्त क्रियाकलाप सत्य प्रतीत होते है किन्तु परमार्थ बोध होने पर जगत् के समस्त व्यवहार मिथ्या प्रतीत होते है। इस प्रकार सुरेश्वराचार्य के मत में जगत की सत्यता भी आभासमात्र है, वास्तविक नहीं। किन्तु बाद में सुरेश्वराचार्य के अनुवायियों ने उनके आभासवाद में व्यवहारिक सत्यता का

मिश्रण करके सुरेश्वराचार्य को प्रतिभासिक, व्यवहारिक एवं परमार्थिक सत्ताओं का समर्थक सिद्ध किया था। श्री सुरेश्वराचार्य के साक्षात् शिष्य होकर भी सर्वज्ञात्ममुनि प्रतिबिम्बवाद के पक्ष में है और आभासवाद को नहीं स्वीकार करते है। इस प्रकार सुरेश्वराचार्य के वार्तिक प्रस्थान में छः तत्वों को अनादि माना जाता है– जीव, ईश्वर, शुद्ध चैतन्य, जीवेश्वर भेद, अविद्या और शुद्ध चैतन्य–अविद्या सम्बन्ध।[1]

वाचस्पति मिश्र अवच्छेदवाद के द्वारा ब्रह्म और जीव के सम्बन्ध की व्याख्या करते है। ब्रह्म निरस्तोपाधि जीव है और जीव अविद्योपाधि ब्रह्म है। अवच्छेदवाद के समर्थकों ने "आकाश" के उदाहरण द्वारा इसे अधिक स्पष्ट किया है। जिस प्रकार एक ही आकाश को सांसारिक लोग घट एवं मठ के सम्बन्ध से घटाकाश एवं मठाकाश कहकर पुकारते है उसी प्रकार एक ही ब्रह्म जीव की अविद्योपाधि के कारण ससीमता एवं अविच्छिन्नता को प्राप्त होता है। अविद्या प्रत्येक जीवमठ में आश्रित रहती है। यथा घट एवं मठ रूपी उपाधियों के समाप्त हो जाने पर घटाकाश–मठाकाश आदि भेद नष्ट हो जाते है उसी प्रकार अविद्योपाधि के हट जाने पर जगत में परिलक्षित होने वाले भेद हट जाते है और मात्र ब्रह्म ही शेष रह जाता है।

अवच्छेदवादी के मत में अन्तःकरण–अविच्छिन्न चेतन ही जीवात्मा है। इस मत में जीव घटाकाश के समान तथा ब्रह्म महाकाश के समान है। अपने मत के समर्थन में अवच्छेदवादी "अंशोनाना व्ययदेशात्" (ब्रह्मसूत्र २/३/४३) यह सूत्र प्रस्तुत करता है। जीव की अविद्योपाधि के कारण अनवच्छिन्नं एवं असीम ब्रह्म अवच्छिन्नता एवं ससीमता को प्राप्त होता है। उपनिषदों में भी यत्र–तत्र जीव को ब्रह्माग्नि के स्फुलिंग के रूप में वर्णन किया गया है। इस प्रकार अवच्छेदवाद मान लेने पर ब्रह्मजीव में उपास्यउपासक भाव भी बन सकता है।

---

[1] जीव ईशो विशुद्धा चित् तथा जीवेशयोर्भिदा। अविद्या तच्चितोर्योगः षडस्यकामनादयः।। (यह श्लोक परम्परा से आचार्य सुरेश्वराकृत माना जाता है)

आचार्य सुरेश्वर के आभासवाद एवं वाचस्पति मिश्र के अवच्छेदवाद में भेद मुख्य रूप से दृष्टव्य है। अवच्छेदवादी मानते है कि सर्वव्यापी एवं असीम ब्रह्म ही जीव की अविद्या की अनन्त उपाधियों के कारण अवच्छिन्न एवं ससीम रूप को प्राप्त होता है। इस प्रकार अवच्छेदवाद के अनुसार अवच्छेद (ब्रह्म का अवच्छिन्न रूप में दर्शन) तो मानसिक धारणा मात्र होने के कारण मिथ्या है। परन्तु जो (ब्रह्म) अवच्छिन्न रूप में प्रतीत होता है वह तो सर्वथा अनवच्छिन्न एवं सत्य ही है। इसके विपरीत आभासवाद के अनुसार जगत की सत्यता का आभास किसी प्रकार भी सत्य नहीं है।

जहां तक प्रतिबिम्बवाद का प्रश्न है इसके अनुसार बिम्ब (मूलतत्त्व) एवं प्रतिबिम्ब में अभिन्नत्व है, परन्तु इसके विपरीत आभासवाद सिद्धान्त के अनुसार मूलतत्व (ब्रह्म) एवं आभासवाद द्वैतरूप जगत् में अभिन्नत्व नहीं है। किन्तु प्रतिबिम्बवाद यह मानता है कि अविद्या में परमार्थ सत्य रूप ब्रह्म का जो प्रतिबिम्ब दिखाई पड़ता है वह ब्रह्म से पृथक न होने के कारण सत्य है, क्योकि प्रतिबिम्ब सर्वथा सत्य होता है यदि प्रतिबिम्ब असत्य दिखलाई पड़ता है या प्रतीत होता है तो इसका कारण केवल अविद्या है। क्योंकि बिम्ब एवं प्रतिबिम्ब के भेद दर्शन के कारण ही दृष्टा को प्रतिबिम्ब मिथ्या प्रतीत होता है, अभेद दर्शन के द्वारा नहीं। प्रतिबिम्बवादी जीव को शुद्ध चेतन का प्रतिबिम्ब मानते है और अपने मत के समर्थन में 'आभास एवं च' (ब्रह्मसूत्र २/३/५०), यह सूत्र प्रस्तुत करतें है। इस सूत्र के अनुसार जीव ब्रह्म का आभास है, अर्थात् प्रतिबिम्ब है। ब्रह्म बिम्ब है, जीव प्रतिबिम्ब है। जिस प्रकार सूर्य और जलस्थित सूर्य के प्रतिबिम्ब में भेद नहीं होता है उसी प्रकार ब्रह्म और ब्रह्म–प्रतिबिम्ब जीव में भेद नहीं होता है। जिस प्रकार प्रतिबिम्ब भाव से सूर्य नाना हो सकता है उसी प्रकार नाना अन्तःकरणों में प्रतिबिम्बवत ब्रह्म भी नाना जीवरूप में प्रतीत होता है। आचार्य सुरेश्वर बिम्ब और प्रतिबिम्ब को भिन्न न मानकर अभिन्न मानते है। इनके अनुसार प्रतिबिम्ब बिम्ब की

छाया होने के कारण आभास है। छाया सत्य नहीं होती मिथ्या होती है। इसका कारण ब्रह्म की छाया अर्थात् आभास ब्रह्म से भिन्न है और इस प्रकार प्रतिबिम्ब भी सत्य नहीं मिथ्या हैं। प्रतिबिम्बवादी आचार्य आभासवाद को स्वीकार नहीं करते है क्योंकि इनका मानना है कि जीव की व्याख्या प्रतिबिम्बवाद से ही अधिक संगत हो सकती है। दर्पण में प्रतिबिम्बत मुख प्रतिबिम्ब वस्तुतः मुख से पृथक वस्तु नहीं है इस प्रकार बुद्धिदर्पण मे प्रतिबिम्बित चिद्प्रतिबिम्ब चिदात्मा से भिन्न नहीं है। यदि बिम्ब को प्रतिबिम्ब से अलग मान लिया जाय तो बिम्ब–प्रतिबिम्ब भाव ही नहीं बन सकता इसलिये बिम्ब को प्रतिबिम्ब से अलग नहीं मानना चाहिए। यदि मान भी लिया जाय तो "दर्पण में मुख नहीं है" ऐसा करके बाध ज्ञान का उदय होता है तो उस समय मुख के साथ दर्पण का ही सम्बन्ध ज्ञात होता है। किन्तु प्रश्न यह उठता है कि जिस प्रकार दर्पणगत मुख प्रतिबिम्ब ज्ञान–शून्य होता है उसी प्रकार जीव भी ज्ञान–शून्य होगा। प्रतिबिम्ब को चेतन नहीं मान सकते क्योंकि प्रतिबिम्ब को चेतन मानने पर मुख में चेष्टा हुये बिना ही प्रतिबिम्ब में चेष्टा होने लगी। परन्तु मुख से चेष्ठा हुए बिना प्रतिबिम्ब में चेष्ठा नहीं होगी जीव में चैतन्य गुण जीव भाव के समय में भी होता है इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि 'दृष्टान्त सर्वांश में नहीं दिया जाता है'। दर्पण में स्थित मुख–प्रतिबिम्ब को मुख से भिन्न नहीं कहा जा सकता है क्योंकि ऐसा कहने पर मुख के बिना भी प्रतिबिम्ब की स्थिति की आपत्ति होगी। कुछ अद्वैत वेदान्ती आक्षेप करते है कि प्रतिबिम्ब बोध पूर्णतया भ्रान्ति है। क्योंकि जब प्रतिबिम्ब गृहीत होता है तब नेत्र–रश्मि दर्पण से टकराकर वापस आकर पुनः बिम्ब–रूप मुख का ही ग्रहण कराती है ग्रहण मुख का ही होता है इसी कारण प्रतिबिम्ब विपरीत रुप से गृहीत होता है। प्रतिबिम्बवादी आचार्य अवच्छेदवाद पर भी आरोप करते है। इनके मत में जब चैतन्य अन्तःकरण द्वारा परिच्छिन्न होता है तब वही परिच्छिन्न चैतन्य मृत्यु के पश्चात् नहीं रह

सकता है। इस प्रकार प्रतिबिम्बवादियों का कहना है कि अवच्छेदवाद में जिस प्रकार अवच्छेद के गमना–गमन की आपत्ति होती है प्रतिबिम्बवाद में ऐसा संभव नहीं होता है। प्रतिबिम्बवाद में बिम्ब एक है इसलिये भिन्न–भिन्न अन्तःकरण रूप दर्पणों मे एक ही बिम्बभूत चैतन्य के नाना प्रतिबिम्ब बन सकते है, और नाना प्रतिबिम्ब एक बिम्ब से अभिन्न है। अतः वे प्रतिबिम्ब अन्तःकरण भेद से नाना प्रतीत होने पर भी वस्तुतः एक ही है। प्रकाशात्मायति के अनुसार ईश्वर बिम्ब स्थानीय है और जीव उसका प्रतिबिम्ब है। अविद्या में चैतन्य का आभस ही जीव है। उनके अनुसार जीवेश्वर भेद साधक उपाधि अज्ञान हे। अज्ञान नाश होने पर ही जीव ब्रह्म स्वरूप हो जाता है। ब्रह्म के प्रतिबिम्ब ग्रहण करने में अविद्या ही समर्थ है। ईश्वर बिम्ब है तथा जीव उसका प्रतिबिम्ब है। अविद्या में प्रतिबिम्ब अपने ही रूप–जीवों को देखकर सृष्टिलीला स्वतंत्रतापूर्वक करता है।

विवरणानुसारी आचार्य बिम्ब को प्रतिबिम्ब से भिन्न मानने पर यह तर्क देते है कि 'अहं ब्रह्मास्मि' एवं "तत्वमसि" आदि वेदान्त वाक्यों में प्रतिपादित जीव–ब्रह्मैक्य की सिद्धि कैसे होगी? इन तर्कवाक्यों में जीव और ब्रह्म को अभिन्न ही कहा गया है इस प्रकार जीव ब्रह्म होने के कारण नित्य शुद्ध–स्वरूप है। ऐसे में, यदि जीव को बिम्ब से भिन्न प्रतिबिम्ब मानकर मिथ्या कह देने पर श्रुतिवाक्यों की असंगति होगी। इसलिये प्रतिबिम्ब को बिम्बाभिन्न मानना चाहिए तथा उसे सत्य मानना चाहिए।

आचार्यो ने बडी सूक्ष्म दृष्टि से इन तीनों वादों की समीक्षा की है। अवच्छेदवाद की समीक्षा में उनका मानना है कि यथा अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य जीव है उसी प्रकार घटाावच्छिन्न चैतन्य को जीव क्यों नही मानते? क्योंकि जैसे आकाश घटावच्छिन्न होकर घटाकाश हो सकता है तो घटावच्छिन्न चैतन्य को जीव क्यों नहीं कहा जाता है? इसके उत्तर में यह कहा जाता है कि अन्तकरणः के स्वच्छ होने से

अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य ही जीव हो सकता है किन्तु इसमें स्वच्छत्व और अस्वच्छत्व विशेषण लगाने पर हठात् इसको प्रतिबिम्बवाद मानना पड़ेगा। श्री वाचस्पति मिश्र ने जीव को प्रतिबिम्बकल्प भी कहा है–

'तथापि तत्प्रतिबिम्ब कल्प जीव द्वारेण परस्मिन्नुच्यते।'(ब्र० सू० १/४/६)

इसीप्रकार प्रतिबिम्बवाद की समीक्षा में भी आक्षेप लगाया गया है कि नीरूप चैतन्य का प्रतिबिम्ब नहीं पड़ सकता। इसके उत्तर में कहा जाता है कि जैसे जल में नीरूप आकाश का प्रतिबिम्ब पडता है वैसे ही नीरूप चैतन्य का भी प्रतिबिम्ब पड़ सकता है। इस प्रकार बिम्ब के साथ प्रतिबिम्ब के तादात्म्य या अभेद होने से और प्रतिबिम्ब के सत्य होने से प्रतिबिम्ब रूप जीव को कभी मुक्ति ही नहीं मिल सकती है। और यदि बिम्ब–प्रतिबिम्ब में भेद माना जाय तो प्रतिबिम्ब में चैतन्य नहीं बन पाता। इसके समाधान में कहा जाता है कि बिम्ब से प्रतिबिम्ब का भेद प्रतीत होना केवल अध्यास है, प्रतिबिम्ब स्वरुपतः सत्य है। इस सिद्धान्त से प्रतिबिम्ब जीव का चैतन्य और बन्ध मोक्ष बन जाते है।

आगे आभासवाद की समीक्षा में कहा गया है कि यदि आभास मिथ्या है तब तो चिदाभास रूप जीव भी मिथ्या है। इस स्थिति में न तो जीव का बन्धन बन पायेगा और न ही मोक्ष। वाचस्पति मिश्र ने ब्रह्मसूत्र के रचनानुपत्याधिकरण में (२/२/६) की भामती में प्रतिबिम्बवाद और आभासवाद दोनों पर यह आक्षेप किया है कि इन दोनों वादों के मानने पर वेदान्त में माध्यमिक मत का प्रवेश हो जायेगा और इस प्रकार के आभासवाद स्वीकार करने पर जीव का सर्वथा नाश हो जायेगा। इसके समाधान में कहा गया है कि जिस प्रकार विम्ब भूत जीव से प्रतिबिम्बभूत अभिन्न है या इन दोनों में तादात्म्य है, उसी प्रकार चिदाभास चित् से अभिन्न नहीं है, भिन्न भी नहीं है और भिन्नाभिन्न भी नहीं है अपितु अनिर्वचनीय है। अतेव आभास के अनिर्वचनीय होने से

चिदाभास जीव न तो मिथ्या है और न तो सत्य ही है। इस प्रकार बन्ध मोक्ष व्यवहार की उपपत्ति की जाती है विद्यारण्य स्वामी ने अपने ग्रन्थ पञ्चदशी (तृ० प्र० १५) में और उनके शिष्य श्री रामकृष्ण तथा परम्परया शिष्य श्री अच्युतराम ने अपनी व्याख्या में अवच्छेदवाद, प्रतिबिम्बवाद एवं आभासवाद में अन्तर न मानकर एक ही माना है। वास्तव में जितना अन्तर भामती–प्रस्थान और विवरण प्रस्थान में है उतना अन्तर वार्तिक प्रस्थान तथा विवरण प्रस्थान में नहीं है। यहीं कारण है कि अनेक परवर्ती आचार्य वार्तिक प्रस्थान तथा विवरण प्रस्थान दोनों के अन्तर्गत रखे जा सकते है। तथापि सम्प्रदाय विद् के नाम पर सूत्र भाष्य वार्तिक विद् ही आते है और आभासवाद मुख्यतः वार्तिक प्रस्थान का सिद्धान्त है। इस कारण विवरण–प्रस्थान से वार्तिक प्रस्थान को भिन्न माना जाता है।

सप्तम्—अध्याय

उपसंहार

पूर्ववर्ती छः अध्यायों में दर्शन का परिचय, दर्शन की मुख्य विधाओं तथा वेदों, उपनिषदों ब्राह्मण आरण्यक एवं गीता आदि में अद्वैत दर्शन के मूल बीज का वर्णन करने का प्रयास किया गया है। शङ्करप्राग अद्वैतवाद में योगवासिष्ठ का भी अपना महत्त्व है। जिसमें अद्वैतवेदान्त की पूर्व रूप–रेखा मिलती है। शङ्कराचार्य प्राग षोडश वेदान्ताचार्य तथा उनके सिद्धान्तों का भी वर्णन किया गया है। इन षोडश वेदान्ताचार्यों तथा उनके सिद्धान्तों का वर्णन किया गया। इन षोडश वेदान्ताचार्यों में सप्त आर्ष वेदान्ताचार्य हैं यथा–आत्रेय, आश्मरथ्य, औडलोमि, कार्ष्णाजिनि, काशकृत्स्न, जैमिनि, वादरायण इनमें से तीन वेदान्ताचार्य भर्तृहरि, गौडपाद, मण्डनमिश्र, विशेष रूप से प्रसिद्ध हैं। ये षोडश आचार्य जीव ब्रह्म की एकता मानते हैं। और अविद्या से संसार तथा ज्ञान से मुक्ति मानते हैं। किन्तु इन सभी आचार्यो के मतों में कुछ न कुछ अवान्तर भेद विद्यमान है। इनमें सें किसी के मत में उपनिषद् वाक्यों का समन्वय नहीं घटित होता है। इसमें किसी–किसी का सिद्धान्त युक्तियुक्त नहीं प्रतीत होता, और किसी–किसी का श्रुति सम्मत और तर्क सम्मत नहीं प्रतीत होता है। भगवान शङ्कर ने दोषों का निवारण करके परमात्मा से प्राप्त अद्वैत सिद्धान्त को और परिष्कृत किया। भगवान शङ्कराचार्य ने अपनें सिद्धान्त में अविद्या, ब्रह्म का निर्गुणत्व और निराकारत्त्व तथा जीव ब्रह्म ऐक्य आदि का नूतन आविष्कार नहीं किये थे और न तो कहीं से ले आये थे। यथा– इनमें से आश्मरथ्य और औडुलोमि, भर्तृप्रपञ्च और श्री ब्रह्मदत्त जीव ब्रह्म भेदाभेद मानते थे। इनका मानना था कि संसार दशा में जीव का ब्रह्म से अभेद्य है इनमें औडुलोमि मुक्तावस्था में भेद मानते हैं। और संसारी दशा में अभेद मानते हैं किन्तु यह भेद सहिष्णुरभेद है। भगवान शङकर इस भेदाभेद का खण्डन करते हैं और कहते हैं 'यदेकेन विज्ञानेन सर्वविज्ञातं भवातीति प्रतिज्ञासिद्ध्यर्थं भेदो निराकरणीयः' ।

श्री शङ्कराचार्य युक्ति आदि तर्क से अपनें शाङ्कर भाष्य में यह स्पष्ट करते हैं कि यदि जीव और ब्रह्म में भेद पारमार्थिक है तब तो अभेद किसी प्रकार से नहीं होगा। इस प्रकार प्रबल प्रमाणों से भेदाभेद का खण्डन करके अद्वैत वादी अभेद पक्ष को प्रतिपादित करते हैं। श्री भर्तृप्रपञ्च ब्रह्मदत्त, मण्डनमिश्र अविद्या से जीव ब्रह्म भेद मानते हैं। अर्थात् जीव ब्रह्म भेद पारमार्थिक नहीं है। केवल भेद अविद्या प्रतीत होता है। इस प्रकार अद्वैतवादी तथा ज्ञान कर्म समुच्चय वादी थे। श्री भर्तृप्रपञ्च और ब्रह्मदत्त जीवन मुक्ति को नहीं मानते थे। इनके मत में देह पात के अनन्तर ही मुक्ति होती है। काशकृत्स्न, वादरि, द्रविड़, भर्तृहरि, गौड़पाद, और मण्डन मिश्र सभी आचार्य ब्रह्मा को निर्गुण और निर्विशेष मानते हैं। इस प्रकार सभी अद्वैतवादी आचार्यो के सिद्धान्त यथा अद्वैत, विवर्त जीव–ब्रह्म, एकता आदि समान रूप ही है केवल कहीं कुछ भेद है।

शङ्कराचार्य के पश्चादवर्ती अद्वैतवादी आचार्यों में यथा– सुरेश्वराचार्य, पद्मपादाचार्य, प्रकाशात्मा, सर्वज्ञात्ममुनि, वाचस्पतिमिश्र आदि ने अद्वैतवाद के विकास में काफी योगदान दिया। शङ्कराचार्यके बाद कई प्रस्थानों का जन्म हुआ यथा भामती–प्रस्थान, वार्तिक प्रस्थान, विवरण–प्रस्थान और बाध प्रस्थान का जन्म हुआ। किन्तु सभी आचार्यों के मत–मतान्तरों में भले ही थोड़ी बहुत भिन्नता रही हो किन्तु इसका मूल उद्देश्य वेदान्त का अन्य दर्शनों से अलग विकास कर सर्वोच्च स्थान पर पहुँचाना था। अचार्य शङ्कर का दर्शन सभी भारतीय दर्शनों का शिरोमणि कहा जाता है। आचार्य शङ्कर के विचार केवल श्रुति सम्मत ही नहीं अपितु तर्कों द्वारा भी पूर्ण प्रतिष्ठित है। उन्होनें अपनें तर्क बल के आधार पर ही प्रायः अन्य सभी भारतीय दार्शनिक सम्प्रदायों की कटु आलोचना भी की है, उनके विषय में कहा जाता है कि–

'तावद् गर्जन्ति शास्त्राणि जम्बुका विपिने यथा।
न गर्जन्ति महाशक्तिर्यावद् वेदान्त केशरी।।

अर्थात् ''कानन में श्रृगाल रूपी शास्त्रों की आवाज केवल तभी तक सुनाई पड़ती है जब तक वेदान्त केशरी (आचार्य शङ्कर) का सिंहनाद नहीं होता'' अर्थात् आचार्य शङ्कर के विचारों एवं तर्कों से अन्य सभी दार्शनिक तथा उनके सिद्धान्तों की दीवालें ढह जाती हैं। यही कारण है कि अनेक शताब्दियों से विद्वान इस दर्शन (वेदान्त) की ओर आकर्षित होते रहे हैं, और यह दर्शन अपने विरोधियों के आक्रमणों से अपनी रक्षा करता रहा है।

आज तक जितने हिन्दू दर्शन हुए हैं। उन सब में वेदान्त दर्शन का स्थान सर्वोपरि रहा है। इस दर्शन की महत्ता का एक कारण यह भी रहा है कि श्रुतियों पर आधारित होने के कारण यह साधारण जनों को भी सरलता से ग्राह्य था अद्वैत वेदान्त आज भी धर्म या अध्यात्म के रूप में लोगों द्वारा अनुसरणीय है। अपनी ज्ञानमीमांसा और प्रमाण मीमांसा की दृष्टि से भी अद्वैतवेदान्त सभी अन्य दर्शनों से अतिविशिष्ट है। दर्शन के रूप में शाङ्कर अद्वैत की एक बड़ी विशेषता यह है कि वह दो–तीन मौलिक मान्यताओं के आधार पर ज्ञान–मोक्ष आदि प्रत्ययों की बड़ी सुलझी हुई व्याख्या करता है। यद्यपि वेदान्त के सभी सम्प्रदाय उपनिषदों पर आधारित होने का दावा करते हैं। उनका इस प्रकार का दावा करना पूरी तरह से उचित हो या न हो इसमें कोई संदेह नहीं है कि उनकी सामग्री का काफी बड़ा अंश उपनिषदों से लिया गया है। इसीलिए उपनिषद्, भगवद्गीता और वेदान्तसूत्र को प्रस्थानत्रयी अर्थात् वेदान्त का तीन स्तम्भ माना गया है।

शङ्कर ने जिस विशेष प्रकार के एकतत्त्ववाद का प्रतिपादन किया वह बहुत प्राचीन है जो कि श्रुतियों, उपनिषदों आदि में पूर्व से ही वर्तमान था। किन्तु अद्वैत वेदान्त ने अन्त में जो रूप धारण किया उसको कहा जा सकता है कि वह स्वयं शङ्कर के विचारों की ही उपज थी। इनके सैद्धान्तिक पक्ष की प्रमुख विशेषता है कि

यह एक मात्र ब्रह्म की ही परमसत्ता को स्वीकार करते हैं। जो कि निर्गुण, निराकार, निरवयव है। शङ्कर सिद्धान्त की मुख्य विशेषता है कि इन्होंने जगत को मायाकृत प्रपञ्च मात्र माना और जीव तथा ब्रह्म को भिन्न न मानकर अभिन्न रूप में स्वीकार किया और यह भी मानते थे कि मोक्ष के समय जीव ब्रह्म में लीन हो जाता है। इनके सिद्धान्त के व्यवहारिक पक्ष पर यदि ध्यान दिया जाय तो स्पष्ट होता है कि यह व्यवहारिक पक्ष में कर्म सन्यास का प्रतिपादन करते हैं और एकमात्र ज्ञान को ही मोक्ष का साधनरूप मानते हैं। इस सिद्धान्त का सबसे प्राचीन प्रतिपादन गौडपाद की कारिका (माण्डूक्य कारिका) में मिलता हैं। जिसका प्रकट अभिप्राय तो माण्डूक्य उपनिषद् के उपदेशों को ही संक्षिप्त रूप में प्रस्तुत करना था किन्तु इसने वस्तुतः अद्वैत वेदान्त को प्रशंसनीय ढ़ंग से प्रस्तुत करके इसके लिए 'अद्वैत वेदान्त' एक बहुत बड़ा काम किया है।

उपसंहार के रूप में उन तथ्यों का उल्लेख करना अनुचित न होगा जिसके कारण यह दर्शन इतना अधिक लोकप्रिय एवं जन समर्थित रहा है।

सर्वप्रथम हम कह सकते है कि वेदान्त दर्शन में जीवन का जो सर्वोच्च आदर्श प्रस्तुत किया गया है। वह निर्विवाद रुप से सर्वोच्च आदर्श है। पूर्ण सच्चिदानन्द की अखण्ड़ और शाश्वत उपलब्धि और वह भी इसी जीवन में संभव बताना इस दर्शन की सबसे बड़ी बिशेषता है। कोई भी साधक इस लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है। सगुण ईश्वर के सानिध्य और साक्षात्कार की तुलना में ब्रह्म या परमं या सत से तादात्म्य प्राप्त करना कहीं ऊँची बात है। अपने सीमित अहं से ऊपर उठाकर सर्वव्यापी अहं प्राप्त करना जीवन की बहुत उपलब्धि मानी जायेगी ।

उसमें भी एक बड़ा आर्कषण यह है कि वह इसी जीवन में प्राप्त हो सकती है। संसार मे ऐसा कोई दर्शन नहीं है। जो इस बात में इसके समतुल्य हो, इससे आगे बढ़ने का तो प्रश्न ही नहीं उठता है ।

पुनश्च, परमसत् को जीव आत्मा बताकर इस दर्शन ने हमारे समक्ष उसका सबसे प्रबल प्रमाण प्रस्तुत किया है। दर्शन की अन्य पद्धतियों में परमसत् केवल एक मानसिक रचना या कल्पना है। इसलिये वह सदा अप्रमाणित समस्या ही बना रहता है इसके विपरीत इस दर्शन का परम सत हमारे अवयवहित अनुभव का विषय होने के कारण नितान्त असंदिग्ध है। इसमे संदेह नहीं कि इसकी अनुभूति धूमिल और आंशिक रूप से ही प्राप्त हैं। किन्तु उसका अस्तित्त्व हमसे कभी ओझल नहीं होता है। यदि कोई व्यक्ति उसके स्पष्ट साक्षात्कार के लिये उचित प्रयत्न करे तो उसे अपने ही आत्मा में उसकी अनुभूति प्राप्त हो सकती है। आचार्य शङकर का मत है कि शास्त्रों के अध्ययन से जो ज्ञान प्राप्त होता है अथवा बौद्धिक चिन्तन से जिस निर्णय पर पहुँचते हैं उसकी पुष्टि हम अपरोक्षानुभूति से ही कर सकते हैं।

आचार्य शङ्कर का दर्शन समन्वयकारी और उदार है। यह केवल जाग्रत अवस्था के अनुभवो का ही अध्ययन नहीं करता है। बल्कि स्वप्न और सुषुप्ति के साथ ऋषियों–मुनियों की रहस्यानुभूतियों का भी अवलोकन करता है। और उनके ज्ञान का उपयोग करता है। इन्द्रिय प्रत्यक्ष विचार शब्द प्रमाण और प्रातिभ ज्ञान का अपने–अपने क्षेत्र में उचित महत्व स्वीकार किया गया है।

आचार्य शङ्कर के दर्शन की सर्वप्रमुख विशेषता है जिसके कारण अन्य दर्शनो के बीच इसका सर्वोच्च स्थान है। और अनेक आक्षेपों के बावजूद यह अडिग बना रहा। कारण यह है कि इसका आधार दृढ़ और निर्दोष ज्ञान मीमांसा पर टिका है इस मीमांसा का मूल तथ्य यह है कि आत्मा चेतन स्वरूप है। कोई किसी भी प्रकार के

सत्ता मीमांसीय सिद्धान्त का सर्मथन करें, किन्तु ज्ञाता की तत्त्व मीमांसीय प्रधानता या केन्द्रीयता को कोई भी उपेक्षित नहीं कर सकता है। इस दर्शन में चेतना को सर्वोपरि असंदिग्ध सत् स्वीकार किया गया है। इसके अस्तित्व में न कभी शंका की जा सकती है। और न कभी इसे असिद्ध किया जा सकता है। तर्क के लिए यह नितान्त मानना आवश्यक है। कि हम चेतना या आत्मा को अपना निकटतम एवं परात्पर तत्त्व मानें। उसका कभी विस्मरण या अभाव न हो सकना ही इस दर्शन को अजेय शक्ति प्रदान करता है।

इसके अतिरिक्त परमसत् को निर्विकार और स्वतंत्र तथा स्वप्रकाश रूप स्वीकार करना निःसन्देह सत् को शुद्ध संभवन स्वरूप अथवा सब परिवर्तनों और विकारों को उसके अर्न्तगत मानते हुए उसे पूर्ण और निर्विकार बताने की अपेक्षा कहीं अधिक तर्क संगत है। सत् को शुद्ध संभवन या परिवर्तन रूप यदि माना जायेगा तो वह किसी अन्य वस्तु के अधीन या आश्रित हो जायेगा और संभवन की अपेक्षा वही वस्तु अधिक सत् होगी। परिवर्तनशील और अपरिवर्तनशील के इस भेद का यह भी अर्थ होगा कि पहला भ्रामक तथा दूसरा सत् है। यदि सत् को पूर्ण और संभवन स्वरूप दोनो लक्षणों से सम्पन्न मानें तो इसमे स्पष्ट आत्मव्याघात होगा। सत् का आत्माश्रित होना नितान्त आवश्यक है इसलिये वह कूटस्थ भी होगा ही शङ्कर ने अपने ब्रह्म विषयक सिद्धान्त में सत् विषयक यही सिद्धान्त स्वीकार किया है। इसी कारण से 'शङकर दर्शन' अन्य सभी दर्शनों से परम सत् के सम्बन्ध में अधिक सत्यनिष्ठ दिखाई देता है। किन्तु यदि सत्य को कूटस्थ और अपरिवर्तनीय माना जाता है तो सगंत विचार यही निर्णय प्रस्तुत करेगा कि परिवर्तन असत् होना चाहिए। किन्तु शङ्कर ने तर्क की रक्षा करते हुये उसे असत् घोषित किया है। फिर भी संभवन के आभास का प्रश्न उठता ही है यदि संभवन को सत् या असत् मान भी लिया जाय तो उसे आत्माश्रित कहा ही नहीं जा सकता है।

आभास के विषय में भी चाहे कुछ भी कहा जाय वह अपने आप में स्थिर नहीं रह सकता है। क्योंकि आधार और आश्रय इसके लिये आवश्यक है। अतः यदि शङ्कर ब्रह्म को निरपेक्ष सत् और संभवन स्वरूप समस्त संसार का अन्तिम आधार और आश्रय मानते है तो उनका विचार तर्क संगत ही है। और यह भी युक्ति युक्त है कि सत् के वास्तविक स्वरूप में संभवन का प्रवेश संभव नही है अन्यथा सत् का अस्तित्व ही समाप्त हो जायेगा और आत्म व्याघात उपस्थित होगा। ऐसी स्थिति में प्रश्न उठता है कि संभवन का सत् से क्या सम्बन्ध है। यह एक सर्वोपरि समस्या है। शङ्कर दर्शन का अध्ययन करने वाले को देर–सबेर इसका सामना करना पडता है। इस प्रश्न का उत्तर शङ्कर दर्शन में सामान्यतः सन्तोष जनक नहीं प्रतीत होता है। किन्तु निःसंकोच हम कह सकते हैं कि शङ्कर के सूक्ष्म तर्को का सत्यनिष्ठ के साथ अनुकरण करे तो शङ्कर ने जो उत्तर दिया है इसके अतिरिक्त कोई और संतोषजनक विकल्प नहीं दिखाई देता है। यही कारण है कि श्रीहर्ष, वाचस्पति मिश्र, सुरेश्वराचार्य, माधवाचार्य जैसे तार्किक विद्वानो ने इस दर्शन से अपनी सहमति प्रकट की और इसमें कुछ भी तर्कविरुद्ध नहीं पाया है। दृढ़ तर्क और साहसपूर्ण प्रतिज्ञाप्तियाँ ही इस दर्शन की सशक्त और सुदृढ़ आधार है। इसमें मुख्य बात है कि इस दर्शन में अव्यवहित तथा असंदिग्ध ज्ञान प्राप्त करने की जो प्रेरणा दी गयी है उससे इसके ऊपर लगाये गये असंगति के सभी आक्षेप धुल जाते है।

आचार्य शङ्कर का व्यवहारिक तथा परमार्थिक दृष्टिकोण का भेद स्मरणीय है। यह भेद वैज्ञानिकों द्वारा भी मान्य है क्योकि वे स्वंय ऐसा भेद मानते है। सत् के विषय मे वैज्ञानिक दृष्टिकोण तथा सामान्य लोगों के दृष्टिकोंण में अन्तर है। शङ्कर के इस द्विविध के कारण एक तो इस दर्शन पर लगाया जाने वाला नैतिकता के प्रति उपेक्षा या तटस्थता का आरोप दूर हो जाता है और दूसरे से बहुत लोग इसकी ओर आशा से

आकर्षित होते है कि इसके निर्देशित मार्ग पर चल कर सदा के लिये अपने को दुःखादिद्वेषों से युक्त कर सकेगें। यदि संसार में ऐसा कोई दर्शन है परमार्थिक दृष्टिकोण से ही सही दोषो को नितान्त असत् घोषित करता है तो यह एक मात्र वेदान्त दर्शन ही है इसमें दोषों की भी व्यवहारिक सत्ता मानी गई है। इसमें दोषों की भी व्यवहारिक सत्ता मानी गई। और इसमें धार्मिक तथा नैतिक जीवन पालन करें का बड़ा महत्त्व बताया गया है। नैतिकता का पालन किये बिना परमसत् का ज्ञान संभव नहीं है और उसके बिना दोषों से भी सर्वथा मुक्ति असंभव है। मैक्समूलर ने कहा है कि ''शङ्कर के दर्शन में समस्त प्रपञ्च का निषेध हो जाता है।'' उनके अनुसार विशेष नितांत अकिंचित है 'तत्त्वमसि इसका मूलमंत्र है जिसका समान्य अर्थ ब्रह्म के एकत्त्व में जीव और जगत का विलय है तथा उस ब्रह्म का 'नेति–नेति' से ही निर्वचन संभव है।

इस प्रकार आचार्य शङ्कर का ब्रह्मसूत्र शाङ्कर भाष्य एक क्रान्तिकारी ग्रन्थ है। इसके खण्डन में रामानुज, भास्कर, मध्व आदि ने ब्रह्मसूत्र पर अपने–अपने भाष्य लिखे हैं इससे वेदान्त सम्प्रदाय में अद्वैत वेदान्त के खण्डन की परम्परा विकसित हुई है। किन्तु इस परम्परा के उत्तर में शारीरक भाष्य के समर्थन में भी अनेक टीकाएँ लिखी गई हैं। जिनमें पद्मपाद–वाचस्पति मिश्र, सर्वज्ञात्मा, चित्सुखाचार्य, आनन्दगिरि, गोविन्दानन्द, अनुभूतिस्वरूपाचार्य आदि की टीकाओं का प्रभाव दार्शनिक जगत पर बहुत पड़ा है। निःसंदेह ब्रह्मसूत्र एवं शारीरक भाष्य एक अत्यन्त मौलिक कृति है।

अधीत ग्रन्थ–सूची

१. अपरोक्षानुभूति– शङ्कराचार्य, गीता–प्रेस, गोरखपुर संख्या, २०/६।

२. अद्वैततत्त्वशुद्धिः– श्रीमच्छज्जतकृष्ण शास्त्री, भारतीय विजयम् मुद्रणालय, १६४८।

३. अद्वैतब्रह्मसिद्धिः– सदानन्दयति एशियाटिक सोसायटी आव बंगाल कलकत्ता।

४. अद्वैतरत्नरक्षणम्– मधुसूदन सरस्वती, निर्णय सागर प्रेस बम्बई, १६३७।

५. अद्वैतसिद्धिः– मधुसूदन सरस्वती, निर्भय सागर प्रेस बम्बई, १६३७।

६. अद्वैत दीपिका– नृसिंहाश्रम, मैसूर, १६२६।

७. अनुभूति प्रकाशः– विद्यारण्य स्वामी, नि० सा० प्रेस, १६२६।

८. आदिशङ्कराचार्य जीवन और दर्शन– जयराम मिश्रा, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद।

६. अद्वैतवेदान्त की तार्किक भूमिका– डा० जगदीशसहाय श्रीवास्तव, किताब महल, इलाहाबाद,

१०. अद्वैतवेदान्त में विकासवाद– डा० सत्यदेव मिश्र, इन्दिरा प्रकाशन पटना, १६७१।

११. अद्वैतवेदान्त– शर्मा राममूर्ति, नेशनल प्रकाशन हाउस, दिल्ली, १६७२।

१२. अद्वैतवेदान्त में तत्त्व और ज्ञान– उर्मिला वर्मा, छन्दस्वती प्रतिष्ठान, वाराणसी, प्रथम–संस्करण, १६७८।

१३. आत्मतत्त्व विवेक– चौखम्बा संस्कृत सिरीज, वाराणसी, १६७०।

१४. आत्मबोध– शङ्कर अच्युत ग्रन्थमाला, काशी प्रं० सं० १६६०।

१५. आचार्य शंकरब्रह्मवाद– डा० रामस्वरूप सिंह नौलखा, किताबघर, अचार्यनगर, कानपुर।

१६. आधुनिक चिन्तन में वेदान्त– डा० महेन्द्र शेषावत, म० प्र० हिन्दी ग्रन्थ अकादमी भोपाल, प्र० सं० १६६०।

१७. इष्टसिद्धि– तत्माकृत, सं० प्र० हिन्दी ग्रन्थ अकादमी भोपाल– प्र० सं० १६३३।

१८. ईशावस्य भाष्यम्– शङ्कराचार्य, गीता–प्रेस, गोरखपुर, सं० २०१६।

१६. ऋग्वेद संहिता— चतुर्थ एवं द्वितीय—भाग सम्पा मैक्समूलर, चौखम्बा संस्कृत ग्रन्थमाला, वाराणसी १६६६।

२०. उपदेशसाहस्री— शङ्कराचार्य, संपादक—डा० चमनलाल गौतम संस्कृत संस्थान, गीताप्रेस गोरखपुर—१६४३।

२१. ऐतरेयोपनिषदभाष्यम्— गीता—प्रेस, गोरखपुर, सं० २०१६।

२२. कठोपनिषदशांकरभष्य— गीता—प्रेस, गोरखपुर, १६६०

२३. कल्पतरुः— (भामती टीका) कमलानन्द सरस्वती निर्भयसागर—प्रेस बम्बई १६३८।

२४. कल्पतरु परिमल— अप्पय दीक्षित, निर्भय सागर प्रेस, बम्बई १६३६।

२५. कठोपनिषदभाष्यम्— शङ्कराचार्य, गीता—प्रेस, गोरखपुर २०१६।

२६. खण्डनखण्डखाद्यम्— श्रीहर्ष (हिं० अनु०) हनुमानदासजी षड्शास्त्री चौखम्बा संस्कृत सिरीज।

२७. गीताभाष्यम्— गीता—प्रेस, गोरखपुर, सं०—२००।

२८. गीता रहस्य— लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक कृत, श्रीधर तिलक ५६८, नारायण प्रेस, लोकमान्य तिलक मन्दिरगायकवाड़, बड़ा पूना।

२६. छान्दोग्योपिनषत् शाङ्करभाष्यम्— गीता—प्रेस, गो० सं०२०१३/१६३७

३०. तत्त्वबोध— अच्युतग्रन्थमाला, कार्यालय, काशी—प्रकाशन १६६०।

३१. तत्त्व प्रदीपिका— चित्सुखाचार्य, नि० सा० प्रेस, बम्बई १६१६।

३२. तर्कभाषा— केशव मिश्र, चौखम्बा स० सी० बनारस १६६३।

३३. तर्क—संग्रह— आनन्दगिरि गायकवाड़, ओरियण्टल सिरीज, बड़ोदा १६१७।

३४. तत्त्वोपदेश— शङ्करार्य अच्युतग्रन्थमाला कार्या० वाराणसी १६६०।

३५. तत्त्वबोधिनी (संक्षेपशारीरककटीका)— नृसिंहाश्रम, सरस्वती भवन, वेस्ट वाराणसी, सं० १६३४।

३६. तैत्तेरीयोपनिषद् शांकर भाष्य— गीता—प्रेस सं० २०१६।

३७ तात्पर्य टीका— वाचस्पति मिश्र, कलकत्ता १६२४।

३८. दर्शन दिग्दर्शन— राहुल सांकृत्यायन, किताब महल, इलाहाबाद

३९. द्रव्य संग्रह— नैननेमिचन्द्र गुजरात, सं० २०२२।

४०. दशश्लोकी— चौखमबा संस्करण १९८५।

४१. न्यायभाष्य— गौतम (वात्स्यायनभष्य सहित) सम्पादक आचार्यदुधि राज, चौ० सं० सि० वाराणसी १९७०।

४२. न्यायमञ्जरी— जयन्त भट्ट, चौ० सं० सि० वाराणसी १९२६।

४३. नैष्कर्म्यसिद्धि— सुरेश्वराचार्य, सं० प्रो० एन० हिरियन्ना, बम्बई १९२६।

४४. न्यायरत्नदीपावली— आनन्दनुभव, गवर्नमेण्ट ओरियन्टल सिरीज, मद्रास१९६१।

४५. न्यायरत्नावली (सिद्धान्त विन्दु व्याख्या)— ब्रह्मानन्द, चौ० सं० सि० वाराणसी।

४६. न्यायकन्दली— श्रीधराचार्य, अच्युतग्रन्थमाला, वाराणसी १९६३।

४७. पञ्चदशी— विद्यारण्यमुनिःविरचित पीताम्बरजी कृत व्याख्या, सम्पादक—डा० चमन तगल गौतम, संस्कृति संस्थान ख्वाजा कुतुब बरेली, संस्करण द्वितीय, १९८१।

४८. पञ्चपादिकाविवरण— प्रकाशात्मयति, ई० ज्ञ० लाजरस कं० काशी १८९१।

४९. पञ्चीकरणवार्तिकम्— सुरेश्वराचार्य, ग्रु० प्रि० प्रे० बम्बई १९३०।

५०. प्रश्नोनिषद् शांकरभाष्य— गीता—प्रेस गोरखपुर, २०१६

५१. पाणिनोसूत्राष्टाध्यायी— पणिनि, सं० ब्रह्मदत्त जिग्यासु, रामलाल ट्रस्ट, अमृतसर १९५५।

५२. प्रश्नोपनिषद— गीता—प्रेस, गोरखपुर १९४४(चतुर्थ)।

५३. पातञ्जलमहाभाष्यम्— पतञ्जलि चौ० सं० सि० बनारस १९५४ प्रथमा।

५४. प्रकरणपाञ्चिका— शालिकनाथ, का० हि० वि० वि० दर्शन भाग ४/१९६१।

५५. प्रकटार्थ विवरण— प्रकटार्थ, वि० रा० चिन्तामणि विश्वविद्यालय, मद्रास।

५६. ब्रह्मसूत्र शाङ्करभाष्य— निर्णय सागर प्रेस, बम्बई द्वितीय सं० १९२७।

५७. ब्रह्मसूत्र शाङ्करभाष्य और रत्नप्रभा— छोटे बाबा का हिन्दी अनुबाद— अ० ग्रन्थमाला काशी।

५८. ब्रह्मसूत्र गोविन्द भाष्य— श्री बलदेव विद्याभूषण, कृष्णदास द्वारा प्रकाशित, बृन्दावन।

५९. ब्रह्मसूत्र शंकरभाष्य— सं० श्री रामानन्द सरस्वती, गोविन्दमठ वाराणसी।

६०. ब्रह्मसूत्र भास्करभाष्य— श्री भस्कराचार्य, चौखम्बा वाराणसी।
६१. बृहदारण्य कठोपनिषद् शाङ्करभाष्यम्— गीता—प्रेस, गोरखपुर।
६२. ब्रहदारण्यकवार्तिसारः— विद्यारण्य, चौखम्बा सं० सी० वारणसी।
६३. ब्रह्मसिद्धि— मण्डन मिश्र, सम्पादक, म०म०एस० कुप्पूस्वामीशास्त्री १६१६
६४.ब्रह्मसूत्रशांकरीवृत्ति— शङ्कर विलास संस्कृत पाठशाला मैसूंर १६७४
६५.ब्रह्मसूत्र शांकर भाष्यम्— अनन्तकृष्ण, सम्पादिता
६६. बौद्धदर्शन— मण्डन मिश्र, सं०— म० म० एस० कुप्पू स्वामी शास्त्री १६१६।
६७. बौद्धदर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन प्रथम व द्वितीय भाग— माता सिंह उपाध्याय, बंगाल हिन्दी मण्डल कलकत्ता
६८. बोधसागर— नरसिंहस्वामी, अच्युतग्रन्थमाला वाराणसी।
६६. बौद्ध धर्म एवं दर्शन— डा० बी० एन० सिंह, आशाप्रकाशन, सदानन्द बाजार वाराणसी, प्र० सं० १६८६।
७०. बौद्ध दर्शन मीमांसा— आचार्य बलदेव उपाध्याय, चौ० विद्याभवन वाराणसी
६२. ब्रहदारण्यकवार्तिसारः— विद्यारण्य, चौखम्बा सं० सी० वारणसी।
७१. ब्रह्मसिद्धि— १६७८।
७२. भामती— वाचस्पति मिश्र, नि० सा० प्रेस मुम्बई, १६३४।
७३. भारतीय दर्शन— उमेश मिश्र प्रथम संस्करण १६५७, प्रकाशन व्यूरो, सूचना प्रसारण विभाग उ० प्र० सरकार लखनऊ।
७४. भारतीय दर्शन (द्वितीय)—डा० राधाकृष्णन, राज्यपाल एण्ड सन्स, कश्मीरी गेट, दिल्ली संस्करण, फरवरी १६७२।
७५. भारतीय दर्शन— डा० वी० एन० सिंह तृतीय स० १६८३—८४ स्टूडेन्टस फ्रेन्डस क० वाराणसी।
७६. भारतीय दर्शन की रूपरेखा— डा० हरेन्द्र प्रताप सिन्हाहार्तप ा० १६८३.८४ मोतीलाल बनारसी लाल वारणसी।
७७. भारतीय दर्शन

की कहानी— डा० संगमलाल पाण्डेय।

७८. भारतीय दर्शनों में आत्मा— म०म०पं० गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी, किशोर विद्या निकेतन, भदैनी वाराणसी १९८०।

७९. भारतीय दर्शन का इतिहास— एस० एन० दास गुप्त राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर।

८०. भारतीय दर्शन में चेतना का स्वरूप— डा० श्रीकृष्ण सक्सेना चौ० वि० भ० चौक वारणसी।

८१. भारतीय दर्शन— सी० डी० शर्मा।

८२. भारतीय दर्शन— चटर्जी एवं दत्ता पुस्तक भण्डार, पटना।

८३. भारतीय दर्शन परिचय— प० हरिमोहन झा।

८४. भारतीय दर्शन की रूपरेखा— एम० हिरियन्ना : राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, १९७१।

८५. भगवद्‌गीता— गीता—प्रेस। अच्युतग्रन्थ माला वाराणसी २०23 विक्रम संवत

८६. भामती प्रस्थान एवं विवरण प्रस्थान का तुलनात्मक उध्ययन— डा० सत्यदेव शास्त्री : भारत—भारती, वाराणसी।

८७. भारतीय दर्शन का इतिहास— डा० एस० एन दास गुप्ता : राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी जयपुर प्र० सं० १९७३।

८८. भारतीय दर्शन में मोक्ष चिन्तन एक तुलनात्मक अध्ययन— अशोक कुमार लाड : म० प्र० हिन्दी ग्रन्थ अकादमी प्र० सं० १९७३।

८९. मुण्डकोपनिषद् शाङ्करभाष्य— गीता—प्रेस, गोरखपुर,२०१६।

९०. मीमांसादर्शनम्— जैमिनि(शाबरमुनि) आनन्दाश्रम मुद्रणालय, पूना।

९१. योगदर्शन— पतञ्जलि अनु० पं० श्रीराम शर्मा आचार्य संस्कृत संस्थान, बरेली

९२. योगवासिष्ठ — भा० १.२ निर्णय सागर प्रेस १९१८ ई०

९३. वेदान्तसिद्वान्तमुक्तावली—जीवानन्द विद्यासागर कलकत्ता १९३५ ई०

९४. वेदान्त कल्पलतिका— मधसूदन सरस्वती भाण्डारकर प्राच्यविद्या संशोधानलय : पूना १९६२।

९५. वेदान्त कौमुदी— रामद्वय : मद्रास विश्व विद्यालय १९५५।

९६. वेदान्तकल्पतरू— भागलानन्द : नि० सा० प्रे० मुम्बई१९३८।

९७. वेदान्त परिभाषा— धर्मराजाहरीन्द्र और शिवदत्त का भाष्य : अर्थ दीपिका, चौखम्बा सं० कार्यालय बनारस स० १९३७।

९८. वेदान्तसार— सदानन्दयोगीन्द्र।

९९. वेदान्त आव शंकर— आर० पी० सिंह : जयपुर १९४९।

१००. जैन—धर्म— पं० कैलाशचन्द्रशास्त्री।

१०१. श्रीशङ्करदिग्विजय— माधवाचार्य : श्री श्रवणनाथ गिरि ज्ञान मन्दिर, हरिद्वार।

१०२. संस्कृत वाङ्मय का बृहद् इतिहास— बलदेव उपाध्याय : दशमखण्ड वेदाङ्ग, उत्तरप्रदश संस्कृत संस्थान लखनऊ।

१०३. सर्वदर्शन संग्रह— प्रो० उमाशंकर शर्मा : चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी।

१०४. शङ्कराचार्य का आचार दर्शन— डा० रामानन्द तिवारी।

१०५. संक्षेप शारीरक— उदासीन संस्कृत विद्यालय वाराणसी २०११ वि०सं०।

१०६. सिद्वान्त लेश संग्रह— अच्युत ग्रन्थ माला वाराणसी २०११ वि.० सं० ।

१०७. शतश्लोकी— शङ्कराचार्य विरचित — आनन्दगिरि

१०८. षड्दर्शन समुच्चय— हरिप्रसाद सूरि विरचित, डा० महेन्द्र कुमार जैन— भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन।